
इकाई - 1- प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन

इकाई की संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 यूनानी चिन्तन का महत्व एवं प्रभाव
- 1.4 प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक चिन्तन का पाश्चात्य चिन्तन पर प्रभाव
- 1.5 सोफिस्ट
- 1.6 सुकरात
- 1.7 सिनिक्स एवं साइरेनेइक्स
- 1.8 सारांश
- 1.9 शब्दावली
- 1.10 अभ्यास प्रश्नोंके उत्तर
- 1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.12 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री
- 1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन और विशेष रूप से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन मुख्यतया प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के इर्द-गिर्द घूमती दिखायी देती है और कालांतर के राजनीतिक विकास की दिशा में अपना प्रभाव स्वभाविक रूप से परिलक्षित करती हुई प्रतीत होती है। प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में प्लेटो और अरस्तू निश्चित रूप से सबसे सशक्त हस्ताक्षर हैं, जिनके प्रभाव ने समकालीन राजनीतिक विकास तक में अपना प्रभाव छोड़ा है। किन्तु प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन की कल्पना श्रेष्ठ और समृद्ध यूनानी दर्शन के बिना नहीं की जा सकती, जिसमें निरंतर सत्य के सतत अन्वेषण की प्रक्रिया काफी गहरी रही है। इसी परम्परा में प्लेटो से पूर्व भी ऐसे अनेक दार्शनिक रहे हैं, जिसमें प्लेटो के महान गुरु सुकरात भी शामिल हैं; जिसके दार्शनिक आधार के अभाव में संभवतः न तो प्लेटो और न ही अरस्तू का महान दर्शन इस रूप में प्राप्त हो पाता और न ही संभवतः इस रूप में पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का विकास हो पाता। प्रस्तुत इकाई इस दिशा में एक यत्न है कि प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक दर्शन जिसमें मुख्य रूप से सोफिस्ट, सुकरात सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्मिलित हैं को समझने का प्रयास करते हुए, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को ज्यादा गहराई से समझा जा सके।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- यूनानी और पाश्चात्य चिंतन के विकास को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।
- प्रश्नों से पूर्व के राजनीतिक चिंतन के बारे में समझ विकसित होगी।
- प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक चिंतन के विश्लेषण के पश्चात उनका; प्लेटो और कालांतर के पाश्चात्य चिंतन पर पड़ने वाले प्रभाव को समझ सकेंगे।
- सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेनेइक्स के बारे में जान सकेंगे।

1.3 यूनानी चिंतन का महत्व एवं प्रभाव

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की अवधारणा को यूनानी चिन्तन के अभाव में समग्र रूप से समझना सम्भव नहीं होगा। यूनानी दर्शन और चिन्तन, पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का आधार है, जिसने विविध आयामों में राजनीतिक दर्शन के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्राचीन पाश्चात्य दर्शन और दार्शनिकों में; जिसमें सुकरात, प्लेटो और अरस्तू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; के दर्शन और सिद्धांतों में न्याय, राज्य, शिक्षा, विधि, समता, नागरिक अधिकार, साम्यवाद जैसे आज के आधुनिक विषय की विवेचना किसी न किसी रूप में दिखायी देती है, जो कि यूनानी चिंतन की गहराई को इंगित करता है। यूनानी चिन्तन ने समग्रता में न सिर्फ पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन को दिशा दी है, अपितु सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के बेहतर संचालन, बेहतर समाज और बेहतर व्यक्ति के साथ बेहतर राज्य के विकास के मूलभूत सिद्धान्त दिए हैं जो समकालीन परिस्थितियों में भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

1.4 प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन:-

प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन की रेखा सामान्यतः प्लेटो और अरस्तू से प्रारम्भ और समाप्त होती है। किन्तु राजनीतिक दर्शन के इतिहास की शुरुआत और पूर्व में होती है, जिसकी प्रेरणा से ही प्लेटो और अरस्तू का महान दर्शन हमें प्राप्त होता है। राज्य के तत्वों और मौलिक विषयों की पहचान और उनकी मीमांसा कर एक सिद्धांत प्रतिपादित करना, राजनीतिक चिन्तन और दर्शन का उद्देश्य रहा है और यूनानी दर्शन में यह मीमांसा सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रतिबिंबित होती है। यद्यपि कि, अन्य चिन्तन धाराओं में भी यह मीमांसा दिखती है विशेष रूप से भारतीय दर्शन में, जिसके बहुत सारे तत्वों का प्रभाव भी कहीं न कहीं यूनानी चिंतन के विभिन्न बिन्दुओं में बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है तथापि इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि, राजनीति दर्शन में स्वतंत्र बुद्धिवाद जितनी स्पष्टता के साथ यूनानी दर्शन में दिखता है उतना कहीं और नहीं है। यूनानी चिन्तन की सतत प्रक्रिया जिसकी परम्परा प्लेटो और अरस्तू से पूर्व सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेनेइक्स के रूप में दिखायी देती है कहीं न कहीं प्लेटो और अरस्तू के साथ साथ कालांतर में पाश्चात्य दर्शन को भी प्राभावित और निर्देशित करता रहा है। यूनानी राजनैतिक संरचना, व्यक्ति और समाज की धारणा, भौगोलिक स्थिति, नगर-राज्यों का विशिष्ट महत्व और स्वतंत्र बौद्धिक विमर्श यूनानी राजनीतिक चिन्तन की विशिष्ट पहचान रही है। यूनानी चिन्तन की इसी विशिष्टता ने पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के दिग्दर्शक की भूमिका निभायी है। पाश्चात्य चिन्तन धारणा की समग्रता को समझने के लिए प्लेटो के पूर्व के दर्शन को भी गहराई से समझना होगा, जिसकी सतत प्राक्रिया के रूप में आज समस्त राजनैतिक चिन्तन और विमर्श अपने आधुनिक स्वरूप में खड़ा है। प्लेटो के चिन्तन का आधार जहाँ सुकरात का दर्शन रहा है, वहीं सोफिस्ट दर्शन का बिम्ब भी उसमें प्रस्फुटित होता है। यूनान के स्वतंत्र बौद्धिकता और अस्तित्व की संकल्पना जहाँ हीगल के चिन्तन में है वहीं यूरोप ही नहीं अपितु विश्व

को प्रभावित और उद्वेलित करने वाला उदारवाद और साम्यवाद का सिद्धांत भी इन्हीं से अपनी प्रेरणा और ऊर्जा प्राप्त करता है। सिनिक्स और साइरेनेइक्स के राज्य विहीन अराजकतावादी दर्शन, जिसमें बुद्धि और ज्ञान के अस्तित्व को ही परम अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर, अन्य सभी भैतिकतावादी तत्वों को उससे अलग किया गया, ने भी बहुत सारे महान राजनीतिक सिद्धांतों की प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। इस रूप में प्लेटों के पूर्व के राजनैतिक दर्शन को, विशेष रूप से सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेइक्स को जानने की कोशिश प्रस्तुत इकाई में की गयी है।

1.5 सोफिस्ट

यूनान के क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन और दर्शन के विकास का श्रेय यद्यपि प्लेटो और अरस्तू को जाता है तथापि इसकी पृष्ठभूमि पूर्ववर्ती चिन्तन विशेष रूप से सोफिस्टों और सुकरात को जाती है। यूनान के स्वतंत्र बुद्धि चेतना ने ज्ञान के समग्र विषय को अपना क्षेत्र माना, जिसको विकसित करने में निश्चित ही सोफिस्टों का विशेष योगदान रहा जिन्होंने एथेन्स में राजनीतिक विचार तथा वाद-विवाद के युग की शुरुआत की। यद्यपि सोफिस्टों से पूर्व भी थैल्स, एनेक्समीडर, एनेक्समीनीज, पायेनाइस, ल्यूसियस आदि विचारकों ने यूनानी चिन्तन में अपनी भूमिका निभायी थी। किन्तु सोफिस्ट विचारकों की वैचारिक स्पष्टता, विज्ञान दर्शन और व्याख्यायित करने की क्षमता ने विशेष तौर पर राजनीतिक चिन्तन में एक स्पष्टता स्थापित की। फारस के युद्ध के पश्चात यूनानी परिक्षेत्र और विशेष रूप से एथेन्स में जो स्वतंत्र बुद्धिवादी चेतना और ज्ञान के नवीन अन्वेषण की चेतना जागृत हुयी उसको गतिमान करने में सोफिस्ट दार्शनिकों की विशेष भूमिका रही। स्वतंत्र वाद-विवाद, नए राजनीतिक विकल्प और संरचनाओं की पड़ताल, शासन प्रबन्ध के गुण को सीखने के साथ राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने नवीन घनाड्य वर्ग को इन प्रवृत्तियों की ओर अभिमुख करते हुए, इन प्रवृत्तियों को सीखने और आत्मसात करने की ओर अभिवृत्त किया और यही मांग सोफिस्ट शिक्षकों की मांग और उनकी भूमिका इंगित करती है जो व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव का शिक्षण करते थे। सेबाइन के अनुसार 'सोफिस्ट भ्रमणशील शिक्षक थे। ये पारिश्रमिक लेकर शिक्षा प्रदान करते थे। इनका जीवन इसी पारिश्रमिक के सहारे चलता था।'

राजनीतिक दर्शन के इतिहासकारों के अनुसार सोफिस्ट यूनान के नगर निवासी न होकर विदेशी नागरिक थे, जिनका प्रादुर्भाव यूनान में पांचवी शताब्दी ई0पू0 में दिखाई देता है। सोफिस्टों को यूनान में उस समय 'मेटिक्स' (डमजपबे) कहा जाता था, जिनका कार्य इच्छुक लोगों से धन प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करना था। सोफिस्ट दार्शनिक व्यावहारिक तकनीक और साधन पर बल देते थे, उद्देश्य के स्वरूप से उनका विशेष सरोकार नहीं था। व्यवसाय की दृष्टि से सोफिस्ट यूनान के पहले शिक्षक थे, जिनकी शिक्षा का उद्देश्य राजनीति को व्यावहारिक सहायता प्रदान करना था। सोफिस्ट चिन्तन में किसी एक धारा और दर्शन की अपेक्षा, दर्शन और चिन्तन की विविध धाराएं दिखायी देती हैं जो देश काल और परिस्थिति के अनुरूप व्यावहारिक पक्ष के सिद्धन्त के रूप में विकसित हुयी थीं।

सोफिस्ट चिन्तन में भाषा से लेकर शरीर क्रिया विज्ञान और नीति से लेकर राजनीति तक का विमर्श दिखता है। कुछ सोफिस्ट चिन्तकों ने जहाँ भाषा की उत्पत्ति को लेकर प्रश्न उठाया, जिसमें उन्होंने उसके मानव-निर्मित और प्रकृतिजन्य होने को लेकर विमर्श किया, वहीं कुछ ने सुखवाद तथा कुछ ने परम्परागत नैतिकता का समर्थन किया। सोफिस्ट, ऐतिहासिक कथाकार भी थे, वहीं सन्देहवादी और शरीर क्रियाविज्ञानी होने के साथ-साथ राजनीतिक प्रबन्धन के मर्मज्ञ थे। कुल मिलाकर सोफिस्ट चिन्तन और दर्शन समस्त विषयों के चिन्तन का एक समूहपूँज था, जिसे आवश्यकतानुसार अलग-अलग सोफिस्ट चिन्ताकों ने व्यावहारिकता के धरातल पर प्रयुक्त किया। सोफिस्ट आधे विचारक, आधे प्रचारक तथा आधे शिक्षक थे, जो नागरिकों को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करते थे और चूँकि व्यावहारिक जीवन का सरोकार मुख्यतया राजनीतिक जीवन से था, अतः सोफिस्ट चिन्तक राजनीति के प्रबन्धक तैयार करते थे, जो राज्य और समाज में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाते थे। सोफिस्टों के सामान्य लक्षणों के बार्कर से निम्नलिखित रूप में चित्रित किया है:-

- (1)- सोफिस्टों का कोई एक सम्प्रदाय नहीं था और न ही कोई निश्चित सिद्धान्त।
- (2)- सोफिस्टों की गतिविधियाँ किसी एक विषय तक सीमित न होकर अनेक विषयों तक फैली हुयी थी जिनके आचार्य और शिक्षक थे।
- (3)- सोफिस्ट ज्ञान-व्यवसायी थे, परन्तु पेशेवर होने के बावजूद उन्हें वेतन मिलना आवश्यक नहीं था। पाँचवीं शताब्दी के सोफिस्ट जैसे तो वेतन भोगी थे, पर वे अपने वेतन की राशि सीमा के निर्धारण का कार्य बहुधा अपने शिष्यों पर छोड़ दिया करते थे।
- (4)- सोफिस्ट सामान्य रूप से उग्र परिवर्तनवादी भी नहीं थे।
- (5)- सोफिस्टों ने आयोनियन दर्शन की निष्फलता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। गार्जियाज और प्रोटेगोरस इस वर्ग का नेतृत्व करते थे। इन्होंने आवश्यक रूप से मानवीय वस्तुओं के बारे में जाँच पड़ताल करने की कोशिश की। यूनान के समस्त विचारों की भाँति उनका उद्देश्य भी सही उद्देश्य निष्ठ जीवन जीने में व्यक्ति की व्यावहारिक सहायता करना था। वे व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की शिक्षा देते थे और राज्यों तथा परिवारों के सही प्रबन्ध की कला सिखाने का दावा करते थे।
- (6)- सोफिस्टों में अधिकांश विदेशी नागरिक थे, जो मेटिकों के रूप में एथेन्स में रहा करते थे। वे एथेन्स में इसलिए आए थे कि, वह उस युग में यूनान का बौद्धिक केन्द्र बन चुका था। एथेन्स की राजनीतिक परिस्थितियों तथा धनिकों के प्रभाव ने इन सोफिस्टों की शिक्षा को विकृत कर दिया था। एथेन्स के धनिक वर्ग को लोकतंत्रात्मक संस्थाओं से कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी। धनाढ्य वर्ग ज्ञान को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए और भाषण कला को लोक न्यायालयों में दोषारोपणों से अपने आपको बचाने में करते थे।

सोफिस्ट सिद्धांत और राजनीतिक विचार

सोफिस्ट का चिन्तन यूनान के राजनैतिक विकास और दर्शन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। सोफिस्टों द्वारा बहुत सारे प्रचलित मान्यताओं को चुनौती देते हुए नए धारणाओं और परम्पराओं को जन्म दिया गया जो व्यावहारिकता के कसौटी पर उपयुक्त थे और अपने ज्ञान-ग्राहक की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। सोफिस्ट दर्शन का यूनानी चिन्तन पर बहुत गहरा प्रभाव है, विशेष रूप से ज्ञान के अन्वेषण की द्वंद्वत्मक पद्धति के रूप में; जिसे बिल ड्यूरा ने बेहतर रूप में चित्रित किया है, 'उन्होंने यूरोप के लिए व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र का आविष्कार किया, उन्होंने द्वन्द्ववाद का विकास किया, विवाद अथवा बहस के बहुत से रूपों का विश्लेषण किया और लोगो को भ्रमात्मक बातों को पकड़ने और स्वयं उनका प्रयोग करने की कला सिखायी।' तथापि सोफिस्टों के द्वारा किसी व्यवस्थित ज्ञान अथवा विचार धारा का विकास नहीं किया गया। सेबाइन के अनुसार, 'उनका अपना कोई दर्शन नहीं था। उन्होंने वह शिक्षा दी जिसके लिए अमीर विद्यार्थी उन्हें पैसा देने के लिए तैयार थे।' सोफिस्ट दर्शन में सुश्रृंखलाबद्ध वैचारिकता के अभाव के बावजूद कुछ सामान्य प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं-

1- मानवतावाद

सोफिस्ट दार्शनिकों, विशेष रूप से गार्जियाज ने भौतिकतावादी दर्शन का खण्डन कर मानवतावाद को बढ़ावा दिया। सभी सोफिस्ट मूलतः मानवतावादी और व्यक्तिवादी गरिमा के हिमायती थे। भौतिकवादी दार्शनिक, प्रकृति के अध्ययन पर बहुत बल देते थे और भौतिक जगत को संचालित करने वाले नियमों की जानकारी कर उनका उपयोग भौतिक जगत के विकास में करने पर बल देते थे (आधुनिक विज्ञान और तकनीक के तरह)। गार्जियाज ने भौतिकवादी दर्शन के अध्ययन को निरर्थक बताते हुए कहा कि, अध्ययन के लिए सर्वोत्तम विषय स्वयं मनुष्य ही है। वस्तुतः सोफिस्ट दर्शन का यह स्वरूप मानवीय नैतिक तत्व के विवेचन को ही प्रासंगिक और उचित मानते हुए इसी पर बल देता है।

2- संशयवाद-

सोफिस्टों का दूसरा प्रमुख सिद्धांत सत्य की सापेक्षता का सिद्धांत है जो सत्य के प्रति संशयवादी दृष्टिकोण के आधार पर, द्वन्द्ववाद के सिद्धांत का आधार प्रस्तुत करता है। यह मत किसी भी सत्य को अंतिम सत्य नहीं मानता। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटागोरस ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में इस प्रकार प्रकट किया कि, 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड स्वयं है- उन सभी वस्तुओं का जो विद्यमान है तथा जो विद्यमान नहीं है।' सोफिस्टों के इस संशयवाद ने प्रकृति के उस बौद्धिक चरित्र को चुनौती दी जो आरम्भिक यूनानी विचारधारा के आधार था। इस धारणा ने प्रचलित मान्यता के रूप में राज्य के स्वरूप, स्रोत और उसके संस्थानिक मान्यताओं को गम्भीर चुनौती पेश की। एक राज्य में एक कानून

जहां स्वीकार्य है, वहीं दूसरे राज्य में अस्वीकार्य। ऐसे कानून सार्वभौमिक, प्राकृतिक और देवत्व स्वरूप न होकर केवल ऐसे रीति रिवाज हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बनाया है। सोफिस्टों ने नागरिकों को राज्य के कानून और परंपरागत नैतिकता में प्राकृतिक और सार्वदेशिक सत्य की अभिव्यंजना के स्थान पर उन प्रत्यादेशों को खोजना सिखाया; जिसका मूल, व्यक्तियों की स्वार्थपरता थी, जिसके लिए उन्होंने उन संस्थाओं का निर्माण कर कुछ विनियम विकसित किए। इस रूप में सोफिस्ट व्यक्तिवादी भी थे।

3- कानून और न्याय संबंधी सिद्धांत

सोफिस्ट, कानून एवं विधियों का जन्म, प्रकृतिजन्य न मानकर, राज्य की सत्ता के स्वरूपमे मानते थे, जिसके कारण व्यक्ति अपनी स्वभाविक प्रकृति से कार्य न कर अपनी बुद्धि और चेतना के विरुद्ध, कानून के अनुरूप कार्य करता है। सोफिस्टो का यह दर्शन "समर्थ को नहीं दोष गुसाई" के सिद्धांत का समर्थन करता हुआ दिखायी देता है। यद्यपि बहुतायत सोफिस्ट इसी धारणा पर अवलम्बित दर्शन का प्रतिपादन करता है तथापि अन्य सोफिस्ट चिंतक भी थे जो इससे भिन्न राय रखते थे, इस रूप में निम्न धाराओं में हम कानून और न्याय के संदर्भ में सोफिस्ट चिंतन को समझ सकते हैं।

हिपियास का मत -

इसके अनुसार कानून के दो प्रकार होते हैं - (क) ईश्वरीय अथवा देव निर्मित कानून तथा (ख) मनुष्य निर्मित कानून। ईश्वरीय कानून का स्वरूप सार्वभौमिक, सर्वकालिक और स्वभाविक है वहीं मनुष्य निर्मित कानून राज्य, देशकाल परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं।

एन्टीफोन का मत -

इसके अनुसार प्रकृति के कानून का स्वरूप यही है कि, वे मृत्यु से बचते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन यापन करें। उनका मत था कि, राज्य के कार्य, व्यक्ति के सुखमय और आनंदमय जीवन पर प्रतिबंध लगाते हैं अतः अस्वभाविक और अनावश्यक है। एन्टीफोन का यह सिद्धांत कहीं न कहीं महान उदारवादी दर्शन की प्रेरणा के रूप में दिखाई देता है।

ग्लूका का मत -

ग्लूका ने कानून को मनुष्यों द्वारा किए गए प्रारम्भिक समझौते का परिणाम मानने के कारण उसे न्यायोचित ठहराया। उनके अनुसार राज-नियमों का जन्म तब हुआ होगा जब व्यक्ति अन्याय सहन करते-करते दुखी हो गए होंगे, परिणामस्वरूप पारस्परिक समझौते के रूप में नियमों कानूनों का निर्माण किया होगा। इस रूप में ग्लूका का सिद्धांत सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत का पूर्ववर्ती प्रतीत

होता है। ग्लूका के मतानुसार, "कानून बलवानों की शक्ति से पैदा नहीं हुआ, अपितु निर्बल व्यक्तियों के साथ अन्याय का प्रतिकार करने की कामना से जन्मा है।"

कैलीक्लीज का मत -

इन्होंने सामाजिक अनुबंध का खण्डन करते हुए प्राकृतिक नियमों को उचित बताया। उन्होंने कहा कि, "कानून और प्रकृति में से प्रकृति बलवती होती है और विषमता प्रकृति का स्वभाविक नियम है।" सेबाइन के अनुसार, कैलीक्लीज का मत था कि, "प्राकृतिक न्याय सबल व्यक्ति का अधिकार है और कानूनी न्याय केवल एक ऐसी रूकावट है जिसे दुर्बल जनता अपने बचाव के लिए खड़ा करती है।" बर्नेट के अनुसार कैलीक्लीज का सिद्धांत नैतिक शून्यवाद नहीं है, अपितु वह कुछ विशेष अवस्थाओं में शक्ति को न्यायोचित मानता है।

थ्रेसीमेकस का मत -

थ्रेसीमेकस के अनुसार, बल ही कानून और न्याय का आधार है और शक्ति ही सब अवस्थाओं में न्यायोचित है। थ्रेसीमेकस अनुभववादी था, जिसने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह मत प्रकट किया कि, शक्तिशाली द्वारा अपने हितों के अनुरूप व्यवस्था का निर्माण करा दिया जाता है, यहाँ तक कि राज्य के कानून और संरचना भी इन्हीं के हितों का संवर्धन करती हैं। थ्रेसीमेकस का यह विचार कहीं न कहीं, मार्क्सवादी-साम्यवादी चिंतन के केन्द्र में दिखायी देता है।

सोफिस्टों ने अपने परवर्ती चिन्तकों को एक नया संदर्भ दिया, जिससे राजनीतिक चिन्तन एवं दर्शन के विभिन्न आयामों का विस्तार दिखायी देता है। संभवतः सोफिस्ट चिंतन के प्रभाव के फलस्वरूप ही यूनानी दर्शन भौतिकवादी से मानवतावादी तात्विक चिंतन की ओर अभिमुख हुआ। यद्यपि सुकरात, प्लेटो अथवा अरस्तू जैसे चिंतकों ने सोफिस्ट चिंतन की विभिन्न संदर्भों में आलोचना भी की है, तथापि कई रूपों में सोफिस्ट चिंतन का स्पष्ट प्रभाव उनके दर्शन पर परिलक्षित होता है, सम्भवतः इसी कारण मानवतावाद और व्यावहारिक स्वतंत्रतावाद को सर्वाधिक प्रधानता देने के कारण ही सुकरात को सर्वश्रेष्ठ सोफिस्ट कहा जाता है। सोफिस्ट, यूनान के बौद्धिक क्रांति के सबसे बड़े संवाहक के रूप में दिखायी देते हैं, जब तीन प्रमुख प्रश्नों का प्रमुखता से संकेत करते हुए उसके व्यावहारिक समाधान का प्रयास करते हैं-

1. ज्ञान एवं योग्यता के प्रसार का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. विज्ञान का समाज से क्या संबंध होना चाहिए ?
3. नवीन विशेषज्ञ वर्ग को विशेष रूप से राजनीतिक प्रबंधन में दक्ष वर्ग को, समाज में क्या स्थान मिलना चाहिए ?

सोफिस्टों ने व्यक्तिवादी अवधारणा पर बल देते हुए एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था की वकालत की, जिसमें व्यक्ति की योग्यता के आधार पर समाज प्रबंधन का दायित्व दिया जाय। किन्तु प्लेटो ने सोफिस्टों के इसी व्यक्तिवादी (या अति व्यक्तिवादी) तत्व की आलोचना करते हुए, यूनान के नगर राज्यों के, विशेष रूप से एथेंस के पतन का कारण माना। तमाम आलोचनाओं के बावजूद सोफिस्टों का यूनानी दर्शन और पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में योगदान को झुठलाया नहीं जा सकता, जिसने अभी तक अस्त-व्यस्त विचारधारा को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करते हुए एक नियोजित विषय-वस्तु के रूप में परिवर्तित किया और उसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। सोफिस्टों का सबसे बड़ा महत्त्व और योगदान, स्वतंत्र बुद्धि-चेतना को बढ़ावा देना रहा, जिसने कालांतर में यूनान और यूरोप को अपने चिंतन और दर्शन से समृद्ध किया। इस श्रृंखला में पहला नाम सुकरात का लिया जा सकता है।

1.6 सुकरात -

सोफिस्ट चिंतन की जिन अति व्यक्तिवादी कमियों ने यूनान के नगर-राज्यों और यूनान के ज्ञान- दर्शन को दीमक की तरह खोखला कर दिया था, उसको दूर करने का बीड़ा सर्वकालीन महान दार्शनिक सुकरात ने उठाया, चाहे उन्हें सत्य की खोज के लिए विषपान कर मृत्यु को ही आत्मसात क्यों न करना पड़ा। सुकरात न तो विदेशी नागरिक था, और न ही ज्ञान का व्यापारी था, बल्कि उसके ज्ञान के तत्व की खोज के पीछे, एथेंस और एथेंस की जनता के कल्याण का उद्देश्य निहित था। सुकरात एक महान दार्शनिक, विचारक, शिक्षक और सैनिक था जो दृढ़ चरित्र और नागरिक कर्तव्यों का पालन करता था, किन्तु नागरिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी वह अवैध और अप्रासंगिक आदेशों को मानने के लिए कभी सहमत नहीं हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप उसे विषपान कर अपनी जीवन की आहूति देनी पड़ी। सुकरात का जन्म 470 ई0पू0 एथेन्स में हुआ था और उसका जीवन 399 ई0पू0 तक अपने वैचारिक चेतना और सत्य का निरंतर सतत अन्वेषण करते हुए एथेन्स और यूनान को समर्पित रहा। सुकरात ने एक सिपाही के रूप में भी अपना दायित्व निर्वहन करते हुए डीलिनिया के युद्ध में प्रतिभाग किया था। सुकरात का जीवन और चिंतन एथेन्स और यूनान के बेहतर भविष्य के लिए समर्पित था, जिसमें ज्ञान और सद्गुण प्रभावी रूप में अपनी भूमिका निभाते हों। बार्कर के शब्दों में, 'नागरिक कर्तव्यों का अडिग रूप से पालन और नागरिक विधि की सीमाएं लांघने की दृढ़तापूर्वक अस्वीकृति ये दो ऐसी विशेषताएं हैं जो एक एथेनी नागरिक के रूप में सुकरात के जीवन में विशेष रूप से दिखाई देती हैं।' सुकरात ने अपने दर्शन के बारे में कुछ नहीं लिखा, अपितु वह एक शिक्षक के रूप में कुछ प्रश्न समाज और विद्यार्थियों के समक्ष रखता था जिसके प्रतिउत्तर में उसमें सत्यता की खोज, उसके असत्यता के अंशों को नकार कर की जाती थी। सुकरात के वैचारिक दर्शन के स्रोत, विशेष रूप से उनके शिष्यों प्लेटो, जेनोफन और एरिस्टोफेन द्वारा लिखित साहित्य में प्राप्त होता है। प्लेटो जैसे महान दार्शनिक के समस्त चिंतन का आधार, सुकरात द्वारा कथित कथ्य "सद्गुण

ही ज्ञान है“ पर केन्द्रित है, जिसके विवेचन में ही उसके द्वारा समस्त सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया; जिसमें राज्य से लेकर न्याय और शिक्षा से लेकर समाज के विविध विषयों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।

सुकरात सर्वकालिक महान दार्शनिक और विचारक था जिसने ज्ञान के मार्ग से समाज के सद्गुणों को पहचान कर समाज को सत्य की पहचान करने की कला सिखायी। सुकरात को “नगर के देवताओं को न मानने, युवाजन को पथभ्रष्ट करने तथा सामान्य नैतिक मान्यताओं का खण्डन करने“ के आरोप में शासक वर्ग द्वारा मृत्युदण्ड देते हुए विषयानुसृत कराया गया। सुकरात की सत्य के प्रति अदम्य निष्ठा और निर्भीकता ने उसके वैचारिक दर्शन को उस ऊँचाई पर पहुंचा दिया, जहाँ वह काल-समय से परे हो गया। उसकी विलक्षण तर्कशक्ति और भाषण की अद्भुत कला ने उसे अत्यंत लोकप्रिय बना दिया, विशेष रूप से युवा वर्ग में। सुकरात की विलक्षण प्रतिभा, जिसके द्वारा वह दूसरों को प्रभावित कर लेता था, से प्रभावित होकर उसे अल्प समय के लिए शासक वर्ग द्वारा राज्यपरिषद का सदस्य भी बनाया गया। सुकरात के दर्शन का उद्देश्य अंतिम सत्य की खोज करना था, जिसमें बहुत से राजनीतिक दर्शन के सिद्धांतों का विकास हुआ।

दो ज्ञान का सिद्धांत-सुकरात ने सोफिस्टों की सत्य के सापेक्षता के सिद्धांत का बड़े ही प्रभावी ढंग से खण्डन करते हुए, शाश्वत सत्य की परिकल्पना की। उसने इस विश्वास का प्रतिपादन किया कि, संसार में समस्त वस्तुओं, विचारों, धारणाओं तथा विश्वासों के मूल में एक शाश्वत सत्य निवास करता है, जो कि देशकाल की परिधि से परे और जिसकी मान्यता किसी व्यक्ति की इच्छा अथवा अनिच्छा, बुद्धि या विवेक पर निर्भर नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि, इस समस्त ज्ञान को हम अपने इन्द्रिय चेतना से फिर भी शाश्वत है। इन्द्रियपरक ज्ञान और वास्तविक ज्ञान भिन्न हो सकते हैं तथा मानव बुद्धि चेतना की सार्थकता इसी में है कि वह वास्तविक तथा अवास्तविक ज्ञान के बीच भेद कर सके।

निरपेक्ष शुभ- सुकरात शाश्वत सत्य की तरह निरपेक्ष शुभ की अवधारणा में भी विश्वास करता है। उसके अनुसार अंतिम शुभ और कल्याण, इन्द्रिय सुख में निहित न हो कर उस निरपेक्ष शुभ में निहित है जो शाश्वत है। इन्द्रिय भोग और सुख परमानन्द नहीं है, अपितु परमानन्द उस शाश्वत शुभ में निहित है जो इन्द्रिय सुख से परे है और निरपेक्ष है तथा मानव व्यवहार को इस निरपेक्ष शाश्वत शुभ के अनुरूप ही अपना आचरण सुनिश्चित करना चाहिए।

सदाचार ही ज्ञान- सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि, वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णतः सदाचारी बन जाता है और इसके विपरीत अज्ञान समस्त पापों का मूल है। सुकरात के लिए ज्ञान का अर्थ किसी वस्तु को बुद्धि द्वारा जानना मात्र न था, वरन उसे सम्पूर्ण हृदय से अस्तित्व का एक अंग बना लेना था। सतही ज्ञान के आडंबर के बजाय, ऐसा ज्ञान जो सद्गुणों का विकास और विस्तार करते

हुए, शाश्वत शुभ के मार्ग पर पर जीवन प्रशस्त करे, वही शाश्वत ज्ञान है और ज्ञान से ही सद्गुणों का विकास होता है। सदाचार ही ज्ञान का एक मात्र माध्यम है।

अन्तःकरण की पवित्रता- मानवजीवन में अन्तःकरण की पवित्रता ही ज्ञान और सद्मार्ग की ओर जीवन प्रशस्त करती है। अन्तःकरण की पवित्रता ही सद्गुणों की ओर अभिमुख करती है तथा अज्ञानता के अंधकार से ज्ञान के प्रकाश की तरफ ले जाती है। इस अन्तःकरण की पवित्रता और सद्ज्ञान पर अटूट निष्ठा के कारण ही सुकरात ने मृत्युदण्ड को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया।

मानववाद- सुकरात प्रोटेगोरस के इस कथन का विस्तार करता है कि, 'मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मानदण्ड है'। मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य अपने आपको जानना है, अपने अन्तःकरण को जानकर ही मनुष्य पवित्र और शुभ ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सुकरात ने व्यक्ति और समाज के समन्वय पर बल दिया है। व्यक्ति की सत्य और ज्ञान के प्रति निष्ठा ही उसे समाज में शाश्वत शुभ के मार्ग पर प्रशस्त करती है।

विधि के प्रति निष्ठा- सुकरात ने समाज और व्यक्ति को सदैव सत्य और शाश्वत ज्ञान का मार्ग दिखाया जिससे एक बेहतर व्यक्ति और समाज का निर्माण प्रशस्त हो सके। अपनी इस प्रेरणा के कारण ही सुकरात ने सदैव उन विधियों का आदरपूर्वक सम्मान और पालन किया जो राज्य और समाज के लिए हितकारी होते हुए शाश्वत शुभ की ओर ले जाते हों। सुकरात ने विधियों का सदैव सम्मान करते हुए असत्य तथा अज्ञानता के विरुद्ध सदैव संघर्ष किया। उसकी इस संघर्ष के कारण ही उसे राज्यपरिषद के सदस्य के पद से पदच्युत किया गया तथा विषपान का दण्ड दिया गया, जिसे उसने अपनी विधियों के प्रति निष्ठा के कारण सहर्ष स्वीकार किया।

सुकरात का यह दर्शन जो कालांतर में प्लेटो और अरस्तू के महान दर्शन का आधार बना, ने परोक्ष रूप से राज्य की अपरिहार्यता और पवित्र तथा शाश्वत विधि की महत्ता की ओर इंगित किया। उसने शासन सत्ता को; व्यक्तिगत लाभ और स्वार्थसिद्धि का माध्यम न मानकर, समाज को शाश्वत सत्य और ज्ञान के मार्ग पर ले जाने के सर्वोत्कृष्ट माध्यम के रूप में स्वीकार किया। सुकरात के दर्शन और जीवन का सर्वाधिक स्पष्ट और निकट प्रभाव सिनिक्स और साइरेनेइक्स के दर्शन पर दृष्टिगत होता है।

1.7 सिनिक्स एवं साइरेनेइक्स

सुकरात के जीवन और दर्शन ने यूनानी दर्शन में सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। सिनिक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एन्टीस्थेनीज और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एरिस्तिप्पस रहे जो सुकरात के दर्शन और चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित रहे।

यूनानी भाषा में 'सिनिक' शब्द का अर्थ कुत्ता है जो इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स को इसलिए दिया गया क्योंकि वो सामाजिक रूढ़ियों और नियमों की परवाह नहीं कर उसकी घोर उपेक्षा किया करते थे। इस सम्प्रदाय को मानने वाले विरोधी एवं विद्रोही प्रवृत्ति के थे, जिनके लिए समस्त संस्थाओं, नियमों और व्यवस्था से बढ़कर मानवीयता और मानव मूल्य था। साइरेनेइक्स सम्प्रदाय का प्रवर्तक एरिस्तिप्पस साइरीनी नामक जो कि वर्तमान ट्रिपोली नगर है; का रहने वाल था, जिसके फलस्वरूप इसके समर्थकों को साइरेनेइक्स कहा जाने लगा। सिनिक्स और साइरेनेइक्स दोनो ही सम्प्रदाय सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धांत को केन्द्रीय तत्व के रूप में स्वीकार करते थे। उनके लिए आत्म ज्ञान और उससे उत्पन्न चेतना ही समस्त प्रकृति को चलायमान बनाए हुए है जो निरन्तर अपनी वैचारिक और ज्ञान परिमार्जन करते हुए आगे बढ़ रही है जिसे किसी संस्था, नियम अथवा व्यवस्था के पास में बांधना समीचीन नहीं होगा। ये वैचारिक सम्प्रदाय उग्र व्यक्तिवादी थे, जिनके लिए संस्था उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितना कि व्यक्ति। इस वैचारिक सम्प्रदाय के लोग राज्यसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं की पहचान एक वैश्विक नागरिक के रूप में करते थे, उनका मानना था कि इस वैश्विक जगत में जो कुछ भी प्रकृतिजन्य है, उस पर विश्व के सभी नागरिकों का बराबर अधिकार है और इस रूप में सभी व्यक्ति एकसमान हैं। सिनिक्स और साइरेनेइक्स इसी कारण से परिवार और सम्पत्ति की धारण के भी विरोधी थे, जिसको कालांतर में प्लेटो के चिन्तन में भी, परिवार और सम्पत्ति के साम्यवाद के रूप में सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। सिनिक्स और साइरेनेइक्स इन बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानते थे और इसलिए इन संरचनाओं के उन्मूलन के पक्षधर थे। सिनिक्स और साइरेनेइक्स संभवतः राज्य द्वारा सुकरात के साथ किए गए अन्याय और अत्याचार से व्यथित और आक्रोशित थे जिसमें सुकरात के ज्ञान मार्ग की उपेक्षा ही नहीं की गयी अपितु मृत्युदण्ड द्वारा उसे दमित करने का यत्न भी किया गया। संभवतः इन्हीं कारणों से राज्य के साथ साथ, उन्होंने उन समस्त संस्थाओं का विरोध किया जिसको वे आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक के रूप में स्वीकार करते थे। उनके अनुसार सद्गुण और ज्ञान, दोनों ही आंतरिक स्थितियां हैं, जिनको प्राप्त करना ही व्यक्ति के जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। सिनिक्स सम्प्रदाय का प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स कहा करता था कि, मुझे एन्टीस्थेन्स ने शिक्षा दी है कि, "इस विशाल संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है- और वह है मेरे अपने विचारों का स्वतंत्र चिंतन।" सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन के प्रमुख चिंतन को निम्न बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है-

1. सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय ने समानता और विश्व बन्धुत्व की वकालत करते हुए विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया। मानवतावादी समानता और विश्व-बंधुत्व के विचारों ने कालांतर में इसाई धर्म और चर्च पर अत्यधिक प्रभाव डाला।
2. सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन प्रकृतिवादी दर्शन है, जो प्राकृतिक समानता के साथ-साथ प्रकृति के अनुरूप और प्रकृति के साथ जीने की वकालत करता है न कि प्रकृति के ऊपर आधिपत्य की।

यह दर्शन प्रकृति की ओर लौटने को प्रेरित करता है, जो कालांतर में रूसो के दर्शन में भी प्रतिबिम्बित है।

3. इस विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति है, इस रूप में यह विचारधारा उदारवादी चिंतन की पूर्ववर्ती विचारधारा के रूप में दिखायी देती है।

4. इस विचारधारा में राज्य, समाज, परिवार जैसी संस्थाओं के विरोध के कारण, यह अराजकतावादी भी हो जाता है जिसके केन्द्र में व्यक्ति है।

5. सिनिक विचार, विश्व-न्याय एवं विश्व-राज्य में विश्वास करता था, जिसमें राज्य की सीमाओं से परे वैश्विक नागरिक के रूप में व्यक्ति एक समान रूप से अपने प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए आत्मज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ सके।

6. साइरेनेइक्स विचारदर्शन के अनुसार व्यक्ति के उद्धार के लिए आत्मज्ञान ही एकमेव मार्ग है। आत्मज्ञान का बौद्धिक आनन्द ही परम आनन्द है, शेष समस्त कृत्रिम चीजें दुखों का कारण हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. नगर राज्यों की व्यवस्था कहां कि विशेषता है ?
2. मेटिक्स किसे कहा जाता था ?
3. किस यूनानी विचारक के अनुसार, 'बल ही कानून और न्याय का आधार' है?
4. किस विचारक ने सद्गुण को ज्ञान माना है ?
5. किस विचार सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता प्रतिपादित की ?

1.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम प्लेटो के पूर्व के दार्शनिक चिंतन को समग्र रूप में समझ पाते हैं जिसने कालांतर में समस्त पाश्चात्य दर्शन की आधारशिला रखी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात सोफिस्ट से लेकर सुकरात और सिनिक्स से लेकर साइरेनेइक्स तक के विचार सम्प्रदाय के विचारों को समझने में सहायता मिलती है जिसमें मानवतावाद से लेकर व्यक्तिवाद और विश्व-नागरिकता से लेकर समतावाद तक के विचारों की प्रेरणा समाहित है।

1.9 शब्दावली

मेटिक्स- सोफिस्टों को यूनान में उस समय 'मेटिक्स' (डमजपबे) कहा जाता था, जिनका कार्य इच्छुक लोगों से धन प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करना था।

मानवतावाद- मानवतावाद का चिंतन मनुष्य का केन्द्र में रखते हुए समस्त विचारों का प्रतिपादन करता है।

संशयवाद- जिस विचारधारा में जब किसी भी विचार को तब तक संशय की दृष्टि से देखा जाय जब तक अंतिम सत्य की परिणित तक न पहुंच जाय, इस विचारधारा को संशयवाद के रूप में जानते हैं।

आत्म ज्ञान- ज्ञान की वो पद्धति जो स्वयं की चेतना की खोज करते हुए सद्गुणों का विकास करती है, आत्म ज्ञान कहलाती है।

विश्व-नागरिक- व्यक्ति को किसी राज्य की सीमा में न बांधते हुए सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था के नागरिक के रूप में स्वीकार किया जाय।

प्रकृतिवाद- जो चिंतन कृत्रिम संस्थाओं और व्यवस्था से ज्यादा प्रकृति के अनुरूप विकास और चिंतन पर बल देता है, उसे प्रकृतिवाद के रूप में जाना जाता है।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नगर राज्य यूनान की विशेषता है।
2. सोफिस्टों को मेटिक्स कहा जाता था।
3. थ्रेसीमेकस के अनुसार बल ही कानून और न्याय का आधार है।
4. सुकरात के अनुसार सद्गुण ही ज्ञान हैं।
5. सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता ;ब्वेउवचवसपजंदपेउद्ध का विचार प्रतिपादित किया।

1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्जूम-1, जे0 पी0 सूद

1.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन पर सोफिस्ट दर्शन के प्रभाव की विवेचना किजिए?
2. सुकरात ने सोफिस्ट दर्शन के खोखलेपन को दूर कर, समृद्ध यूनानी दर्शन की आधारशिला रखी। इस कथन की विवेचना करें।
3. सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन की प्रमुख विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए, समालोचना करें।

इकाई 2 : प्लेटो (428 ई० पू० -347 ई० पू०)

इकाई की संरचना

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त
- 2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त
- 2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद:
- 2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरूप
- 2.7 शासन एक कला है
- 2.8 दें लॉज प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य
- 2.9 सारांश
- 2.10 शब्दावली
- 2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई १ में हमने यूनानी राजनीतिक चिंतन की विशेषताओं का ध्यान किया है जिसमें उसके विविध पक्षों का अध्ययन किया है जिसमें यह जानने में सहायता मिली है कि किस प्रकार से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनान से माना जाता है। सामाजिक व राजनीतिक उथल-पुथल को राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए अपरिहार्य माना जाता है। यूनानी नगर राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने निश्चित रूप से प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों को जन्म दिया। यूनान के लोगों में जिज्ञासा वृत्ति व विवेक की प्रधानता थी। इसलिए वह प्रत्येक चीज के बारे में जानने का प्रयास करते थे और तर्क-वितर्क व वाद-विवाद के माध्यम से सदैव अच्छा करने का प्रयास करते थे। उनका मानना था कि तर्क वह कसौटी है जो सत्य का अनुसंधान करने में महत्वपूर्ण सहयोग करता है। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद के बिना किया गया कोई भी कार्य या संस्था समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा इस बात की भी निश्चित नहीं होगी। यूनानी नगर राज्यों के शासन की विविधता ने उन्हें तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया। जिससे इस बात का पता लगाया जा सकता था कि कौन शासन प्रणाली सर्वोत्तम है।

इसी क्रम में हम इस इकाई २ में यूनानी राजनीतिक चिंतन के प्रारंभिक विचारकों में अति महत्वपूर्ण प्लेटो के विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमें उन्होंने अपने समय के अनुकूल जिस सामाजिक राजनीतिक ढाँचे की रूपरेखा प्रस्तुत की है उसका अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन से हमें इसके आगे के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों को भी समझने की दृष्टि भी प्राप्त होगी।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम -----

1. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।
2. प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।
3. प्लेटो के साम्यवादी सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।
4. प्लेटो के आदर्श राज्य को जान सकेंगे

2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके दर्शन की आधारशिला है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुकूल अपने कार्यों को कुशलता एवं सन्तोष भावना से करे, प्लेटो इसे न्याय की संज्ञा देते हैं। आज हम न्याय को जिस कानूनी परिप्रेक्ष्य में देखते अथवा मानते हैं, प्लेटो का मत इससे भिन्न था। आज हम लोग न्याय का अर्थ कानूनों द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकार कानूनों द्वारा नागरिकों के वाहय सम्बन्धों का निर्धारण अथवा न्यायलयों द्वारा नागरिकों के ऐसे अधिकारों की रक्षा करने से लगाते हैं। विद्वानों का मत है कि न्याय एक समन्वयकारी सिद्धान्त है जो कि स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के आदर्शों के बीच नागरिकों के हितार्थ समन्वय स्थापित करता है। किन्तु प्लेटो की न्याय की धारणा इससे अलग है प्लेटो जिसे हम नैतिकता कहते हैं, को सच्चा न्याय मानते हैं। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है विधि का सिद्धान्त नहीं।

प्लेटो राज्य के विकास का वर्णन करते हुए उसमें “आर्थिक तत्व, सैनिक तत्व तथा दार्शनिक तत्व” तीन प्रकार तत्व का वर्णन करता है, और इसी के आधार पर राज्य में तीनों वर्गों के विकास का वर्णन करता है। समाज के विकास क्रम में उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल तीन वर्गों की उत्पत्ति होती है।

ये तीन वर्ग हैं उत्पादक वर्ग सैनिक वर्ग एवं शासक वर्ग। प्लेटो कहता है कि उत्पादक वर्ग आर्थिक तत्व का सैनिक वर्ग साहस वर्ग का शासक वर्ग दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में राज्य के ये तीनों वर्ग मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित क्षुधा साहस तथा ज्ञान के सूक्ष्म तत्वों के विशद रूप हैं। प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा के तीन प्रधान तत्व क्षुधा साहस तथा विवेक मानता है। मनुष्य के विराट रूप राज्य राज्य में भी ये तीन तत्व पाये जाते हैं। राज्य में क्षुधातत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग है, जिसका एक मात्र कार्य समाज के लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्तिकरना है। राज्य में साहस तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला सैनिक वर्ग है। जिसका एक मात्र कार्य राज्य की रक्षा करना है। राज्य में विवेक अथवा दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व शासक वर्ग करता है। दार्शनिक वर्ग का कार्य राज्य का समुचित शासन करना है।

प्लेटो मनुष्य की आत्मा के तीन गुणों की विस्तृत व्याख्या करता है तथा इनका राज्य के तीन वर्गों के साथ सम्बन्ध की बात करता है। आत्मा के तीन तत्वों तथा राज्य के तीन तत्वों में अन्त सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यक्ति	राज्य (व्यक्ति का विराट रूप)
व्यक्ति की आत्मा में पाये जाने वाले तत्व	राज्य में पाये जाने वाले तीन वर्ग
1.क्षुधा (वासना)	1.उत्पादक वर्ग
2.साहस	2.सैनिक वर्ग (सहायक अभिभावक वर्ग)
3.विवेक	3.शासक वर्ग

मनुष्य की आत्मा के तीन तत्वों का निरूपण कर प्लेटो इन तत्वों का सम्बन्ध समाज में पाये जाने वाले तीन तत्वों और उनका प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों के साथ जोड़ता है। इस धारणा में प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त निहित है। प्लेटो के अनुसार न्याय के दो पक्ष होते हैं एक व्यक्तिगत न्याय तथा सामाजिक न्याय जब मनुष्य की आत्मा के तीन तत्व अपने अपने निर्धारित कर्मों को करते हैं और इस क्रम में जब क्षुधा वासना पर साहस और विवेक का नियन्त्रण हो तथा जब साहस विवेक के निर्देशन में कार्य करे व्यक्ति के लिए यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार व्यक्तिगत न्याय वह है जब व्यक्ति की वासना पर साहस विवेक का तथा साहस पर विवेक का अनुशासन हो। और सामाजिक न्याय वह है जब समाज के तीनों वर्ग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करें जब कृषक उत्पादन का कार्य करें। सैनिक देश की रक्षा करें और दार्शनिक शासक के आदेशों का पालन करें और जब दार्शनिक शासक शासन का संचालन करे, और शासक वर्ग की सर्वोच्चता अन्य वर्गों पर रहे, प्लेटो की मान्यतानुसार यही सामाजिक न्याय है।

प्रत्येक वर्ग का सम्पूर्ण दक्षता से अपने निश्चित कर्तव्य को करना तथा दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही प्लेटो की परिभाषा में सामाजिक न्याय है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में क्षुधा तथा साहस का संचालन विवेक तत्व से करना न्याय है, उसी प्रकार क्योंकि राज्य अन्ततोगत्वा मन की ही उपज है, राज्य में यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वर्ग द्वारा अपने सुनिश्चित कार्यों को कुशलतापूर्वक करना ही सामाजिक न्याय है।

न्याय का वास्तविक रूप

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर प्लेटो की न्याय की धारणा के वास्तविक स्वरूप को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य को जन्म से ही कुछ योग्यतायें प्रकृति द्वारा प्राप्त होती हैं। अतः व्यक्ति को केवल उसी योग्यता के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। समाज के प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग द्वारा अपने निश्चित कर्मों की कुशलता से करना ही न्याय है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति के अधिकारों पर नहीं कर्तव्यों पर बल दिया गया है।
2. प्लेटो के अनुसार न्याय वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है। अतः प्लेटो का न्याय सामाजिक शुभ की प्राप्ति का नैतिकता का मार्ग है।
3. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में श्रम विभाजन अहस्तक्षेप तथा कार्यों की विशेषज्ञता के तत्व निहित हैं।
4. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सामाजिक एकता पर बल देता है। एथेन्स राज्य के विभिन्न बंटे हुए वर्गों में एकता और सामाजिक समरसता स्थापित करना प्लेटो का लक्ष्य था जिसकी पूर्ति का साधन न्याय है।
5. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम विवेक की सर्वोपरिता है। इस सिद्धान्त के पीछे सुफरात से प्राप्त प्लेटो की यह मान्यता है कि ज्ञान ही सदगुण हैं दार्शनिक शासक ज्ञान की प्रतिमूर्ति हैं अतः राज्य में दार्शनिक शासक का विवेक का, शासन होना चाहिए।

न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का अध्ययन करने से उसकी कुछ दुबलापें भी प्रकट होती हैं जो इस प्रकार हैं-

1. प्लेटो की न्याय की धारणा अत्याधिक निष्क्रिय है किसी प्राकृतिक गुण की क्षमता के नाम पर व्यक्ति को जीवन पर्यन्त निश्चित स्थान पर अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाँध दिया जाता है। उस निश्चित स्थान से आगे बढ़ने अथवा उपर उठने की इस व्यवस्था में कोई गुंजाइश नहीं है।
2. व्यक्तियों की इच्छाओं के संघर्ष अथवा टकरावों का समाधान करने की न्याय सिद्धान्त में कोई व्यवस्था नहीं है।
3. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त विधि और नैतिकता के बीच की विभाजक रेखा को धूमिलकर देता है। प्लेटो के न्याय के नाम पर नैतिक कर्तव्यों को तथा कानूनी दायित्व को एक ही मान लिया है।
4. प्लेटो व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सामाजिक एकता के लक्ष्य की प्राप्ति के नाम पर अत्यधिक एकीकरण व्यवस्था की बात करता है।

पॉपर नामक विद्वान्त, प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में सर्वसत्तावादी समाज के बीज ढूँढता है। वह कहता है कि प्लेटो के समाज में विवेक के नाम पर एक वर्ग विशेष का शासन थोपा जाता है। पॉपर के अनुसार प्लेटो की न्याय की परिभाषा के पीछे आधारभूत स्तर पर एक 'एक सर्वसत्तावादी वर्ग का शासन' की मांग है। प्लेटो का समाज तीन वर्गों की असमानताओं पर टिका हुआ है जिसमें समानता का कोई स्थान नहीं है। लेकिन अन्त में बार्कर का मत है कि "प्लेटो का राजनीतिक सिद्धान्त इस नैतिक सावयव का सिद्धान्त है और उसका न्याय सिद्धान्त ऐसी नैतिकता की संहिता है। जिसके द्वारा वह समाज में जीता है।

2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

दार्शनिक द्वारा राज्य का शासन व्यापक शिक्षा के जरिए ही संभव था और यह समझ गया कि सही शिक्षा के जरिए ही संभव था और यह समझा गया कि सही शिक्षा के जरिए ही यह सफल हो सकता है। प्लेटो शिक्षा को नैतिक सुधार के जरिए मानव को बदलने का हथियार समझते थे। शिक्षा दूसरों की ओर निःस्वार्थ सेवा भावना भरकर बेहतर होती है और नए समाज का निर्माण होता है। प्लेटो ने इसे गंभीरता से लेते हुए इस पर विस्तृत विचार किया है।

शिक्षा योजना एवं पाठ्यचर्या का स्वरूप

प्लेटो की शिक्षा योजना के दो स्तर हैं 'प्रारम्भिक शिक्षा' तथा 'उच्च शिक्षा'। प्लेटो कहता है कि शिक्षा आयु के अनुरूप होनी चाहिए जैसे कि बाल्यावस्था में बालक को प्रयोगात्मक शिक्षा देनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं को परिष्कृत करके चरित्र का निर्माण करना है। यह शिक्षा सैनिक वर्ग को तैयार करने की है। प्लेटो की शिक्षा का सम्बन्ध केवल सैनिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग की शिक्षा से है। प्लेटो की शिक्षा योजना में सैनिक वर्ग में साहस जागृत करना है तथा पूर्ण संरक्षकों के लिए शिक्षा का उद्देश्य उन्हें विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करना है जिससे कि इनमें 'विवेक' का जागरण हो।

प्रारम्भिक शिक्षा

प्लेटो ने सलाह दी कि शिक्षा को राज्य द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा को 18 वर्ष की आयु तक संरक्षक वर्ग तक सीमित होना चाहिए। उसके बाद दो वर्षों की अनिवार्य सैनिक शिक्षा होनी चाहिए और इनमें

क्षमतावान को उच्चतर शिक्षा मिलनी चाहिए। जहाँ प्राथमिक शिक्षा हमें आस पास के वातावरण के प्रति संवेदी बनाती है, वहीं उच्चतर शिक्षा सच्चाई की खोज में सहायता करती है। प्राथमिक शिक्षा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुभव विकसित करती है, नैतिक और सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णय में मदद करती है और शरीर को स्वस्थ और मजबूत बनाती है।

लड़के लड़कियों को समान शिक्षा मिलनी चाहिए तथा शारीरिक अन्तर को छोड़कर प्लेटो को उनकी क्षमता में कोई अन्तर दिखायी नहीं देता। दोनों की क्षमताएं भी समान होती हैं। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन यूनान में स्त्री की गौण स्थिति की सूक्ष्म आलोचना की।

प्राथमिक शिक्षा में संगीत और व्यायाम शामिल थे ताकि व्यक्ति के नम्र और कठोर पक्षों को मिलाकर एक समन्वयपूर्ण व्यक्ति का निर्माण हो। शारीरिक शिक्षा भावनाओं और इच्छाओं को स्थिरता प्रदान करके मस्तिष्क के लिए शरीर को तैयार करती है। संगीत तर्क की छिपी शक्ति को विकसित कर भावना को नम्र बनाती थी। कविता और संगीत तथा कला सही काम करने का रुझान पैदा करते थे। इससे हर व्यक्ति बिना अतिवादी बने अपना काम करता।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग में आवश्यक गुणों के विकास के लिए साहित्य और संगीत पर पाबंदी लगाने का सुझाव दिया ताकि उनमें हानि कारक प्रभावों से बचा जा सके। प्लेटो ने जोर दिया कि बच्चों की मृत्यु से नहीं डराना चाहिए नहीं तो युद्धभूमि में वे साहस का प्रदर्शन नहीं कर पाएंगे। बच्चों को देवताओं और महान व्यक्तियों की कहानियां बतायी जानी चाहिए ताकि उनका नैतिक विकास हो सके। प्लेटो युवक के जीवन से हर तरह की बुराई और कुरूपता दूर रखना चाहते थे।

सही गुणों में प्रशिक्षण वर्ग के सम्पूर्ण सदस्य निर्मित करेगा इस प्रकार के उम्र के साथ सही व्यवहार विकसित होगा। कला में शिक्षा के बाद दो वर्ष सैनिक शिक्षा दी जाएगी अपव्यय और बर्बादी पर पाबंदी लगाकर आत्मा को मजबूत किया जाएगा। प्लेटो ने एथेनियन व्यवहार पर जोर दिया था उसके तहत सत्रह अठारह से बीस वर्ष की आयु के बीच सैनिक सेवा अनिवार्य थी प्राथमिक शिक्षा इन लोगों को मजबूत कर सहायक सेना का निर्माण करेगी।

उच्चतर शिक्षा

बीस वर्ष की आयु में सबसे अच्छे व्यक्तियों को उच्च शिक्षा दी जाएगी। इसमें गणित, रेखागणित, खगोल विद्या और संगीत शामिल होगा। गणित शुद्ध सच्चाई की खोज में शुद्ध बुद्धि का प्रयोग है। प्लेटो की दृष्टि में सच्चाई विचार में न कि विशेष वस्तुओं में बसती है। इस दार्शनिक महत्व के अलावा गणित का व्यावहारिक महत्व भी है अर्थात् सठंथा का -प्रयोग योद्धाओं को अंको का प्रयोग जानना जरूरी है ताकि सेवाओं की व्यूह रचना कर सके। खगोल शास्त्र अन्तरिक्ष पिंडों के अवलोकन तक सीमित नहीं है और संगीत कानों द्वारा विशेष स्वर ताल सुनने तक, बल्कि दोनों ही संवेदनाओं से मस्तिष्क को उपर उठाते हैं और तर्कशक्ति बढ़ाते हैं। उच्चतर शिक्षा मुक्त बौद्धिक अनुसंधान की भावना का विकास करती है।

जो बुद्धिवादी श्रेणी में नहीं आते हैं वे सैनिक बनकर शासक तबके की दूसरी शक्ति बनाते हैं। उच्चतर शिक्षा का प्रथम चरण दस वर्षों तक चलेगा और उनके लिए होगा जिनका विज्ञान की ओर झूकाव है। तीस वर्ष की आयु में एक ओर चुनाव होगा। जो क्षमता रखते हैं वे डाइलैक्टिक्स या पराभौतिक तर्क और दर्शन का अगले वर्षों तक अध्ययन करेंगे। वे अच्छाई के विचार और अस्तित्व के प्रथम सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। उन्हें शासन का

आंशिक अनुभव होगा। वे सैनिक और राजनैतिक जीवन में पैंतीस वर्ष की आयु तक सहायक पदों पर रहेंगे। यह अगले पंद्रह वर्षों तक चलेगा। दार्शनिक 50 वर्ष की आयु तक पूरी तरह तैयार हो जायेगा। वह अपने समय का अधिकांश हिस्सा राजनैतिक जिम्मेदारियों के साथ दर्शन में लगाएगा। चूंकि वह अच्छाई का विचार आत्मसात कर लेगा इसलिए समुदाय की भलाई करने के लायक हो जायेगा। चूंकि प्लेटो ने शासन को वैज्ञानिक प्रशिक्षण का नतीजा बनाना चाहा, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे ज्ञान वाले लोग ही अच्छे शासक बन सकते हैं।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का मूल्यांकन

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त एक ओर सामाजिक दायित्वों को निपुणता से पूरा करने वाली व्यक्तियों एवं वर्गों के प्रशिक्षण की योजना है दूसरी ओर व्यक्ति को उसके तत्व ज्ञान का ज्ञान करा उसे नैतिक और विद्वान बनाने की है। हम कह सकते हैं कि प्लेटो की शिक्षा प्रणाली नागरिकों के समाजीकरण की विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति को राज्य के निर्धारित उद्देश्य के अनुरूप ढाला जा सके। प्लेटो कहते हैं कि यदि व्यक्ति को अच्छी शिक्षा दी जाती है तो उसका प्रभाव राज्य की उन्नति पर भी पड़ता है और गलत शिक्षा का विपरित असर पड़ेगा और राज्य में उन्नति की बजाय अवनति होगी।

लेकिन प्लेटो की शिक्षा में गुण के साथ कुछ दोष भी हैं। सबसे बड़ा दोष यह है कि प्लेटो की शिक्षा समाज के दो वर्गों सैनिक तथा दार्शनिक शासकों के लिए है। समाज के बहुसंख्यक उत्पादक वर्गों को इसके लाभों से वंचित रखा गया है। दूसरा कला और साहित्य के मूल पर कुठाराघात किया है। क्योंकि उसके कलेवर और स्वरूप पर राज्य का नियन्त्रण थोप दिया जाता है। कला सृजनात्मक रूप तभी निखरता है जब वह राज्य के प्रतिबंधों से मुक्त हो। इस आधार पर प्लेटो को फासीवादी विचारों का प्रवर्तक भी कहा गया है। तीसरा व्यक्तित्व के विकास लिए शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ विषयों की विविधता का होना जितना आवश्यक है उतना ही व्यक्ति की रुचि की विविधता का होना भी नितान्त आवश्यक है। प्लेटो की योजना में व्यक्ति की शिक्षा के लिए स्वरुचि की विविधता के अवसर नहीं हैं।

2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद:

प्लेटो के अनुसार समाज में इस बात का जोर था क्षमतावान समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुरूप कार्य के लिए तैयार करना, पत्नियों और संपत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य था भ्रष्टाचार, दुर्घटना, पारिवारिक सम्बन्ध, आनुवांशिकता और धन सामाजिक स्थान के लिए मानदण्ड नहीं बने।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के लिए निजी संपत्ति और निजी परिवार समाप्त कर दिया क्योंकि इससे भ्रष्टाचार, पक्षपात, व्यक्तिवाद, गुटबाजी और दूसरी ऐसी भ्रष्ट आदतें पैदा होती हैं जो शासकों के बीच पाई जाती हैं राजनीति का अर्थ व्यक्तिगत बढावा नहीं बल्कि सामूहिक भलाई करना था। इस प्रकार प्लेटो ने शासन और शासकों के लिए उच्च मानदण्ड स्थापित किए।

प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के लोग बैरकों में सामान्य सैनिकों के समान रहे उनके पास सोना या चांदी न रहे और आवश्यकतानुसार वे एक छोटी सी संपत्ति ही रखें। समाज के किसी भी वर्ग के लोग मकान या भंडारधार अर्थात् अपनी निजी संपत्ति की कोई जगह नहीं होनी चाहिए। वे उत्पादक वर्ग की ओर से सिर्फ एक नियत कोटा पाएंगे जो उनकी जीविका के लिए आवश्यक होगा।

प्लेटो की योजना इस पाइथगोरसवादी मान्यता पर आधारित थी कि स्त्री और पुरुष प्राकृतिक स्वभाव और क्षमताओं में समान थे। प्लेटो स्त्रियों को विधायक और शासक बनाना चाहते थे। उनके सिद्धान्त में दो विचार प्रमुख थे परम्परागत विवाह का सुधार और स्त्री मुक्ति। इसके लिए प्लेटो ने स्थायी विवादों और निजी परिवारों के विलयन का प्रस्ताव रखा। यह सिर्फ संरक्षकों को स्त्रियों तक सीमित था।

प्लेटो विवाह को आध्यात्मिक मिलन या प्रेम या आपसी आदर पर आधारित मानने से इकार कर दिया। लेकिन प्लेटो मानते हैं कि समाज तथा मानव जाति की निरन्तरता के लिए विवाह अति आवश्यक है। इसलिए प्लेटो ने सन्तानोत्पत्ति के लिए अस्थाई यौन सम्बन्धों की वकालत की। उन्होंने स्त्रियों को बच्चों के लालन पालन की जिम्मेदारी से मुक्त का दिया। प्लेटो ने प्रस्ताव रखा कि यौन सम्बन्धों का कठोरता से नियमन किया जाए ताकि सबसे अच्छे और स्वस्थ मनुष्य राज्य के हितों में तैयार किए जा सकें।

प्लेटो के अनुसार दोनों लिंगों के सबसे अच्छे व्यक्तियों के अधिकाधिक सम्बन्ध होने चाहिए और निम्न गुण के लोगों के सम्बन्ध कम से कम होने चाहिए। इस बात की जानकारी शासकों को होनी चाहिए कि यह कैसे सम्भव हो।

प्लेटो ने विवाह के लिए आदर्श उम्र पुरुषों में 25 से 55 और स्त्रियों में 20 से 40 रखी। उन्होंने माता और पुत्र, पिता और पुत्री के बीच सम्बन्धों पर पाबन्दी लगा दी। स्थाई वैवाहिक सम्बन्धों को समाप्त करने का उद्देश्य यौन उच्च श्रृंखला को बढ़ावा देना नहीं था बल्कि समुदाय की भलाई करना था। अवैध बच्चों के सम्बन्ध में गर्भपात का सुझाव था अर्थात् ऐसे बच्चों जिनकी अनुमति राज्य नहीं दी है या जो अनुमति से अधिक उम्र के व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों से जनित हों।

राज्य द्वारा निर्मित और प्रशंसित नर्सों के द्वारा बच्चों की देखभाल की जाती है। अभिभावक और बच्चे भी आपसी सम्बन्धों के बारे में नहीं जानते। इसके पीछे जो उद्देश्य था वह कि बच्चे सभी व्यक्तियों के प्रति सम्मान का वह स्तर रखे जो अपने पिता के साथ होता है। इसी प्रकार सभी वयस्क बच्चों को उसी तरह प्यार करें मानों वे अपने बच्चे हों। प्लेटो ने जन्म को बहुत कम महत्व दिया और प्लेटो के अनुसार क्षमता आनुवांशिक नहीं होती है। क्षय विवाहों, नियंत्रित लाटरी और चुने हुए यौन सम्बन्धों के जरिए उच्च क्षमता वाले व्यक्ति तैयार किये जाते हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो के इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष है कि वे परिवार और विवाह सम्बन्धी मानवीय भावनाओं का ध्यान नहीं रखते फिर शुरुआती समाजवादियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। प्लेटो ने जोर दिया कि सम्पत्ति के प्रति निर्भर राज्य के कल्याण के लिए जरूरी था। अपनी सम्पत्ति से अधिक लगाव राज्य की एकता और नैतिकता के लिए हानिकारक था। इससे भ्रष्टाचार पैदा होगा। और राज्य विभाजित हो जाएगा प्लेटो राजनीति में आर्थिक कारकों की भूमिका को समझने वाले प्रथम थे। दूसरा दोष है प्लेटो ने सामाजिक वर्ग परिवार और सम्पत्ति की इजाजत दी, लेकिन संरक्षकों के कठोर नियंत्रण में जो किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं है।

प्लेटो का साम्यवाद सादा था जैसा कि धर्म स्थलों के जीवन में पाया जाता है। कई उन्हें आधुनिक समाजवाद के संस्थापक भी मानते हैं। साम्यवाद सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व से बढ़कर था। इसमें शोषण और दमन से मुक्त एक ऐसे समाज की कल्पना थी जो न्याय बराबरी, आजादी और जनतंत्र पर आधारित था।

2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरूप

आदर्श राज्य की कल्पना प्लेटो की अत्यन्त मौलिक धारणा है। प्लेटो के समय एथेन्स में व्यक्तिगत स्वार्थपरता का बोलबाला था, सामाजिक एकता का अभाव था और राजनीतिक लोगों का राजनीति में हस्तक्षेप था। एथेन्स की इन दुर्बलताओं ने प्लेटो को आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। प्लेटो ने तात्कालीन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

आदर्श राज्य के आधारभूत सिद्धान्त

प्लेटो का आदर्श राज्य जिन सिद्धान्तों और तत्वों पर टिका हुआ है वे मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

1. न्याय राज्य की आधारशिला:- प्लेटो के आदर्श राज्य की आधारशिला 'न्याय' है। प्लेटो कहता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग अपने नैसर्गिक गुणधर्म द्वारा निश्चित कार्य को कुशलतापूर्वक करे तथा दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्य को करे, यही न्याय है। आत्मा के तीन गुणों विवेक साहस और क्षुधा के अनुकूल समाज में दार्शनिक शासक सैनिक तथा कृषक वर्गों का अस्तित्व रहता है। समाज के ये तीनों वर्ग जब अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे तभी समाज में सामंजस्य स्थापित होगा, कार्यकुशलता बढ़ेगी और समाज ठीक प्रकार से चलेगा। इन्हीं सभी गुणों को प्लेटो ने न्याय के गुण के नाम से सम्बोधित किया है संक्षेप में, न्याय प्लेटो के आदर्श राज्य का मूल तत्व है।

2. कार्य विशिष्टीकरण के लिए शिक्षा योजना:- प्लेटो की धारणा है कि शिक्षा के सशक्त रचनात्मक साधन द्वारा व्यक्ति को समाज के आदर्शों एवं कार्यों के अनुकूल ढाला जा सकता है समाज के अन्य वर्गों के लिए तो शिक्षा महत्व है ही फिर भी दार्शनिक शासक के निर्माण में उसकी महती भूमिका है। दार्शनिक राजा का निर्माण कसा प्लेटो के दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। प्लेटो यूनानी परम्परा के अनुसार शिक्षा को नागरिक चरित्र निर्माण का प्रबल साधन मानता है प्लेटो के अनुसार शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में रहेगी। शिक्षा व्यवस्था अपने विशुद्ध रूप में अनवरत चलती रहे, इसके लिए उसने दार्शनिक शासकों को दायित्व भी सौंपा है कि वे राज्य की शिक्षा व्यवस्था को उसी प्रकार बनाये रखे जैसे उन्हें विरासत में प्राप्त हुई है। व राज्य की शिक्षा व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं आने दें। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रकार की शिक्षा प्रणाली प्लेटो के आदर्श राज्य का अविभाज्य अंग है।

3. दार्शनिक शासकों की निरंकुशता विधिका लोप:- प्लेटो के दर्शन का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्लेटो के आदर्श राज्य में विधि और जनमत की अपेक्षा की गयी है। प्लेटो के आदर्श राज्य में लिखित कानून का लोप है क्योंकि प्लेटो की यह धारणा है कि स्वयं दार्शनिक शासन कानून की जीवित प्रतिमूर्ति है। उसका ज्ञान ही सर्वोपरि है। किन्तु एक बात याद रखने योग्य है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के अंकुश से मुक्त हुए भी अत्याचारी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। वह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। न तो वह आततायी है और न प्रजा उत्पीड़क वास्तव में प्रजा का पालन कर्ता है। इस प्रकार यह थोड़े से दार्शनिक शासकों का शासन होने से ज्ञानवानों का अल्पतन्त्र है। उपरोक्त के अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं कि प्लेटो के आदर्श राज्य का अत्यावश्यक तत्व दार्शनिक राजा की अवधारणा है।

4. शासक वर्ग के लिए साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था:- जब हम प्लेटो के साम्यवादी धारणा का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि प्लेटो शासक वर्ग पूर्ण अभिभावक तथा सैनिक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था को नितान्त

आवश्यक मानते हैं प्लेटो के अनुसार शासक वर्ग के लिए न तो कोई कुटुम्ब होगा और न ही सम्पत्ति की व्यवस्था अच्छे पुरुषों का सम्बन्ध समाज की उच्च स्तर की स्त्रियों के साथ बने ऐसा राज्य का कर्तव्य है। उससे समाज अच्छे लोगों की उत्पत्ति होगी। साम्यावादी व्यवस्था भी प्लेटो में आदर्श राज्य की एक विशिष्टता है।

2.7 शासन एक कला है

प्लेटो मानता है जिस प्रकार भवन निर्माण या चित्र कला एक योग्यता वाली कला है उसी प्रकार शासन करने की भी एक रचनात्मक कला है। अतः शासन उन्हीं व्यक्तियों को करना चाहिए जो इस क्षेत्र में निपुणता रखते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्लेटो ने आदर्श राज्य में शासन का एकाधिकार शासन के कलाकार दार्शनिक राजा को सौंपा है। प्लेटो मानता है कि जिस प्रकार शिल्पी की कला की सामग्री सीमित होती है जबकि दार्शनिक कलाकार की निर्माण सामग्री असीमित है सम्पूर्ण मानव और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दार्शनिक की कला की निर्माण सामग्री है। अतः प्लेटो ने सच ही कहा है कि शासन एक कला है। अतः शासन करने का उन्हीं लोगों को अधिकार है जिन्हें इस कला का पूर्ण ज्ञान है।

2.8 द लॉज: प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य

द लॉज में प्लेटो ने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात की शायद यह सरकार कि उनको दार्शनिक आदर्श राज्य हासिल नहीं किया जा सकता क्योंकि वह शिक्षा पर अत्यधिक आधारित था और कानून की उपेक्षा करता था। अर्थात् द लॉज में उन्होंने राज्य के सम्बन्धों में कानून की स्थिति का विश्लेषण किया। कानून राज्य और प्रजा दोनों पर लागू था। प्लेटो कहता है कि नगर में 5040 परिवार होने थे और प्रत्येक परिवार के पास निश्चित भूमि का क्षेत्र होता था। सबसे लायक बच्चे को जमीन मिलती थी और अतिरिक्त बच्चों को उन परिवारों को दे दिया जाता था जिनमें सदस्यों की संख्या कम थी। नगर की जनसंख्या बढ़ने पर नए स्थान पर जाने की योजना थी। प्रत्येक व्यक्ति 35 वर्ष की आयु तक विवाह कर लेता अन्यथा उसे वार्षिक दण्ड या टैक्स देना पड़ता।

द लॉज में आर्थिक असमानता के बुरे नतीजे दूर करने की बात कही गई है। धन को निरन्तर स्थान दिया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी व्यक्ति उत्तराधिकार में जितनी सम्पत्ति पाता था उससे केवल वो चार गुणा सम्पत्ति अपने पास रख सकता था। यदि कोई व्यापार या दूसरे तरीके से अधिक सम्पत्ति अर्जित करता था। तो उसे जनकोष में जमा कर दिया जाता था। सभी नागरिक अपनी अपनी सम्पत्ति एक जन संस्था में रजिस्टर करें

प्लेटो कहता है कि श्रम विभाजन में गुलाम खेती करते थे ऐसे व्यक्ति जो नागरिक नहीं थे व्यापार और नागरिक पूरी तरह राजनैतिक कार्य में लगे रहते थे। अर्थतन्त्र और राजकीय ठाँचे में मिश्रित संविधान लागू होता था। सैनिक सेवा के लायक लोग कानून के संरक्षकों के लिए मतदान करते थे।

द लॉज में भी प्लेटो ने शिक्षा की निर्णायक स्थिति पैदा की कानून के संरक्षक स्त्रियों की एक समिति चुनते जिनका काम था समझा बुझाकर जनसंख्या नियंत्रण के लिए विवाह कानूनों का नियमन करना। बच्चे नहीं होने पर दस साल बाद तलाक दिया जा सकता था। कुछ सदस्य बच्चों की देखभाल

करते थे। बच्चों की शिक्षा तीन वर्ष की आयु से शुरू होकर 6 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षण दिया जाता था। छः वर्ष के बाद लड़के व लड़कियों को अलग कर दिया जाता था। लेकिन दोनों के शिक्षकों द्वारा राज्य की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षकों का वेतन राज्य देता था।

प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया। साहित्य और कला पर कठोर पाबंदी, स्त्रियों के लिए समान शिक्षा और सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने धर्म पर अधिक ध्यान दिया, उसे राज्य के नियंत्रण में रखा और किसी भी प्रकार की निजी धार्मिक शिक्षा पर पाबंदी लगाई एवं पूजा पाठ राज्य द्वारा अधिकृत पादरी ही कर सकते थे। वे धर्म द्वारा अव्यवस्था फैलाने, महिलाओं और धर्मान्धों पर उनका प्रभाव खत्म करने और नैतिक व्यवहार के पक्ष में धर्म का प्रयोग करने के हक में थे। उन्होंने नास्तिकों के लिए मृत्युदण्ड की सलाह दी।

अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटो ने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात अपने किस पुस्तक में की ?
2. प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया | सत्य / असत्य
3. प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में जनसंख्या कितनी हो ?
4. प्लेटों ने पुरुषों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?
5. प्लेटों ने स्त्रियों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?
6. प्लेटो के अनुसार आत्मा में कितने गुण होते हैं ?
7. प्लेटो के अनुसार आत्मा में तीन गुण के आधार पर राज्य में कितने वर्ग पाए जाते हैं ?

2.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हमें तत्कालीन यूनानी राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है और यह जानने को भी मिलता है कि किस प्रकार से उस समय वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता व्याप्त थी | जिससे प्लेटो बहुत व्यथित था | इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मेदार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है | जिसमें वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे | इस प्रकार से उसने शासक, सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की | जहाँ शासक के एक दार्शनिक राजा बनाने लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलि साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिस्मने राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह विना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा | परन्तु जब वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात कानून पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक ‘द लाज’ में दिया है |

2.10 शब्दावली

सर्वसत्तावादी:- वह सिद्धान्त जो राज्य की सारी शक्ति को एक ही जगह केन्द्रित करने, और लोगों के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने का समर्थन करता है।

राजनीतिक समाजीकरण:- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने समाज में राजनीतिक जीवन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण बनाता है और जिसके माध्यम से समाज अपने राजनीतिक मानकों और आदर्शों, मान्यताओं और विश्वासों को एक पीढ़ी तक पहुँचाता है।

विधिका शासन:- विधि का शासन ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग केवल कानून में निहित प्रक्रियाओं, सिद्धान्तों और प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही होना चाहिए व अन्य किसी अधार पर नहीं।

श्रम विभाजन:- आर्थिक जीवन के अन्तर्गत वह व्यवस्था जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उत्तरदायी बना दिए जाते हैं।

शासक वर्ग:- उन लोगों का समूह जो पूरे समाज पर अपने प्रभुत्व एवं शक्ति का प्रयोग करते हैं।

सामाजिक संविदा:- इसके अनुसार मनुष्यों ने आपस में अनुबंध या समझौता करके राज्य का निर्माण किया है ताकि वह उन्हें अराजकता और नियम हीनता की स्थिति से उबार कर समुचित संरक्षण और व्यवस्थित जीवन प्रदान कर सके।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.दँ लॉज, 2.सत्य, 3.5040, 4. 25 से 55, 5.20से 40, 6.तीन गुण, 7.तीन,

2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1.डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन)
के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठा।

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?
2. प्रजातन्त्र के विषय में प्लेटो के विचारों की विवेचना कीजिए?
3. प्लेटो के आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ?
4. प्लेटो के साम्यवाद की कल्पना की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ? प्लेटो के साम्यवाद की तुलना आधुनिक साम्यवाद से कीजिए ?
5. प्लेटो की शिक्षा योजना का वर्णन कीजिए और बताइये कि वह किस प्रकार उसके मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है ?

इकाई 3 : अरस्तू

इकाई की संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप
- 3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त
 - 3.4.1 राज्य: उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य
- 3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार
- 3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
- 3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार
- 3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान
- 3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार
- 3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार
- 3.11 अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा
- 3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार
- 3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य
- 3.14 पॉलिटी (वैज्ञानिक लोकतन्त्र)
- 3.15 सारांश
- 3.16 शब्दावली
- 3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई २ में हमने यह अध्ययन किया है कि किस प्रकार से उस समय की सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता से प्लेटो बहुत व्यथित था। इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मेदार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है। जिसमें वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे। इस प्रकार से उसने शासक, सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की। जहां शासक के एक दार्शनिक राजा बनाने लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलिए साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिसमें राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह बिना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा। परन्तु जब वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात् कानून पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक 'द लाज' में दिया है।

इस इकाई ३ में हम गुरु शिष्य की महान परम्परा की एके महत्वपूर्ण कड़ी अरस्तू के के सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे और इसमें यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से वह सर्वप्रथम तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग कर शासन व्यवस्था का अध्ययन कर, अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा की शुरुआत सामाजिक विज्ञानों में करता है। इसके साथ-साथ इस इकाई में हम राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, दासता और नागरिकता, विधि और न्याय सम्बन्धी विचारों के अध्ययन करने के साथ, क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के अध्ययन और आदर्श राज्य के सम्बन्ध में भी अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम अरस्तू के अनुसार --

1. राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप को जान सकेंगे।
2. अरस्तू के दासता और नागरिकता सम्बन्धी विचार को जान सकेंगे।
3. संविधान के सम्बन्ध में विचार को जान सकेंगे।
4. कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे।
5. विधि और न्याय सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे।
6. क्रान्ति सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
7. आदर्श राज्य के बारे जान सकेंगे।

3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप

अरस्तू के माता पिता प्रकृति की वैज्ञानिक खोज से प्रभावित थे। अरस्तू के पिता एक चिकित्सक थे उनकी कार्यशैली में वैज्ञानिक विचारों के बीच विद्यमान थे। अतः अरस्तू को पैतृक विरासत में वैज्ञानिक स्वभाव प्राप्त हुआ। ऐसे वैज्ञानिक स्वभाव की दृष्टि से उसने जीवन शास्त्र तथा राजनैतिक का विज्ञानिक पद्धति अपना कर अध्ययन किया। अरस्तू के विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि उसने राज्य की बुराईयों के कारणों को ठूँटना, उन्हें दूर करने के उपयों का सुझाव देना, तथ्यों का संग्रह एवं उनका वर्गीकरण और उनकी तुलना करना तथा उन तथ्यों के आधार पर अपने निष्कर्षों को स्थापित करना, अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक थी। अतः अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू की अध्ययन-पद्धति अनुभवमूलक थी जो उसे वंशागत प्रभाव से मिली थी।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। और संविधानों की तुलना करके उनके गुण एवं दोषों का विवेचन किया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति एक वैज्ञानिक थी।

3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

अरस्तू अपने विचारों के आधार पर यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते हैं और जब ग्राम के समुदाय बनते हैं तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य “समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।” अरस्तू के अनुसार परिवार मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की और ग्राम उसकी आर्थिक व धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन है।

3.4.1 राज्य: उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य

1. राज्य एवं नैसर्गिक मानवीय संस्था है- अरस्तू सोफिस्ट विचारकों के विपरित राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है। अरस्तू कहता है प्रकृति ने मनुष्य को विवेक एवं संवाद की शक्ति प्रदान की है। विवेक और संवाद के कारण मनुष्य, पशु-पक्षियों से भिन्न है इससे इतर वह समुदायों का निर्माण करता है। इस प्रकार कुटुम्ब प्राणियों की प्रथम नैसर्गिक संस्था है। कुटुम्ब से ग्राम और ग्रामों से राज्य बनता है। इस प्रकार राज्य की आधारभूत संस्थाएँ नैसर्गिक हैं, अतः उससे निर्भर राज्य भी एक नैसर्गिक संस्था है। राज्य की नैसर्गिकता का प्रमाण यह है कि उसकी उत्पत्ति जीवन के लिए हुई तथा सुखी जीवन के लिए इसका अस्तित्व अभी भी बना हुआ है। हम यह भी मान सकते हैं कि राज्य इसलिए भी एक नैसर्गिक संस्था है क्योंकि वह मनुष्य स्वभाव अन्तर्निहित है।

राज्य समूहों का समूह है:- अरस्तू की मान्यता है राज्य की दूसरी विशेषता है कि यह समुदायों का समुदाय है। अरस्तू कहता है कि राज्य एक विकसित संस्था है। वह कहता है कि नर-नारी से कुटुम्ब, कुटुम्ब से ग्राम तथा ग्रामों से राज्य का विकास होता है। राज्य विविध संस्थाओं से निर्मित एक संस्था है। यह परिवार और ग्राम जैसे समुदाय से मिलकर बना हुआ एक समुदाय है। अरस्तू के लिए राज्य का स्वरूप उसकी बहुलता से है। इस रूप में अपने विकसित रूप में राज्य समुदायों का एक समुदाय है।

राज्य का नैतिक उद्देश्य

अरस्तू के अनुसार राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है अतः इसका नैतिक उद्देश्य है। “यद्यपि राज्य का विकास जीवन की भौतिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है, किन्तु उसका निरन्तर अस्तित्व इसलिए बना है जिससे कि राज्य में मनुष्य के ‘श्रेष्ठ जीवन’ की आवश्यकताओं की पूर्ति होते रहे।” अरस्तू कहता है कि राज्य मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति की पूर्ति करता है, विशेषतः उसकी प्रकृति के सर्वोच्च पक्ष है। राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके पास वे सारे साधन उपलब्ध हैं जिससे कि मनुष्य का सम्पूर्ण एवं स्वतंत्र नैतिक विकास होता है। राज्य की अस्तित्व मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन के लिए होता है। इस प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि राज्य का उद्देश्य नैतिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करना है।

व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की अग्रता:- राज्य के स्वरूप के बारे में अरस्तू कहता है कि “राज्य व्यक्ति की पूर्ववर्ति संस्था है। इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखता है कि राज्य एक सम्पूर्णता है, व्यक्ति जिसका एक अंग मात्र है। इसका अस्तित्व “व्यक्ति से अग्र (पूर्व) है।” अरस्तू राज्य को सावयवी संस्था मानता है और व्यक्ति इस शरीर का एक अंग मात्र है। यदि सम्पूर्ण शरीर नहीं है तो उसके अंग हाथ अथवा पैर का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होगा। यदि हम तार्किक दृष्टि से विचार करें तो अंग सम्पूर्ण की पूर्व कल्पना करता है। पहले सम्पूर्ण की कल्पना होगी तभी अंग की कल्पना की जा सकती है। अतः राज्य व्यक्ति पूर्ववर्ती है।

राज्य आत्मनिर्भर संस्था है:- अरस्तू की मान्यता है कि “राज्य एक आत्म निर्भर संस्था है।” वह राज्य को आत्म-पर्याप्त की सर्वोच्च संस्था मानता है। अतः यह परिपूर्ण समाज है। उसका मानना है कि राज्य आर्थिक नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सभी दृष्टि से स्वतन्त्र संस्था है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। वह राज्य की क्रियाओं का भागीदार बनकर उस आत्म-निर्भरता का भागीदार बनता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं यही राज्य का वास्तविक प्रायोजन होता है। मनुष्य के जीवन को कोई भी भौतिक तथा नैतिक आवश्यकता नहीं जिसकी पूर्ति राज्य के द्वारा तथा राज्य के अन्तर्गत न की जा सके। अतः अरस्तू को राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया है कि यह कुटुम्बों और ग्रामों को समुदाय है जिसका अस्तित्व “सुखी और आत्म-निर्भर जीवन के लिए है।

3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार

इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान में दास-प्रथा का प्रचलन था। और अरस्तू ने दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। अरस्तू दास को परिवार का अभिन्न अंग मानता है। दास कौन है? इस संबंध में अरस्तू बताता है कि जो व्यक्ति प्रकृति से अपना नहीं अपितु दूसरे का है लेकिन फिर भी मनुष्य है, वह प्रकृति से दास है और हम उसे जो कि मनुष्य तो है फिर भी दूसरे के कब्जे में है, उसे हम दूसरे के कब्जे की वस्तु कहेंगे और जो वस्तु कब्जे की है उसकी परिभाषा यह है कि वह कार्य साधन है, ऐसा कार्य का साधन जो कब्जाधारी से भिन्न है।” दास कौन है? को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

1. जो व्यक्ति अपनी प्रकृति के कारण स्वयं का नहीं अपितु दूसरे का है, फिर भी मनुष्य है, वह स्वभावतः दास है।
2. दास का गुण बताते हुए वह कहता है कि वह व्यक्ति जो मनुष्य होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और जो दूसरे के कब्जे में रहता है, वह दास है।

3. तीसरा जो दूसरे के कब्जे की वस्तु है जो कार्य का साधन है, और जिसे वस्तु के कब्जाधारी से पृथक किया जा सके, वह दास है।

दास प्रथा के समर्थन में तर्क | अरस्तू ने दासता के ओचित्य में विभिन्न प्रकार के तर्क है।

1. दासता नैसर्गिक है

अरस्तू कहता है कि दासता नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्यों को इस प्रकार बनाया है कि उसमें दो वर्ग का निर्माण होता है स्वामी और दास। अरस्तू बताता है कि जा व्यक्ति शासन चलाने की योग्यता रखते हैं और आदेश देने वाले होते हैं उन्हें स्वामी कहते हैं। और जो उन आदेशों का पालन करते हैं उन्हें दास कहते हैं। अरस्तू दासता को इस नैसर्गिक नियम के आधार पर सही मानता है। क्योंकि इसमें श्रेष्ठ व्यक्ति हमेशा निकृष्ट व्यक्ति पर शासन करते हैं। दासता को नैसर्गिक बताने के लिए अरस्तू प्रकृति के सर्वव्यापी सिद्धान्त लेता है।

2- दासता स्वामी और दास दोनों के लिए उपयोगी है

अरस्तू मानता है कि दासता स्वामी और दास दोनों के लिए हितकर है। अरस्तू की मान्यता है कि स्वामी का महत्वपूर्ण कार्य राजनीति है। नगर के राजकार्यों में भाग लेकर नैतिक उत्थान में कार्य करना है और कार्य के लिए स्वामी का अवकाश चाहिए होता है। और स्वामी यह कार्य अवकाश तभी ले सकता है जबकि दास उसके घर के कार्यों के लिए श्रम करें। उसी अवकाश के समय में स्वामी नागरिक जीवन का भागीदार बनकर अपने बौद्धिक तथा नैतिक जीवन की उपलब्धि के लिए करता है। और दास भी स्वामी साहचर्य में रहकर सदगुणों को सीखता है। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, स्वामी के सदगुण की छत्रछाया में दास लाभ को प्राप्त करता है। इस प्रकार दासता स्वामी और दास दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध होती है।

3. दासता प्राकृतिक नियमानुकूल है

दासता की प्रामाणिकता की पुष्टि अरस्तू ने प्रकृति के शासन 'शामित नियम' के आधार पर भी की है। वह मानता है कि प्रकृति में हमेशा 'शासक' तथा 'शसित' पदार्थ होते हैं। उच्च का निम्न पर हमेशा शासन रहता है। इस प्रकार सामाजिक जगत में स्वामी का दास पर शासन प्रकृति नियमानुकूल है।

दास कुटुम्ब की सम्पत्ति है | अरस्तू की मान्यता है कि सम्पत्ति दो प्रकार की होती हैं-

(1) सजीव सम्पत्ति (2) निर्जीव सम्पत्ति। घर की वस्तुएं कुटुम्ब की निर्जीव सम्पत्ति है किन्तु दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति होती है। सम्पत्ति के ये दोनों ही प्रकार जीवन के लिए आवश्यक हैं। अतः दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति के रूप में पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है।

दासता के प्रकार:- अरस्तू दासता के दो प्रकार बताता है- नैसर्गिक दासता तथा कानूनी दासता। वे व्यक्ति जो प्रकृति से ही निर्बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति प्रधान है, वे नैसर्गिक दास हैं। वे व्यक्ति जो युद्ध में बन्दी बना लिये जाता है और जिन्हें दास बना लिया जाता है, यह कानूनी दासता है। इस प्रकार प्रकृति और शक्ति द्वारा दास बनाये जाते हैं। कानूनी दासता के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार हैं कि यूनानियों को विजित दास नहीं बनाया जाए। केवल बर्बर जाति के लोगों को ही कानूनी दास बनाया जाए।

3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने प्लेटो के विपरित नागरिकता को अपने राजनीतिक विश्लेषण का केन्द्र बनाया। राजनैतिक पद हासिल करना एक स्वाभाविक रूझान था। संवैधानिक सरकार के कारण लोग बिना गड़बड़ी के राजनैतिक पद हासिल कर सकते थे।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से यह तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिकों के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था। नागरिक को संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे।

अरस्तू की मान्यता थी कि बच्चे, बूढ़े और स्त्रियां नागरिक नहीं हो सकते थे क्योंकि वे क्रमशः अपरिपक्व कमजोर और तर्कबुद्धि विहीन थे। प्लेटो के सामान अरस्तू समझते थे कि नागरिकता एक विशेषाधिकार है और उत्तराधिकार में पाया जाता है। नागरिकों को छोटे और सुगठित पुलिस में रहना चाहिए। प्लेटो का पाँच हजार नागरिकों का संगठन काफी बड़ा था क्योंकि उसके लिए असीमित जगह की आवश्यकता थी। छोटे समुदाय में सभी नागरिक एक-दूसरे को जानते, विवादों का निपटारा करते और क्षमता के अनुसार उचित पदों को बटवारा कर सकते थे।

अरस्तू का अच्छा नागरिक संविधान का पालनकर्ता है, जिम्मेदारी वहन करने लायक उसके पास समय होता है, विविध दिलचस्पियाँ होती हैं और निःस्वार्थ सहयोगी जीवन के गुण होते हैं। वे नागरिक को “जनमामलों में हिस्सेदारी की मित्रता मानते हैं। यह अधिकार निश्चित वर्ग के बाहर दूसरों को नहीं मिल सकता था। वास्तव में यूनानी नागरिकता अधिकारों पर उतनी आधारित नहीं थी जितनी कि जिम्मेदारियों पर।

3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार

अरस्तू की संविधान की धारणा आधुनिक संविधानों की धारणाओं से अधिक व्यापक है। अरस्तू ‘संविधान’ को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है। संविधान को परिभाषित करते हुए अरस्तू लिखता है कि “संविधान सामान्यतः राज्य में पदों के संगठन की एक व्यवस्था है, विशेषतः ऐसे पद की सभी मुद्रों में सर्वोच्च हैं।”

संविधान का वर्गीकरण:- अरस्तू ने संविधान के दो वर्गीकरण को मान्यता दी है। (1) शासकों की संख्या जिनके हाथों में शासन की सत्ता रहती है, (2) शासन का उद्देश्य क्या है? पहले आधार पर संविधान का वर्गीकरण करते हुए अरस्तू बताता है कि शासन की सत्ता एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्ति के शासन को राजतंत्र ;डवदंतमीलद्ध थोड़े व्यक्तियों के शासन को ‘अल्पतन्त्र’ ;।तपेजवबंतंबलद्ध तथा अधिक लोगों के शासन को ‘पालिटी’ चंसपजल कहता है। संविधान के इन तीनों प्रकारों को आधार ‘शासकों की संस्था’ है।

किन्तु अरस्तू इस आधार को आकास्मिक मानता है। वर्गीकरण का वास्तविक आधार शासकों को उद्देश्य क्या है? को मानता है। शासन यदि भले ही एक व्यक्ति थोड़े से व्यक्ति अथवा अधिक व्यक्तियों का हो, सार्वजनिक हित से प्रेरित होकर कार्यशील है, अरस्तू उसे ‘संविधान’ मानता है। निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया शासन कभी ठीक नहीं हो सकता। अरस्तू ऐसे संविधान को विकृत संविधान की संज्ञा देता है। तदुसार सामान्य हित से प्रेरित एक

व्यक्ति के शासन को अरस्तू 'राजतन्त्र' थोड़े से व्यक्तियों के शासन को 'अल्पतन्त्र' तथा अधिक लोगों के शासन को पॉलिटी अर्थात 'संयत लोकतन्त्र' बताता है। दूसरी कोटी 'विकृत संविधानों की है।' जब शासक 'निजी हित' से प्रेरित होकर शासन करते हैं तब तक एक व्यक्ति विकृत शासन निरंकुशतन्त्र, थोड़े से व्यक्तियों का विकृत शासन 'धनिकतन्त्र' और अधिक लोगों का अधिक निर्धन लोगों के हितार्थ विकृत शासन लोकतन्त्र कहलाता है। संख्या के आधार पर तथा उद्देश्य के आधार पर किये गये संविधानों के वर्गीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

1- शासकों की संख्या	2- उद्देश्य के अनुसार	
	'सार्वजनिक हित के लिए सही' शासन	निजी स्वार्थ के लिए विकृत शासन
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र	निरंकुशतन्त्र
थोड़े व्यक्तियों का शासन	कुलीतन्त्र	धनिकतन्त्र
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन (भीड़तन्त्र)	पॉलिटी	लोकतन्त्र

शुद्ध शासन के तीन प्रकार

उपयुक्त शारणी से स्पष्ट होता है कि "सार्वजनिक हित" में किये जाने वाला शासन 'सही' अथवा शुद्ध है। यह शासन जब एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है उसे अरस्तू "राजतन्त्र" कहता है। थोड़े व्यक्तियों द्वारा किया गया 'शुद्ध' शासन अल्पतन्त्र है तथा अधिक संख्यकों द्वारा सार्वजनिक हितार्थ किया गया शासन पॉलिटी है। इस आधार पर शुद्ध संविधान के ये ती प्रकार हैं- राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तथा पॉलिटी।

विकृत शासन के तीन प्रकार:- उपयुक्त तीनों प्रकार के शासन निजी स्वार्थों की पूर्ति के समय-समय पर विकृत रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार राजतन्त्र का विकृत रूप निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र का विकृत रूप धनिकतन्त्र तथा संयत लोकतन्त्र (पॉलिटी) का विकृत रूप भीड़ का अर्थात लोकतन्त्र हो जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कह जा सकता है कि अरस्तू ने कुल 6 प्रकार के शासनों का वर्णन किया है जिनमें अपने उद्देश्य के अनुसार तीन शुद्ध तथा तीन विकृत प्रकार हैं।

3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान

अरस्तू संविधानों को 6 प्रकार में वर्गीकृत करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ संविधान खोजता है। मनुष्य के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए अधिकांश राज्यों के लिए व्यावहारिक संविधान की खोज करना अरस्तू के चिंतन का आधार है। अरस्तू के अनुसार "राजनीतिक समाज का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वह है जिसमें सत्ता का निवास मध्यवर्ग में हो। "अरस्तू की मान्यता है कि श्रेष्ठता मध्यमान में पायी जाती है लेकिन इसके साथ शर्त है कि समाज में मध्यवर्ग काफी बड़ा है। अतः न तो धनी लोगों का शासन ही उचित है और न ही अत्यधिक निर्धन वर्ग के लोगों का। श्रेयस्कर राज्य इन दोनों के मध्य का है जिसे अरस्तू पॉलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। पॉलिटी का शासन मध्यवर्ग पर आधारित है। उसके विचारानुसार 'पॉलिटी' का शासन संयत तथा मध्यममार्गी है। अतः यह

व्यावहारिक भी है और श्रेष्ठ भी। संयत लोकतन्त्र को अरस्तू वर्गतन्त्र और भीड़तन्त्र का मध्यमान भी मानता हैं ऐसे गुणों से युक्त मध्यवर्ग पर आधारित 'पॉलिटी' को अरस्तू सामान्य रूप से व्यावहारिक श्रेष्ठ संविधान स्वीकार है।

3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटों ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटों के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विषयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

परिवार सम्बन्धी विचार:- अरस्तू परिवार को मनुष्य की नैसर्गिक संस्था मानता है जिसके द्वारा उसके जीवन की नितान्त प्रारम्भिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। परिवार में पति, पत्नी सन्तान तथा दास सम्मिलित है। परिवार का चौथा आवश्यक तत्व 'अर्जन' है। इन तत्वों के अभाव में परिवार की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि कुटुम्ब व्यक्ति के भौतिक जीवन की आधारशिला है तथापि उसका प्रबन्ध एक नैतिक कला है तथा जिसका उद्देश्य परिवार के सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता को प्राप्त करना है। अरस्तू की मान्यता है कि यदि परिवार का साम्यवादीकरण करके उसे छिन्न-भिन्न किया जाता है तो उसके सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता की पहली पाठशाला ही नष्ट हो जायेगी। इस आधार पर अरस्तू प्लेटो की आलोचना करता है कि उसके साम्यवाद की योजना परिवार को नष्ट करके व्यक्ति के जीवन की प्राथमिक नैतिक संस्था तथा उसका नैतिकरण करने वाली प्रथम संस्था को नष्ट कर देती हैं।

सम्पत्ति के साम्यवाद के विरुद्ध अरस्तू के विचार:- अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद का योजना का भी आलोचक है। अरस्तू सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व व्यवस्था ही उपयुक्त है जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का निजी स्वामित्व होता है। अरस्तू की सम्पत्ति सम्बन्धी धारणा है कि वैयक्तिक रूप से उस पर "स्वामित्व हो किन्तु उसका उपयोग सामूहिक हित" के लिए हो। अरस्तू का मानना है कि जब सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व होता है तब कलहों को आधार पर क्रम हो जाते हैं सम्पत्ति के कारण व्यक्ति में दानशीलता, मैत्री, आतिथ्य सेवा अथवा उदारता जैसे नैतिक गुणों का विकास होता है। जिसके पास निजी सम्पत्ति है वह व्यक्ति राज्य के साथ अपने हित को एक मानता है तथा सम्पत्तिहीन व्यक्ति राज्य के प्रति एकता के भाव नहीं रख सकता। निजी सम्पत्ति की भावना व्यक्तियों को अधिक उद्यम करने की प्रेरणा देती है जिसमें मनुष्य बालू रेत को भी सोने में बदल देता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में अरस्तू सबसे प्रबल तर्क यह है कि सम्पत्ति की संस्था युगों से चली आ रही हैं अतः युगों के संचित ज्ञान को ठोकर मारकर उसका तिरस्कार करना बड़ी भूल है। इस प्रकार विविध तर्क देकर अरस्तू सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का समर्थन करता है।

3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार

अरस्तू के अनुसार राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता है कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है। अरस्तू कानून को "वासना से अप्रभावित विवके" मानता है और इस अधार पर यह प्रतिपादित करता है कि "विधि का शासन किसी व्यक्ति के शासन की अपेक्षा श्रेयस्कर है।" अतः अरस्तू का निष्कर्ष है कि कानून में ऐसा 'अवैयक्तिक तत्व' है जो किसी श्रेष्ठतम व्यक्ति के शासन में भी संभव है। विधि के शासन की अन्य विशेषताओं का वर्णन करते

हुए अरस्तू बताता है कि कानून को संविधान के अनुकूल होना चाहिए। तभी कानून न्यायापूर्ण होता है कि अरस्तू सतत रूप से 'विधि शासन' की दृढ़ समर्थक है। अरस्तू के शब्दों में "विधि का शासन किसी एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा वाछनीय है, भले ही व्यक्तियों का शासन उचित लगता हो तब भी व्यक्तियों को विधि का संरक्षक अथवा विधियों का सेवक ही बनना चाहिए।"

अरस्तू विधिको विवेक का ही दूसरा रूप मानता है। कानून स्वार्थों से युक्त विवेक की वाणी है। क्योंकि कानून विवेक-सम्मत होता है, अतः राज्य में विधि का शासन होना चाहिए। अरस्तू क विधि की सर्वोच्चता सम्बन्धी विचार प्लेटो के ब्लॉज में प्रतिपादित विचारों के समान ही है, किन्तु कानून की सम्प्रभुता को स्वीकार कर अरस्तू ने प्लेटो के रिपब्लिक की उस धारणा को स्पष्ट रूप से खंडित किया है कि राज्य में ज्ञान का अथवा दार्शनिक राजा का शासन सर्वश्रेष्ठ होता है अरस्तू मूर्त व्यक्ति के शासन की अपेक्षा अमूर्त विधि के शासन

3.11 अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि 'न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।' इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में 'सदगुण और न्याय' पर्यायवाची है। उसके अनुसार जब सदगुण व्यक्ति के व्यवहार में प्रकट होता है, यही न्याय है।

न्याय के दो प्रकार-सामान्य और विशिष्ट न्याय:- अरस्तू ने न्याय के दो प्रकार बताये है- 'सामान्य न्याय' तथा 'विशिष्ट न्याय'। सामान्य न्याय से तात्पर्य सम्पूर्ण श्रेष्ठता से है। इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता का प्रयोग व्यक्ति अपने पड़ोसी के साथ व्यवहार में करता है। पड़ोसियों के प्रति नैतिक व्यवहार तथा नैतिक सदगुण का आचरण ही सामान्य न्याय है। 'विशिष्ट न्याय' सामान्य न्याय का ही अंश है। इसका सम्बन्ध श्रेष्ठता के विशिष्ट पक्ष से है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ समभाव से अथवा समता के साथ व्यवहार करता है।

"अरस्तू विशिष्ट न्याय के कभी दो रूप मानता है। वितरणात्मक न्याय तथा परिशोधनात्मक न्याय।" अरस्तू की न्याय की धारणा का वर्गीकरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

न्याय

सामान्य न्याय

विशिष्ट न्याय

वितरणात्मक न्याय

परिशोधनात्मक न्याय

वितरणात्मक न्याय

अरस्तू के राजनीतिक सिद्धान्त में वितरणात्मक न्याय की धारणा का विशेष महत्व है। वितरणात्मक न्याय वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य अपने सदस्यों के बीच सरकार के पदों सम्मानों तथा अन्य दूसरे प्रकारों के लाभों को वितरित करता है। वितरणात्मक न्याय पदों के वितरण का वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा व्यक्ति को उसके द्वारा राज्य को दिये गये योगदान के अनुपात में उसे पुरस्कार दिया जाता है, अधिक योगदान के अनुपात में अधिक पुरस्कार तथा कम योगदान के अनुपात में कम पुरस्कार। अरस्तू की धारणा है कि वितरणात्मक न्याय राज्य में असमानता को बढ़ावा नहीं देता अपितु जो योग्य है उन्हें अयोग्यों से असमान स्वीकार कर उनकी योग्यता के अनुपातों में पद

तथा प्रदन्त करता है। अरस्तू की समानता की यही धारणा है कि राज्य के सभी संवैधानिक अधिकारधारी अपनी योग्यतानुसार ही राज्य के लाभों को प्राप्त कर सकें। अतः योग्यता के अनुपात में राज्य के पदों का लोगों में वितरण करना ही अरस्तू का 'वितरणात्मक न्याय' का सिद्धान्त है। वर्कर के अनुसार, "विशिष्ट न्याय (वितरणात्मक न्याय) समान व्यक्तियों के समुदाय का ऐसा गुण है जो एक ओर अपने सदस्यों को उनके योगदान के अनुसार पद एवं अन्य पुरस्कार वितरित करता है।"

विशिष्ट न्याय का दूसरा पक्ष सुधारात्मक न्याय है। सुधारात्मक न्याय राज्य की उस व्यवस्था को कहते हैं। जिसके द्वारा व्यक्तियों में पारस्परिक लेन-देन के सम्बन्धों का नियमन किया जाता है। सुधारात्मक न्याय का दायरा 'राज्य और व्यक्ति' नहीं है, यह 'व्यक्ति और व्यक्ति' के बीच का दायरा है।

3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

प्लेटो परिवर्तन को पतन और भ्रष्टाचार से जोड़ते थे, दूसरी ओर अरस्तू परिवर्तन का अरिचार्य और आदर्श की शिक्षा में गति मानते थे। प्लेटो के विपरित वे प्रगति को सम्पूर्णता की ओर विकास समझते थे लेकिन साथ ही अनावश्यक ओर निरंतर परिवर्तन के खिलाफ थे। अरस्तू का परिवर्तन सम्बन्धी विचार विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन का नतीजा था।

क्रान्तियों के सामान्य कारणों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया-

(1) मनोवैज्ञानिक कारण (2) मस्तिष्क में उद्देश्य (3) राजनैतिक उथल-पुथल और आपसी टकराव को जन्म देने वाली परिस्थितियां।

मनोवैज्ञानिक कारण ओलिगार्की में समानता और जनतंत्र में असमानता की इच्छा है। उद्देश्यों में मुनाफा सम्मान, घमण्ड, डर किसी रूप में बेहतरी घृणा, राज्य के किसी हिस्से में असंतुलित विकास चुनाव के जोड़-तोड़, उदासीनता विरोध का डर, राज्य के अवपयवों के बीच टकराव होते हैं। क्रान्तिकारी परिस्थितियों को जन्म देने वाले अवसर घमण्ड, मुनाफा और आदर के लिए इच्छा, श्रेष्ठता, डर घृणा और राज्य के इस या उस अवयव का असमान विकास है।

हर संविधान में विशेष कारण खोज निकाले गए। जनतंत्र में कुछ लफ्फाज जनता को भड़काकर धनिकों पर हमला करते थे। इस कारण का निदान का दमन और शासकों में मन-मुटाव से अस्थिरता पैदा होती थी। कुलीनतंत्र में सरकार समिति करने का अर्थ अस्थिरता का कारण था। विद्रोह तब पैदा होता है जब-

(1) आम जनता स्वयं को शासकों के बराबर समझती है। (2) जब महान व्यक्तियों का शासकों द्वारा अपमान किया जाता है। (3) जब क्षमतावान लोगों को सम्मान से दूर रखा जाता है। (4) जब शासक वर्ग के अन्दर कुछ गरीब होते हैं और परिवर्तन का शिकार बनते हैं। गरीबों से उचित व्यवहार न होने पर वे विद्रोह करके कुलीनतंत्र को जनतंत्र में बदल देते हैं।

राजतंत्र में क्रान्ति का निदान कानून के प्रति वफादारी की भावना भसा है। ओलिगार्की और कुलीनतंत्रों में निदान नागरिक समाज और संवैधानिक अधिकारों वाले लोगों के साथ शासकों के अच्छे सम्बन्ध है। किसी को भी अन्य नागरिकों की तुलना में बहुत ऊँचा उठाना चाहिए क्योंकि धन के मुकाबले पदों में असमानता लोगों को क्रान्ति की ओर धकेलती है। सबको कुछ सम्मान दिया जाय। निरंकुश तानाशाह विभाजन और शासक की नीति के जरिए,

धनी और गरीबों के बीच वर्गीय घृणा तेज करके तथा खुफियों का जाल बिछाकर अस्थिरता पर विजय पाते हैं। ऐसे शासक को धार्मिक दीख पड़ना चाहिए, गरीबों के रोजगार के लिए जन कार्य करने चाहिए, फिजूल खर्चों में कटौती करनी चाहिए और परम्पराओं का पालन करना चाहिए।

अरस्तू ने बताया कि क्रान्तियाँ और बगावत आमतौर पर सरकार की छवि के कारण होती हैं। सरकारी पदों का व्यक्तिगत फायदे के लिए दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए। संवैधानिक स्थायित्व के लिए पदाधिकारियों में तीन गुण होने चाहिए, एक संविधान के प्रति वफादारी, दो असाधारण प्रशासनिक क्षमता, तीन चरित्र की एकाग्रता, अच्छाई और न्याय-प्रियता। उन्होंने सरकारी प्रचार में शिक्षा, कानून, न्याय और समानता इत्यादि पर जोर दिया।

3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य

अरस्तू ने भी प्लेटो की भाँति अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के अन्तिम चरणों में 'राजनीतिक आदर्शों' तथा श्रेष्ठ एवं सुखी जीवन का विवेचन किया है। अरस्तू तीन प्रकार के शुभों की कल्पना करता है- बाह्य शुभ, शारीरिक शुभ तथा आत्म शुभ। अनुभव यह सिद्ध करता है कि इन हितो अथवा शुभों में आत्मा के शुभ की प्राथमिकता रहती है। साहस, विवेक एवं अन्य प्रकार के नैतिक गुण आत्मिक शुभ के अभिन्न तत्व हैं। इस आधार पर अरस्तू का निष्कर्ष है कि "राज्यों तथा व्यक्तियों दोनों ही के लिए जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग शुभतापूर्ण जीवन है।" अरस्तू के विचारानुसार आदर्श संविधान वह है जिसमें दार्शनिक वृत्ति तथा व्यावहारिक गुणों से सम्पन्न सभी प्रकार में लोगों को ऐसे अवसर मिलें जिससे कि वे अपने श्रेष्ठतम को प्राप्त कर सकें तथा सुखी जीवन जी सकें।

आदर्शराज्य के आवश्यक तत्व

1. जनसंख्या:- आदर्श राज्य के लिए अरस्तू इतनी जनसंख्या को आवश्यक मानता है जो कि आकार अथवा मात्रा में न हो और न ही कम। राज्य की आबादी इतनी पर्याप्त होनी चाहिए जिसमें कि राज्य के नागरिकता के कार्यों का निष्पादन भली प्रकार से हो सके। राज्य के सिविल कार्य यह निर्धारित करते हैं कि राज्य की आबादी कितनी होनी चाहिए। अधिक आबादी राज्य की महानता का परिचायक नहीं होती। अतः अरस्तू की सिविल कार्य को करने में एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप में पहचान सकें तथा राज्य को आत्मनिर्भर बने रहने में सहयोग दे सकें।

राज्य का भू-प्रदेश:- अरस्तू के अनुसार राज्य का भू-प्रदेश भी जनसंख्या के समान न हो तो बहुत कम हो और न ही अत्यधिक बड़ा। राज्य की भूमि इतनी हो जिस पर कि नागरिक अवकाश का जीवन बिता सकें नागरिकों के भरण-पोषण से सम्बन्धित इतनी फसल उस भूमि पर उत्पन्न हो, जिससे कि वे अपना जीवन आत्म निर्भरता, मित्राचार तथा उदारता के साथ जी सकें। भूमि के सर्वेक्षण के आधार पर राज्य की सुरक्षा का प्रबंध किया जा सकता है। नगर की आयोजना की जा सकती है तथा आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से तथा उसके आस-पास के इलाकों के साथ संबंधों का निर्धारण किया जा सकता है।

राज्य की सामाजिक संरचना:- अरस्तू आदर्श राज्य के आवश्यक तत्वों में राज्य की समुचित सामाजिक संरचना को भी एक आवश्यक तत्व मानता है। वह राज्य की संरचना के दो प्रमुख आधार मानता है। 'समाकलन अंग' ; तथा उनके 'सहायक सदस्य' ; वह नागरिकों को 'समान अंग' के रूप में मानता है। दासों और अन्य सेवाओं को करने वालों कृषकों तथा औजार इत्यादि बनाने वालों को वह 'सहायक सदस्यों' के नाम से पुकारता है। नागरिक राज्यों के कार्यों में भाग लेते हुए श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करते हैं। सहायक सदस्य उस श्रेष्ठ जीवन की सुविधाओं और सेवाओं की व्यवस्था करते हैं। राज्य की संरचना के इन दोनों अंगों द्वारा सेवाओं को समाज के लिए प्रदान किया जाना

आवश्यक है। ये सेवाएं इस प्रकार हैं- कृषि, कला एवं शिल्प, राज्य की सुरक्षा, भू-स्वामित्व, सार्वजनिक पूजा तथा नागरिक एवं राजनैतिक जीवन की सेवा। आदर्श राज्य की सामाजिक संरचना इतनी सक्षम हो कि जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी संस्थाओं द्वारा की जा सके। इन सेवाओं की पूर्ति के लिए अरस्तू ने यहां तक भी निश्चित किया है कि कौर सी सेवा किसके द्वारा निष्पादित की जायेगी।

4- आदर्श राज्य की शिक्षा व्यवस्था:- प्लेटो की भाँति अरस्तू की भी यह मूल धारणा है कि शिक्षा वह उचित साधन है जिसके द्वारा नागरिकों को विवेकशील बनाया जाता है तथा उनके स्वभाव में सदगुणों के जीवन के आदर्शों के अनुसार ढालने की व्यवस्था है। अरस्तू प्लेटो की भाँति नागरिकों तथा शासकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा-योजना प्रस्तुत नहीं करता अपितु एक ही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था करता है। उसकी यह धारणा है कि सभी व्यक्ति समाज में एक समान स्वतन्त्र नागरिक हैं। उसकी शिक्षा प्रणाली अवश्य ही आयु के आधार पर व्यक्तियों के भेद को स्वीकार करती है। उसकी मान्यता है कि बाल्यवस्था के लोगों के लिए तदनुकूल शिक्षा हो तथा प्रौढ़ों के लिए उनकी आयु के अनुसार शिक्षा हो। समाज के बड़े लो शासन के कार्यों से जुड़े रहते हैं किन्तु जो तरुण हैं वे शासनाधीन रहते हैं। आज के तरुण ही कल के शासक होंगे। अतः उन्हें अपने स्वतन्त्र राज्य की आज्ञाओं का पालन करना सीखना आवश्यक है। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य 'उत्तम नागरिक' तथा 'उत्तम व्यक्ति' का निर्माण करना है। अरस्तू सभी नागरिकों के लिए एक समान शिक्षा योजना का स्थापना करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि अरस्तू शिक्षा प्रणाली को राज्य के नियन्त्रण में रखने के पक्षपाति है। नागरिकों को जीवन उसके स्वयं के जीवन तक ही सीमित रहता है अपितु राज्य के अन्य सदस्यों से जुड़ा रहता है। इस सामाजिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए अरस्तू स्पार्टा की राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा-पद्धति का समर्थन अपने शिक्षा सिद्धान्त में करता है।

5- विधि के शासन की श्रेष्ठता:- अरस्तू की दृष्टि में व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदैव श्रेष्ठ रहता है। विधि का शासन तथा समुचित व्यक्तिगत सम्पत्ति अरस्तू के आदर्श राज्य के आधार-स्तम्भ है। मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के साथ ही अरस्तू विधि के शासन की श्रेष्ठता को भी आदर्श राज्य का आवश्यक तत्व मानता है। अरस्तू प्लेटो की विधि से मुक्त दार्शनिक शासन की धारणा को दोषपूर्ण मानता है।

संक्षेप में, अरस्तू द्वारा प्रस्तुत आदर्श राज्य की यही रूप रेखा है। अरस्तू के आदर्श राज्य की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उसका चिन्तन केवल व्यवहारपरक ही नहीं, अपितु आदर्श तत्वों से भी मुक्त होता है। यही आदर्श तत्वों की समानता है जो प्लेटो और अरस्तू को, उनके विचारों में कई प्रश्नों पर असमानता होते हुए भी, उन्हें एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। दोनों ही विचारों को लक्ष्य यही कि ऐसे आदर्श राज्य की खोज की जाय जो व्यक्ति को श्रेष्ठ नैतिक जीवन की उपलब्धि करा सके।

3.14 पॉलिटी (वैज्ञानिक लोकतन्त्र)

अरस्तू की दृष्टि में विभिन्न प्रकार के सावधानों में पॉलिटी सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान है। पॉलिटी में मध्यम वर्ग के लोगों का बाहुल्य रहता है। अरस्तू के दर्शन में मध्य-मार्ग के प्रति गहरी आस्था है। अरस्तू की ऐसी मान्यता है कि वह राजनैतिक समाज सर्वश्रेष्ठ होता है जिनमें मध्यम वर्ग के नागरिकों का वर्चस्व होता है। वे राज्य सुशासित रहते हैं जिनमें मध्यम वर्ग विशाल मात्रा में पाया जाता है। अरस्तू का यह दृढ़ विश्वास है कि मध्यम वर्ग राज्य का मेरूदण्ड होता है। जिस राज्य की सम्प्रभु शान्ति मध्यम वर्ग में होती है, उस राज्य में स्थायित्व होता है। उपयुक्त

आधारों पर अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्य शासकों की अपेक्षा व्यावहारिकता की दृष्टि से पॉलिटी एक आदर्श शासन व्यवस्था है क्योंकि इसमें मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता रहती है।

अभ्यास प्रश्न

1. अरस्तू को किसने “प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक कहा है”?
2. पॉलिटिक्स की रचियता कौन है ?
3. राजनीति शास्त्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का जनक किसे कहा जाता है ?
4. “स्त्री-पुरुष तथा स्वामी और दास के योग से जो समूह बनता है वही परिवार है।” किसने कहा है?

3.15 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसके साथ ही उसने राज्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है जिसमें वह कहता है कि -राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते हैं और जब ग्राम के समुदाय बनते हैं तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य “समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।”

अरस्तू अपने समय में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं से अपने को पूरी तरह से पृथक नहीं कर पाया और दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। इस प्रकार अरस्तू दासतासंबन्धी विचार में प्रगतिशील है क्योंकि वह उन्हें परिवार का अभिन्न अंग भी मानता है।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों को भी बड़े ही विस्तार से प्रस्तुत करता है जिसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से यह तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिकों के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था।

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 158 संविधानों का अध्ययन कर अरस्तू ने संविधान के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं जिसमें वह ‘संविधान’ को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। और वह कहता है कि संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है।

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि ‘न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।’ इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में ‘सदगुण और न्याय’ पर्यायवाची है।

इसके अतिरिक्त अपने गुरू प्लेटो के विपरीत अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटों ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटों के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विणयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

अरस्तू प्लेटो के विपरीत राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता है कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने परिवर्तन की प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और क्रांति के सन्दर्भ में अपने विचार विस्तार से व्यक्त किये हैं।

अंततः उसने आदर्श राज्य की धरना प्रस्तुत की है जिसमें उसने एक आदर्श राज्य के लिए आवश्यक तत्वों जैसे किस प्रकार की भौगोलिक संरचना हो, कितनी जनसंख्या हो और किस प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था हो इस पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं।

3.16 शब्दावली

1. राजतन्त्र- ऐसी शासन-व्यवस्था जिनमें शासन की शक्ति या प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति, अर्थात् राज या रानी के हाथों में रहती है।
2. पॉलिटी- ऐसी शासन-प्रणाली जिनमें शासन की शक्ति निर्धन एवं साधारण लोगों के हाथों में रहती है।
3. सम्प्रभु- किसी राज्य के अन्तर्गत वह व्यक्ति या निकाय जिसे देश के समस्त क्षेत्र और समस्त व्यक्तियों पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो।

3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैसी
2. अरस्तू
3. अरस्तू
4. अरस्तू

3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. बी. एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डॉ. जे. सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा।
3. जे. पी. सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू के सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?
2. अरस्तू के राज्य तथा सरकार में क्या अंतर बताया है? अरस्तू के सरकार के वर्गीकरण का भी वर्णन कीजिए?
3. प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय की कल्पना की तुलना कीजिए तथा अपने विचार भी बताइये?
4. अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?
5. अरस्तू के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए?

इकाई -4 अरस्तू के बाद यूनानी चिन्तन एपिक्कूरियन और सिनिक सम्प्रदाय

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अरस्तू के बाद यूनानी चिन्तन

4.4 नगर राज्यों का पराभव और नवीन दृष्टि

4.5 एपिक्कूरियन विचार दृष्टि

4.6 सिनिक सम्प्रदाय

4.7. सारांश

4.8. शब्दावली

4.9. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.10. संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.11. सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

4.12. निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन में प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन का प्रभाव न सिर्फ प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के सबसे सशक्त हस्ताक्षर के रूप में प्रतिबिम्बित है अपितु इन दार्शनिकों का प्रभाव समान रूप से सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकास में दृष्टिगत होता है। किन्तु यूनानी चिन्तन के सतत अन्वेषण की प्रक्रिया काफी गहरी रही है, जिसमें अन्य चिन्तन धाराओं का भी समानान्तर रूप से विकास हुआ, विशेष रूप से उत्तर अरस्तू के काल के बदली हुयी व्यवस्थाओं में। इन चिन्तन धाराओं ने न सिर्फ एक नए चिन्तन का आयाम दिया, बल्कि प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन द्वारा स्थापित मूलभूत मान्यताओं को भी गम्भीर चुनौती प्रस्तुत की और कालांतर के राजनीतिक दर्शन और व्यवस्थाओं को गहराई से प्रभावित करते हुए नए दृष्टिकोण स्थापित किए। इस चिन्तन के प्रमुख प्रवर्तकों में एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत इकाई एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के दर्शन और चिन्तन को समझने का प्रयास करते हुए, अरस्तू के पश्चात के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को समझने और जानने का यत्न है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- अरस्तू के पश्चात के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।
- इस चिन्तन के कालान्तर के राजनैतिक व्यवस्था और चिन्तन पर प्रभाव को समझ सकेंगे।
- नगर-राज्यों के पतन और नए दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
- एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचारों के बारे में जान सकेंगे।

4.3 अरस्तू के पश्चात यूनानी चिन्तन

प्लेटो और अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः यूनान के नगर-राज्यों का चिन्तन और दर्शन था। इनका उद्देश्य यूनान के नगर-राज्यों का उत्थान करते हुए उन्हें पतन से बचाना था तथा उसमें रहने वाले नागरिकों के अधिकारों को सुपष्ट करते हुए, नगर-राज्यों के विकास का सहभागी बनाना था। अरस्तू के बाद यूनानी राजनीतिक चिन्तन में एक नया मोड़ आया। प्लेटो और अरस्तू का दर्शन जहाँ सैद्धांतिक रूप में उच्च कोटि का दर्शन था, वहीं उसको व्यवहारिक धरातल पर अंगीकृत करने वाले राजनेता के अभाव ने इनकी व्यवहारिकता सीमित कर दी, जो कि प्लेटो की कालांतर की कृतियों से परिलक्षित भी होता है, दूसरे उसकी सीमा नगर-राज्यों तक ही सीमित रही और यह इस परिधि से बाहर निकल नहीं पाया। यूनानी नगर-राज्य स्थानीयतावाद की संकीर्ण प्रवृत्ति, आंतरिक अव्यवस्था और परस्पर द्वेष की भावना से प्रसित होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने का यत्न कर रहे थे। प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन, इन समस्याओं का व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। उधर रोम और मैसीडोनिया जो यूनान के पड़ोसी राज्य थे, नगर-राज्यों की व्यवस्था के विपरीत सैन्य आधारित विशाल साम्राज्य की स्थापना में लगे हुए थे। मैसीडोनिया के राजा फिलिप और उसके पुत्र सिकन्दर, जोकि अरस्तू का शिष्य था; ने नगर-राज्यों को पदाक्रांत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यूनानी नगर-राज्यों की विफलता ने इनको यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया। पराधीनता के कारण शासन कार्य में भाग न ले पाने के कारण, यूनानी मानस की दृष्टि में प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा और दर्शन अप्रासंगिक और अर्थहीन प्रतीत होने लगे। नागरिकों के लिए राज्य उत्तम जीवन की आवश्यक शर्त न होकर उक बोझ के रूप में प्रतीत होने लगा। अब ऐसे दार्शनिक विचार उत्पन्न हुए जिनकी दृष्टि में उत्तम जीवन और शुभ की संकल्पना से राज्य का कोई संबंध नहीं था। इस वैचारिक दृष्टि में आनन्द की प्राप्ति संयमित जीवन और मानसिक इच्छाओं पर प्राप्ति से ही संभव था जो कि प्राच्य दर्शन में महात्मा बुद्ध की शिक्षा के निकट था। राजनीतिक व्यवस्था की जगह, मानसिक अवस्था को उत्तम जीवन के ज्यादा निकट मार्ग के रूप में पहचाना गया।

4.4 नगर राज्यों का पराभव और नवीन प्रवृत्तियां:-

नए और विशाल साम्राज्यों की सैन्य आधारित संकल्पना, जिसके आधार पर महान रोमन साम्राज्य और मैसीडीनिया का अभ्युदय हो रहा था ने नगर-राज्यों के मौलिक अस्तित्व को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। नागरिकता की संकल्पना की आवश्यक शर्त, जिसके तहत नागरिकों को राज्य के गतिविधियों में आवश्यक रूप से प्रतिभाग करना था; के कल्पनातीत हो जाने के कारण नगर-राज्यों की संकल्पना भी अत्यधिक कमजोर हो गयी। प्लेटो और अरस्तू के विचार तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों के समाधान में सक्षम प्रतीत नहीं हुए जिसके परिणाम स्वरूप वैचारिक निर्वात की स्थिति को दूर करने के लिए नए दार्शनिक अवधारणा की आवश्यकता थी, जिसे एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन ने पूरा किया। सिनिक्स और साइरेनेइक्स के राज्य विहीन अराजकतावादी दर्शन, जिसमें बुद्धि और ज्ञान के अस्तित्व को ही परम अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर, अन्य सभी भैतिकतावादी तत्वों को उससे अलग किया गया, ने भी बहुत सारे महान राजनीतिक सिद्धांतों की प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन, यद्यपि प्लेटो और अरस्तू के दर्शन से प्रभावित थे तथापि उन्होंने यूनानी सर्वश्रेष्ठता के सिद्धांत को अर्थहीन कर दिया। प्लेटो और अरस्तू के परवर्ती विचारक, उनके राज्य के आदर्श का खण्डन करने लगे और यह विचार तक प्रतिपादित कर दिया कि, यदि व्यक्ति को श्रेष्ठ जीवन जीना है और जीवन में आनन्द की प्राप्ति करनी है तो उसे राज्य से दूर रहते हुए, अपना राज्य से संबंध विच्छेद कर लेना चाहिए। उत्तर अरस्तू चिन्तन की मुख्य विशेषता; जो एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन में मुख्य रूप से दिखता है; वह राज्य से पलायन और उसकी

अवहेलना है। जीवन के परम शुभ के बारे में दोनों विचारों में विभेद होते हुए भी, दोनों का यह विश्वास था कि, सर्वश्रेष्ठ और बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो राजकीय अथवा सामाजिक जीवन में भाग न ले। ये विचार अरस्तू और प्लेटो के विचारों के ठीक उल्टा था। इन विचारधाराओं ने उत्तर अरस्तू युग के राजनीतिक जीवन में दो नई प्रवृत्तियों का विकास किया-

1. राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप का अधिकाधिक व्यक्तिवादी होना।

इस विचारधारा के प्रतिपादकों ने प्लेटो तथा अरस्तू के 'व्यक्ति को राज्य में विलीन कर देने' के सिद्धांत को अमान्य कर दिया। इनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख के साधनों की खोज करना था जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अधिकतम आनन्द की प्राप्ति कर सके। इन विचारकों के मत में ऐसे आनन्द की प्राप्ति में राज्य सहायक नहीं है, अतः व्यक्ति को राज्य से पृथक रहकर अपने आनन्द की प्राप्ति के साधन प्राप्त करने चाहिए।

2. राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप का अधिकाधिक सार्वभौमिक होना।

साम्राज्यों के विस्तार के कारण विभिन्न जन समूह एक राजनीतिक व्यवस्था के दायरे में आ गए फलस्वरूप उनकी पृथकतावादी धारणा का विलोपन होता गया। इस एकीकरण और विस्तार को और अधिक विस्तार देते हुए, कुछ विचारकों ने इसे और व्यापक स्वरूप प्रदान किया जिसके मूल में मानवीय समानता की संकल्पना निहित थी। उनके लिए पूरा विश्व एक इकाई था और सभी व्यक्ति, विश्व नागरिक जिसमें सभी को बराबरी का अधिकार था, बिना किसी भेद-भाव के, राज्य की सीमाओं के भेद से भी परे। यह विचारधारा, नगर-राज्य और उसकी आदर्श नागरिकता से परे था जो विश्व-बंधुत्व की वकालत करता था। प्लेटो और अरस्तू की तुलना में इन विचारों का दार्शनिक आधार, उच्च कोटि का नहीं था तथापि इस दर्शन ने अनेक विचारधाराओं को प्रभावित किया जिसकी प्रतीति आज भी वैश्वीकरण के सिद्धांत के रूप में आंशिक रूप से दिखायी देती है।

4.5 एपिक्यूरियन विचार दृष्टि:

एपिक्यूरियनवाद का प्रवर्तन 306 ई0पू0 में एथेन्स के विद्वान दार्शनिक एपीक्यूरस ;मचपबनतवनेद्ध ने किया था, जिसके नाम से इस विचारधारा को एपीक्यूरियनवाद के नाम से जाना जाता है। एपीक्यूरस के विचारों का समर्थन प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस ने भी अपनी प्रसिद्ध कृति 'द नेचर ऑफ थिंग्स' में किया है। इस विचारधारा को 'साइरेनिसिज्म' ;ब्लतमदंपबपेउद्ध का ही एक रूप कहा जा सकता है। एपीक्यूरियन, सॉफिस्टों की तरह ही शिक्षकों का एक सम्प्रदाय था, जो इस धारणा के प्रबल समर्थन में था कि, व्यक्ति के जीवन की श्रेष्ठता, सुखों की प्राप्ति में निहित है। इस विचार का कालांतर में अनेक चिंतकों ने समर्थन कर इसका प्रसार किया, भारतीय चिंतन में चारवाक, सुखवादी सिद्धांत के प्रबल प्रणेता माने जाते हैं। व्यक्तिगत सुखवाद का अर्थ, एपीक्यूरियन दर्शन में निषेधात्मक रूप में लिया गया है, जिसका अभिप्राय है दुख और चिन्ता से मुक्ति। एपीक्यूरियनवाद के प्रमुख विचार निम्नलिखित थे-

1. आनन्द और सुखवाद- एपीक्यूरियनवाद का दर्शन आनन्द और सुखवाद की धारणा का समर्थन करता है। एपीक्यूरियन के सुखवादी धारणा का परिचय देते हुए सेबाइन ने लिखा है कि, 'इसका उद्देश्य भी सामान्य रूप से वही था जो अरस्तू के पूर्ववर्ती काल में सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का था। यह दर्शन भी अपने अध्येताओं के मन में व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न करना चाहता था। इस दर्शन के अनुसार श्रेष्ठ जीवन आनन्द के उपभोग में निहित है। इस दर्शन ने आनन्द का अर्थ निषेधात्मक रूप में लिया। वास्तविक प्रसन्नता तो कष्ट और चिन्ता के

निवारण में है। “ इस दर्शन में चिन्ताओं से निवृत्ति का भाव है। इस दर्शन द्वारा व्यक्ति को सुख संबंधी आश्वासन मिले जिन्हें वह प्लेटो और अरस्तू के जीवन के उच्च आदर्शों के सिद्धांत के बदले स्वीकार करता है। ‘आनन्द ही सौभाग्यपूर्ण जीवन का आदि और अंत है’; यह विचार इस दर्शन का प्रमुख आधार था।

2. इच्छा दुखों का कारण है- एपीक्यूयिनवाद का सुखवाद निषेधात्मक है जो भगवान बुद्ध की तरह दुखों और चिन्ताओं के निवारण की बात करता है, जो कि मानव के अनंत इच्छाओं में निहित है। एपीक्यूयिनवाद का सुखवाद भौतिकवादी होते हुए भी संयमित है और सुख की खोज उन न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित मानता है, जो मानवीय जीवन के लिए आवश्यक है। एपीक्यूयिनवाद संयमित जीवन को ही सुख का आधार मानता है और अनियंत्रित और अमर्यादित इच्छा को समस्त दुखों का कारण।

3. धर्म से असहमति- एपीक्यूयिन दर्शन धर्म से अपनी असहमति इस कारण से रखता है कि, उसके अनुसार धर्म व्यक्ति के अंदर भय और भय का कारण उत्पन्न करता है (नरक/दण्ड आदि अवधारणाओं द्वारा) जो कि मनुष्य के आनंद में बाधा है। धर्म, स्वतंत्र चिन्तन को बाधित करते हुए बहुतायत अंधविश्वास और कुंठा को जन्म देते हैं, इस कारण भी धर्म मानव जीवन के आनंद के मार्ग में बाधा है।

4. पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अलगाव-

एपीक्यूयिन दर्शन इस बात की वकालत करता है कि, एक बुद्धिमानव्यक्ति को अपने आनंद की प्राप्ति के लिए; पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अलग रहना चाहिए अथवा उसमें न्यूनतम प्रतिभाग करना चाहिए। इस दर्शन के अनुसार, ये बंधन, आनंद रूपी उत्सव के मार्ग में पाश की तरह हैं जो व्यक्ति को निर्बाध आनन्द की प्राप्ति को अवरूद्ध करते हैं।

5. न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण जैसी धारणा पर अविश्वास- एपीक्यूयिन दर्शन ने न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण जैसी धारणा का तिरस्कार किया है क्यों कि ये संकल्पनाएं निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं जो व्यक्ति की स्थिति, और देशकाल परिस्थिति के कारण भिन्न भिन्न हैं। न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण की अवधारणा सार्वभौमिक न होकर अलग - अलग है, जो व्यक्ति के अपने धारणा पर निर्भर करता है कि, उसके लिए न्याय अथवा नैतिकता के अर्थ क्या हैं?

6. राज्य संविदा पर आधारित संस्था- एपीक्यूयिन विचारक राज्य को नैसर्गिक संस्था नहीं मानते हैं। उनके अनुसार राज्य, व्यक्ति के स्वार्थ की प्रवृत्ति का दमन करने के लिए, एक सामूहिक सत्ता के रूप में सृजित किया गया है। राज्य के संबंध में एपीक्यूयिन विचार सामाजिक अनुबंध के विचारों के अग्रगामी हैं। राज्य की संकल्पना संविदा पर बनी है जो व्यक्तिगत हितों के निमित्त हुआ है। राज्य की तरह ही, राज्य से उत्पन्न अन्य संकल्पनाएं जैसे कानून, शासन, सरकार आदि भी नैसर्गिक न होकर व्यक्तिगत हितों के निमित्त ही निर्मित हुए हैं। राज्य और समाज जैसी संकल्पनाएं स्वभाविक विकास की परिणति न होकर व्यक्तिगत हितों और सुख के कारण बने हैं। एपीक्यूयिन विचारक शासन प्रणालियों के बारे में विशेषा चिंतित नहीं थे, किन्तु तुलनात्मक रूप से वो राजतंत्र को शक्तिशाली और सुरक्षित शासन प्रणाली मानते थे।

7. मानव संस्थाओं के जन्म का भौतिकवादी सिद्धांत-एपीक्यूयिन विचारकों ने मानव संस्थाओं के जन्म और विकास के बारे में भौतिकवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। एपीक्यूयिन के विचार में मनुष्य का सहज रूप में समाज के प्रति झुकाव नहीं है अपितु उसकी एकमात्र स्वभाविक प्रवृत्ति भौतिक सुखों की प्राप्ति है। सेबाइन के

अनुसार एपिक्यूरियन विचारक यह मानते हैं कि, 'सामाजिक जीवन के सभी रूप उसकी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं, कला और विज्ञान, संक्षेप में समस्त मानव-संस्कृति केवल मनुष्य की बुद्धि के परिणामस्वरूप ही विकसित हुईं। इनमें बाहर की किसी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं है। विशुद्ध रूप से प्राणी, भौतिक कारणों के परिणाम होते हैं।' मनुष्य ने भौतिक संसाधनों और सुख की खोज की प्रक्रिया में ही संगठित समाज की विभिन्न संस्थाओं, विधियों, विज्ञान और उपयोगी कला का सृजन किया। इन संस्थाओं और संरचनाओं के उत्पत्ति और विकास के क्रम में ही अपनी प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग द्वारा सभ्यता का सृजन और विकास करता है।

4.6 सिनिक सम्प्रदाय -

सिनिक विचारक प्लेटो और अरस्तू के समकालीन विचारक थे। सुकरात के जीवन और दर्शन ने यूनानी दर्शन में सिनिक्स सम्प्रदाय को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। सिनिक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एन्टीस्थेनीज थे, जो सुकरात के दर्शन और चिन्तन से प्रभावित रहे। यद्यपि सिनिक सम्प्रदाय का विचार भी पलायनवादी था, लेकिन यह पलायनवाद एक भिन्न प्रकार का पलायनवाद था, जिसमें उन्होंने उन वस्तुओं का तिरस्कार किया, जिन वस्तुओं को सामान्य रूप से व्यक्ति जीवन के सुख के रूप में स्वीकार करते हैं।

यूनानी भाषा में 'सिनिक' शब्द का अर्थ कुत्ता है जो इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स को इसलिए दिया गया क्योंकि वो सामाजिक रूढ़ियों और नियमों की परवाह नहीं कर उसकी घोर उपेक्षा किया करते थे। इस सम्प्रदाय को मानने वाले विरोधी एवं विद्रोही प्रवृत्ति के थे, जिनके लिए समस्त संस्थाओं, नियमों और व्यवस्था से बढ़कर मानवीयता और मानव मूल्य था। सिनिक्स सम्प्रदाय सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धांत को केन्द्रीय तत्व के रूप में स्वीकार करता था। उनके लिए आत्म ज्ञान और उससे उत्पन्न चेतना ही समस्त प्रकृति को चलायमान बनाए हुए है जो निरन्तर अपनी वैचारिक और ज्ञान परिमार्जन करते हुए आगे बढ़ रही है जिसे किसी संस्था, नियम अथवा व्यवस्था के पास में बांधना समीचीन नहीं होगा। ये वैचारिक सम्प्रदाय उग्र व्यक्तिवादी थे, जिनके लिए संस्था उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितना कि व्यक्ति। उन्होंने सभी सामाजिक भेदभावों के निराकरण पर जोर दिया। इस वैचारिक सम्प्रदाय के लोग राज्यसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं की पहचान एक वैश्विक नागरिक के रूप में करते थे, उनका मानना था कि इस वैश्विक जगत में जो कुछ भी प्रकृतिजन्य है, उस पर विश्व के सभी नागरिकों का बराबर अधिकार है और इस रूप में सभी व्यक्ति एकसमान हैं। सिनिक्स इसी कारण से परिवार और सम्पत्ति की धारण के भी विरोधी थे, जिसको कालांतर में प्लेटो के चिन्तन में भी, परिवार और सम्पत्ति के साम्यवाद के रूप में सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। सिनिक विचारक भ्रमणशील विचारक थे, जिनका कोई संगठन नहीं था, वो सामान्यतया भ्रमण कर के अपनी शिक्षा का प्रसार करते थे। सिनिक विचारकों ने पलायनवाद में 'सुखी जीवन' के दर्शन किए तथा वैराग्य और सरल जीवन द्वारा सुख प्राप्ति का मार्ग लोगों को दिखाया। उनकी शिक्षा का दार्शनिक आधार यह था कि बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्णतः आत्म निर्भर होना चाहिए, अर्थात् जो कुछ व्यक्ति की अपनी शक्ति, चिंतन और अपने सीमाओं के भीतर है, सुखी जीवन के लिए वही आवश्यक है, शेष बाह्य संरचनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। इस रूप में आत्म-ज्ञान का मार्ग ही सुख का श्रेष्ठ मार्ग है।

सिनिक्स बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानते थे और इसलिए इन संरचनाओं के उन्मूलन के पक्षधर थे। राज्य के साथ-साथ, उन्होंने उन समस्त संस्थाओं का विरोध किया जिसको वे आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक के रूप में स्वीकार करते थे। उनके अनुसार सद्गुण और ज्ञान, दोनों ही आंतरिक स्थितियां हैं, जिनको प्राप्त करना ही व्यक्ति के जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। नैतिक चरित्र के अतिरिक्त शेष सभी बातें व्यर्थ हैं। सभ्य समाज

की समस्त संस्थाएं- सम्पत्ति, विवाह, परिवार, नागरिकता, राज्य, प्रतिष्ठा और विद्वत्ता, परम्परा और रूढ़ियां आदि सभी तिरस्कार योग्य हैं। सिनिक विचारक, मानवीय समानता के प्रबल पक्षधर थे और उसके मार्ग के समस्त बाधाओं के घोर विरोधी। प्रो0 सेबाइन के विचारों में, 'सिनिकों की समानता शून्यवाद ; छपीपसपेउद्ध की समानता थी। यह सम्प्रदाय मानव-प्रेम अथवा सुधारवाद के सामाजिक दर्शन का आधार कभी नहीं बना, किन्तु यह सदैव सन्यास और प्यूटिनवाद की ओर झुका रहा।' उनके लिए स्वतंत्रता और दासता का कोई मूल्य नहीं था। सिनिक सम्प्रदाय का प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स कहा करता था कि, मुझे एन्टीस्थेन्स ने शिक्षा दी है कि, 'इस विशाल संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है- और वह है मेरे अपने विचारों का स्वतंत्र चिंतन।' सिनिक दर्शन कल्पना प्रधान दर्शन था, जिसमें ऐसे साम्यवाद और अराजकतावाद का खाका था, जिसमें समस्त संरचनाओं और व्यवस्थाओं का लोप हो गया। सिनिक दार्शनिकों का यह मत था कि, अधिकांश व्यक्ति, चाहे वे किसी भी वर्ग के हों, मूर्ख होते हैं। श्रेष्ठ जीवन केवल ज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही है। ज्ञानी व्यक्ति को घर, परिवार, नगर, राज्य अथवा कानून किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है, वह सभी स्थितियों में एक समान रहता है। सिनिक दर्शन के प्रमुख चिंतन को निम्न बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है-

1. सिनिक सम्प्रदाय ने समानता और विश्व बन्धुत्व की वकालत करते हुए विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया। मानवतावादी समानता और विश्व-बंधुत्व के विचारों ने कालांतर में इसाई धर्म और चर्च पर अत्यधिक प्रभाव डाला।
2. इस विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति है, इस रूप में यह विचारधारा उदारवादी चिंतन की पूर्ववर्ती विचारधारा के रूप में दिखायी देती है।
3. इस विचारधारा में राज्य, समाज, परिवार जैसी संस्थाओं के विरोध के कारण, यह अराजकतावादी भी हो जाता है जिसके केन्द्र में व्यक्ति है।
4. सिनिक विचार, विश्व-न्याय एवं विश्व-राज्य में विश्वास करता था, जिसमें राज्य की सीमाओं से परे वैश्विक नागरिक के रूप में व्यक्ति एक समान रूप से अपने प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए आत्मज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ सके।

अभ्यास प्रश्न

1. सिकन्दर किस महान दार्शनिक का शिष्य था ?
2. प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस की रचना का क्या नाम था?
3. कौन सा विचार सम्प्रदाय बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानता था ?
4. किस विचार सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता प्रतिपादित की ?

4.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम अरस्तू और प्लेटो के मुख्य चिंतन धारा से अलग, दूसरी चिंतनधारा के बारे में जान पाते हैं। यूनान की नयी परिस्थितियों के आलोक में एपिक्यूरियन और सिनिक विचारकों के विश्व-नागरिकता

और मानवतावाद की दार्शनिक संकल्पना एक क्रांतिकारी और समीचीन परिवर्तन प्रतीत होती है। आत्म ज्ञान और चेतना के विकास को ही व्यक्ति के सुख और आनन्द का आधार स्वीकार किया गया है। आनन्द, सुख और भौतिकतावाद की बात करते हुए भी संयमित और मर्यादित जीवन की वकालत करना, इस दर्शन और विचार की अद्भुत विशेषता है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात एपिक्यूरियन और सिनिक्स विचार दर्शन को समझने में सहायता मिलती है जिसमें मानवतावाद से लेकर व्यक्तिवाद और विश्व-नागरिकता से लेकर समतावाद तक के विचारों की प्रेरणा समाहित है। सिनिक दर्शन के राजनीतिक तत्व आज भी जीवन्त बने हुए हैं जो समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। विश्व नागरिकता और मानवतावाद के विचारों के बीज आज वैश्विक व्यवस्थाओं में दृष्टिगत हो रहे हैं।

4.8 शब्दावली

सुखवाद- सुखवाद की धारणा व्यक्ति के सुख को सर्वोपरि मानते हुए, समस्त संस्थाओं, मान्यताओं और व्यवस्था का विकास, व्यक्ति के सुख के निमित्त मानती है।

मानवतावाद- मानवतावाद का चिंतन मनुष्य का केन्द्र में रखते हुए समस्त विचारों का प्रतिपादन करता है।

विश्व-नागरिक- व्यक्ति को किसी राज्य की सीमा में न बांधते हुए सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था के नागरिक के रूप में स्वीकार किया जाय।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- 1.सिकन्दर अरस्तू का शिष्य था।
- 2.रोमन कवि ल्यूक्रेशियस की रचना का नाम 'द नेचर ऑफ थिंग्स' था।
- 3.सिनिक विचार सम्प्रदाय बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानता था।
- 4.सिनिक्स सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया।

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- 1.ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
- 2.राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
- 3.हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-4, जे0 पी0 सूद

4.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

- 1.ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट

2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. एपिक्कूरियन विचार के विकास में तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कथन की विवेचना करें।
2. एपिक्कूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचार, मानवीय समानता के सिद्धांत हैं। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
3. सिनिक दर्शन के पलायनवादी दृष्टिकोण की विवेचना करें।
4. एपिक्कूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचारों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए, उनके मध्य साम्य और विभेद को स्पष्ट करें।

इकाई - 5 संत अम्ब्रोज, आगस्टाइन एवं ग्रेगरी महान

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2. उद्देश्य

5.3 संत अम्ब्रोज

5.4 संत आगस्टाइन

5.5 ग्रेगरी महान

5.6. सारांश

5.7. शब्दावली

5.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9. संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.10. सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

5.11. निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्राचीन यूनानी चिंतन के बाद, पाश्चात्य जगत के दार्शनिक, धार्मिक और राजनैतिक बिम्ब पर जिसने सर्वाधिक गहराई से प्रभाव डाला है वह ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित ईसाई धर्म रहा। इस कालक्रम में परिस्थितियों के कारण ईसाई धर्म के चिन्तन को अलग-अलग परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण, भिन्न-भिन्न चिंतकों द्वारा अलग संदर्भ प्रदान किए गए, जिसके प्रभाव और प्रेरणा से ईसाई धर्म का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ। ईसाई धर्म के इन अलग-अलग संदर्भों ने न सिर्फ व्यक्ति के धार्मिक जीवन पर अपना प्रभाव डाला, अपितु सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। इस रूप में ईसाई धर्म के इस प्रभाव को समझने में जिन चिंतकों का नाम अग्रणी है, उनमें संत अंब्रोज, संत ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान सर्वाधिक प्रमुख हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- संत अम्ब्रोज, ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान के विचारों को समझ सकेंगे।
- ईसाई धर्म के विचार और उसके राजनीतिक प्रभाव को बेहतर समझ सकेंगे।
- यूनानी चिंतन से मध्ययुगीन राजनीतिक व्यवस्था के चरित्र के बदलाव को समझने में सहायता प्राप्त होगी।
- ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव और उसके विभिन्न चरणों को संत अम्ब्रोज, संत ऑगस्टाइन और संत ग्रेगरी महान के चिंतन के अध्ययन से सुसंगत रूप में समझने में सहायता प्राप्त होगी।

5.3 संत अम्ब्रोज

संत अम्ब्रोज का जन्म ईसा के जन्म के 340 वर्ष पश्चात हुआ जब ईसाई धर्म अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में ही था। संत अम्ब्रोज को ईसाई धर्म की लोकशक्ति और लोक कल्याण की क्षमता में अटूट विश्वास था, और सभी मनुष्यों के कल्याण की सर्वोच्च सत्ता वह ईसाई धर्म में ही निहित मानता था। संत अम्ब्रोज का मत था कि ईसाई धर्म की सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं हो सकता और समस्त सत्ता उसी ईसाई धर्म की सत्ता के अधीन है। इस धारणा के आधार पर संत अम्ब्रोज ने सम्राट की सत्ता को मानने से इंकार कर दिया। संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए कहा कि, ईसाई धर्म को सम्राट के अधीन संरक्षण की नहीं अपितु सम्राट को ईसाई धर्म के अधीन रहना चाहिए। ईसाई धर्म की सत्ता सर्वोच्च और श्रेष्ठ है, इसलिए सम्राट भी उसी श्रेष्ठ और सर्वोच्च सत्ता के अधीन है। जिस प्रकार से प्रकृति के समस्त जीव जन्तु, मनुष्य, भौतिक, अभौतिक सब उसी की संतान है, उसी प्रकार से सम्राट भी उसी परम सत्ता की संतति है। जिस प्रकार अन्य सभी ईसाई धर्म-संघ के पुत्र हैं उसी प्रकार सम्राट भी धर्म-संघ का पुत्र है। संत अम्ब्रोज ने धर्म को सर्वाधिक महत्व और मान्यता प्रदान की और कहा कि धार्मिक मामलों में बिशप सम्राट से भी श्रेष्ठ हैं इसलिए बिशपों को सम्राट की नहीं, अपितु सम्राट को बिशप की बात माननी चाहिए। सम्राट को बिशपों पर अपना मत थोपने का यत्न नहीं करना चाहिए अपितु धार्मिक मामलों में सम्राट को बिशप की बातों का सम्मान करना चाहिए क्योंकि बिशप ही धर्म के प्रहरी हैं और धर्म सभी सत्ताओं से श्रेष्ठ। यद्यपि धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए भी संत अम्ब्रोज सम्राट की राज्य सत्ता के प्रति सचेत रहते हैं और प्रजा को सम्राट की आज्ञा अनिवार्य रूप से पालन करने को प्रेरित करते हैं। ईसाई धर्म की श्रेष्ठता और महत्ता स्थापित करते हुए, वो कहीं भी क्रांति की बात नहीं करते, अपितु बेहतर राज्य संचालन के लिए राजनैतिक क्षेत्र में सम्राट की आज्ञा को अनिवार्य मानते हैं। संत अम्ब्रोज का यह मानना था कि, प्रजा को सम्राट की आज्ञा का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि, सम्राट की आज्ञाएं, प्रजा हित में दिए जाते हैं और ईसाई धर्म का उद्देश्य भी लोक कल्याण है इसलिए उसमें कोई विरोध नहीं है। धर्म के मामले में चूंकि बिशप श्रेष्ठ है और उसके प्रहरी है, इसलिए लोक हित में सम्राट को उनकी बातों और मतों को यथेष्ट सम्मान देना चाहिए। संत अम्ब्रोज का सम्राट से विरोध, सिर्फ ईसाई धर्म की स्वतंत्रता और स्वायत्तता को स्थापित करने को लेकर था, वह यह नहीं चाहता था कि ईसाई धर्म-संघ के अधिकारों पर किसी भी प्रकार का अतिक्रमण या आघात हो, चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो। एक बार सम्राट वैलेनाटोनियम द्वारा एरियन सम्प्रदाय के उत्सव के लिए गिरिजाघर माँगने पर संत अम्ब्रोज ने स्पष्ट रूप से कहा कि, "राजमहल सम्राट के अधीन हैं और गिरिजाघर बिशपों के। गिरिजाघरों पर सम्राट का कोई अधिकार नहीं है।" इसके परिणामस्वरूप सम्राट और ईसाई धर्म संघ के बीच संघर्ष की लकीर बन गयी, जो कई बार प्रस्फुटित हुयी। ईसाई धर्म संघ के समर्थकों ने अनेको बार संत अम्ब्रोज के इस मत को अपने दृष्टिकोण और मत के समर्थन में प्रयुक्त किया। सम्राट की प्रशासन तथा शासन संबंधी प्रभुता को स्वीकार करते हुए भी नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में बिशपों के मत को अंतिम रूप से स्वीकार किया, जिसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार सम्राट को भी नहीं था। इस प्रकार संत अम्ब्रोज ने धर्म और बिशपों की स्वतंत्रता और स्वायत्तता स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

संत अम्ब्रोज (340-397 ई0), जो कि मिलान का बिशप था, का राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है, जिसने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म की बढ़ती हुई आत्म-चेतना तथा शक्ति को अभिव्यक्त किया। संत अम्ब्रोज ने धर्म के विषय को राजनैतिक सत्ता के अधीन मानने से इंकार कर उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने में भूमिका निभायी जो कालांतर में मध्ययुगीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार की विशिष्टता के रूप में स्थापित हुआ।

ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव ने पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में एक नए तत्व का समावेश किया, जिसका क्रांतिकारी और दूरगामी प्रभाव आज भी राजनीतिक व्यवस्थाओं में किसी न किसी रूप में दिखायी देता है। यूनानी चिंतन में कभी भी संस्थाबद्ध धर्म की कल्पना नहीं की गयी, जिसका कार्यक्षेत्र राज्य से सर्वथा भिन्न हो; इस चिंतन में राज्य और समाज ही एकमात्र संस्थागत अवधारणा थी। ईसाई धर्म ने इससे विपरीत धर्म को संस्थानिक स्वरूप प्रदान करते हुए, स्टोइक विचारधारणा को आगे बढ़ाने का काम किया जो विश्वव्यापी कानून, मानव समानता और विश्व नागरिकता के सिद्धान्तों पर बल देता है। ईसाई धर्म के विस्तार ने विभिन्न जातियों को इन सिद्धान्तों के आधार पर एक सूत्र में बांधने का काम किया। संत अम्ब्रोज ने यह कभी नहीं कहा कि, नागरिकता का आदेश नहीं मानना चाहिए, पर उसने यह अवश्य कहा कि, धर्माचार्यों का यह अधिकार और कर्तव्य है कि वे आचारों के संबंध में लौकिक शासकों का नियमन करते रहें।

5.4 संत ऑगस्टाइन (354-430ई०)

संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की स्वायत्तता और स्वतंत्रता का जो प्रतिपादन किया, उसे एक व्यापक आयाम और स्वरूप उसके महान शिष्य ऑगस्टाइन ने प्रदान किया। उसका जन्म 354 ई० में अफ्रीका में टेगस्टे नामक नगर में हुआ था, उसके पिता का नाम पैट्रीसियस तथा माता का नाम मोनिका था। जीवन के आरम्भिक वर्षों में घर पर शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात वह आगे की शिक्षा हेतु कार्येज गया जहाँ पर वह मैनिकियन सम्प्रदाय का सदस्य बन गया और लगभग नौ वर्षों तक इसका सदस्य बना रहा। मैनिकियन सम्प्रदाय में इसकी जिज्ञासाओं का समाधान न हो पाने पर वह इसकी सदस्यता त्याग कर रोम चला गया, जहाँ वह अलंकारशास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। रोम में ऑगस्टाइन, संत अम्ब्रोज के संपर्क में आया, जिसके प्रभाव में उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। ईसाई धर्म को स्वीकार करने के पश्चात उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें उसके अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचार दिखायी देते हैं। आगस्टाइन का दर्शन मुख्यतः उसके महान ग्रन्थ “*De Civitate Dei*” में निहित है जो अंग्रेजी अनुवाद में *The City of God* के नाम से प्रसिद्ध है। ऑगस्टाइन को रोमन चर्च फादर्स में महानतम समझा जाता था, जिसका आने वाले विचारकों पर व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। सेबाईन का कहना है कि उसके लेख विचारों की खान हैं, जिनमें से बाद के विचारकों ने खोदकर विचार निकाले हैं। ईसाई चर्च के इतिहास में संत पाल के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान, संत ऑगस्टाइन को प्राप्त है। ऑगस्टाइन के विचारों के तीन प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होते हैं -

- १.- प्रथम यह स्पष्ट करना कि, रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ था।
२. द्वितीय, ईसाई संघ को शक्तिशाली बनाना और उसका राज्य स्थापित करना तथा
३. तृतीय, ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपों का खण्डन करना और विपक्षियों से रक्षा करना।

ऑगस्टाइन का महान ग्रंथ “द सिटी ऑफ गॉड” 22 खण्डों में विभाजित है जिसमें प्रथम दस में ईसाई धर्म की आलोचना के विरुद्ध रक्षा की गई और शेष 52 खण्डों में ईश्वर की नगरी के स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इस पुस्तक में ऑगस्टाइन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि, ईसाईयत रोम को नष्ट किए जाने से नहीं बचा सकी, लेकिन लोगों के कष्टों के निर्मूलन में उसने अवश्य ही सहायता दी और युद्ध की भयावहता कम करने का प्रयत्न

किया। ऑगस्टाइन के अनुसार रोम पर आक्रमण ईश्वर की मर्जी से ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखे जाने के लिए हुआ।

ऑगस्टाइन का वैचारिक जगत में प्रवेश संक्रमण के महत्वपूर्ण काल में हुआ, जब रोम अपने सर्वाधिक संकट के दौर से गुजर रहा था और उत्तर-पूर्व से होने वाले बर्बर जातियों (हूणों) के आक्रमण, उसकी आठ शताब्दियों से स्थपित शान्ति व्यवस्था को ही छिन्न भिन्न नहीं कर रहे थे, अपितु ईसाईयत के लिए भी एक गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर रहे थे। हूणों ने रोम को सेना को 373 ई0 में परास्त कर दिया और आधुनिक सर्बिया तथा बल्गेरिया के प्रदेशों में बस गये जहाँ उन्होने दो वर्षों तक लूट-पाट और बर्बरता मचायी, इसके बाद वे आगे बढ़ गए और रोम के विभिन्न प्रांतों में 20 वर्षों तक लूट-पाट करते रहे। ईसाई धर्म के विरोधी, ईसाई धर्म के प्रभाव को इसके लिए उत्तरदायी ठहराने लगे, उन्होंने कहा कि, 'रोम का विनाश ईसाई काल में हुआ है।' उनके अनुसार प्राचीन देवताओं मंगल, बृहस्तति आदि के परित्याग से ही रोम पर यह गम्भीर संकट उत्पन्न हुआ है। ईसाई विचारक इसका खण्डन करते किन्तु उनमें भी घोर निराशा व्याप्त कर गयी थी। ईसाई चर्च में आपस में फूट तथा पारस्परिक कलह ने भी इसमें अपनी भूमिका निभायी। पद, पुरस्कार, सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष ने पादरी समाज को व्याकुल कर दिया। इन परिस्थितियों में संत आगस्टाइन ने ईसाई धर्म को वैचारिक चेतना से इस निराशा भरी परिस्थितियों से उबारने का ही कार्य नहीं किया अपितु, ईसाई धर्म में एक नयी सोच, चेतना और ऊर्जा का संचार कर इसे प्रतिस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आगस्टाइन ने इस धारणा पर बल दिया कि, साम्राज्यों का उत्थान या पतन देवताओं की प्रसन्नता या प्रकोप के कारण नहीं होता है अपितु ये समस्त बातें दैविक योजना और उद्देश्य की अभिव्यक्ति के रूप में होती हैं। उसके अनुसार न तो रोमन साम्राज्य की सम्पन्नता और विजय, रोमन देवताओं की प्रसन्नता के वरदान थे और न ही उसके पतन का कारण ईसाई धर्म की दुर्बलता थी। ऑगस्टाइन मानव इतिहास के प्रवाह को ईश्वर-इच्छा की अभिव्यक्ति के रूप में देखता था, जिसमें उसका विश्वास था कि, इस पृथ्वी पर समस्त वस्तुएं, क्रिया कलाप आदि, ईश्वर के नगर की स्थापना की ओर जा रही हैं। उसके अनुसार साम्राज्यों का विनाश मनुष्यों की वासनाओं के कारण होता है और रोम का पतन इसलिए हुआ क्योंकि उसके शासक सत्ता के लोभ से बंधे हुए थे। रोम का पतन दैविक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए और रोमवासियों को मूर्तिपूजा धर्म के दोष से हटाकर प्रभु दया के लिए तैयार करने के लिए आवश्यक था। ऑगस्टाइन के अनुसार पाप और पुण्य में सदैव द्वंद चलता है, जिसमें पुण्य की सदा विजय होती है। यह विचार भारतीय धर्म चिंतन के सुरु और असुरों के संग्राम के समानांतर दिखायी देती है।

दो नगरों का सिद्धान्त

ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ में दो प्रकार के नगरों का विवरण दिया है-

१.- सांसारिक नगर

2- आध्यात्मिक नगर या ईश्वरीय नगर।

उसके अनुसार "मानव प्रकृति के दो रूप हैं- आत्मा और शरीर, इसलिए मनुष्य इस संसार का भी नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मनुष्य के लौकिक हित उसके शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और उसके पारलौकिक हित उसकी आत्मा से संबन्ध रखते हैं।" ऑगस्टाइन ने मनुष्य की द्विमुखी प्रवृत्ति को इसके मूल में स्वीकार किया, जिसमें वह सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की प्रवृत्ति के साथ निवास और संघर्ष करता है। मानव मात्र के हित और

स्वार्थ सांसारिक भौतिक से भी जुड़े हुए हैं और वहीं आत्मा के अस्तित्व के कारण वह आध्यात्मिक भी होता है। वस्तुतः मानव जीवन इन दोनों प्रवृत्तियों के द्वंद और संघर्ष से आगे बढ़ती है, जिसकी अंतिम नियति उस ईश्वरीय स्वरूप आत्मा में समाहित होना है। शरीर होने के कारण वह इस सांसारिक लौकिक राज्य का सदस्य है, जो तृष्णा से प्रेरित होकर कार्य करता है, वहीं वह आत्मा के कारण उस 'ईश्वरीय राज्य' का भी सदस्य है, जिसकी सदस्यता आत्मा की मुक्ति के लिए अनिवार्य है। ऑगस्टाइन के शरीर और आत्मा का यह दो नगरों का सिद्धांत हिन्दू धर्म दर्शन के स्वर्ग लोक और मृत्यु लोक की धारणा तथा गीता में श्री कृष्ण के द्वारा दिए उपदेश जिसमें शरीर और आत्मा को अलग-अलग करते हुए समस्त को उस पारलौकिक सत्ता के अधीन किया गया है, के काफी निकट प्रतीत होता है। ऑगस्टाइन, मानव इतिहास को इन दो राज्यों तथा समाजों के बीच में संघर्ष की एक कहानी समझता था जिन्हें वह क्रमशः 'आसुरी राज्य' तथा 'दैविक राज्य' ; कहकर पुकारता था। इस प्रकार के संघर्ष का वर्णन हिन्दू धर्म दर्शन में 'देवताओं और असुरों' के बीच संघर्ष' के रूप में अनेक संदर्भों में कहा गया है। ऑगस्टाइन के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप, सांसारिक या 'आसुरी राज्य' नाशवान है जबकि ईश्वरीय राज्य चिर स्थायी और पारलौकिक है। ऑगस्टाइन के अनुसार रोमन राज्य का पतन भी इसी सांसारिक राज्य की नश्वरता के कारण हुआ, जिससे हम अपनी कमियों को दूर कर ईश्वरीय राज्य की धारणा को पहचानते हुए, उस ईश्वरीय राज्य के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। ऑगस्टाइन के कल्पना के 'ईश्वरीय राज्य' में समस्त मानव जाति नहीं आती, अपितु उसमें वे ही लोग आते हैं जो इस चर्च के सदस्य हैं या थे। ऑगस्टाइन के इस प्रवर्तन के पीछे संभवतः यह प्रेरणा रही होगी कि, ईसाई धर्म और चर्च की स्वीकारोक्ति ज्यादा से ज्यादा हो सके और ईसाई धर्म का प्रचार हो, किन्तु चर्च की सदस्यता या ईसाई चर्च ही ईश्वरीय राज्य नहीं है।

ईश्वरीय राज्य में देवगण तथा वे स्वर्गीय आत्माएं भी सम्मिलित हैं जो इस पृथ्वी को छोड़ चुकी हैं, इस रूप में इसका स्वरूप चर्च से कहीं अधिक व्यापक है। तथापि ईश्वरीय राज्य का चर्च से इस रूप में घनिष्ठ संबंध है कि, चर्च की शिक्षाएं ही ईश्वरीय राज्य पर जाने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। ईश्वरीय राज्य जहाँ पारलौकिक और अमूर्त है, वहीं चर्च उसका लौकिक और मूर्त स्वरूप है। फॉस्टर ने इन दोनों के संबंधों का वर्णन बड़े स्पष्ट रूप में किया है 'चर्च ईश्वरीय नगर का वह विभाग है जिसमें वे सब सम्मिलित है, जो कि अभी अपनी विश्व-यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमें वे सब, जो कि 'ईश्वरीय राज्य' के सदस्य है, गुजर चूके हैं।' ऑगस्टाइन ने विश्वव्यापी ईसाई समाज के प्रस्ताव के लिए एक उर्वर भूमि तैयार की। ऑगस्टाइन ने यह कहा कि, प्रभु अपनी दया, चर्च के माध्यम से प्रेषित करते हैं और इस रूप में चर्च को ईश्वरीय राज्य और सांसारिक राज्य के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित करते हैं, जो कालांतर में सत्ता के सर्वाधिक शक्तिशाली केन्द्र के रूप में दिखायी देते हैं। ऑगस्टाइन के विचार ने प्राचीन विचार को पूर्णता प्रदान करते हुए, एक नए विचार और युग का सूत्रपात किया। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की समस्त अवधारणा 'ईश्वरीय राज्य' के ऊपर ही आधारित है। ऑगस्टाइन का यह दृढ़ विश्वास था कि, 'समस्त शक्तियां ईश्वर की दी हुई हैं।' उसका यह भी विश्वास था कि, शासन में बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनों नगरों को अलग मानते हुए भी दोनों को अलग नहीं किया। सांसारिक जीवन में ये दोनों समाज एक-दूसरे से मिले हुए हैं। वे केवल अंतिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होंगे। ऑगस्टाइन ने चर्च की श्रेष्ठता का समर्थन करते हुए लौकिक राज्य की अपेक्षा चर्च की महत्ता स्थापित की तथा आने वाले युग के राजनीतिक विचार को एक नया आयाम प्रदान किया।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएं (न्याय एव शांति)

ऑगस्टाइन के अनुसार न्याय तथा शांति ईश्वरीय राज्य के गुण हैं, इसलिए उनको केवल उसी समाज में प्राप्त किया जा सकता है जो कि ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है; उन्हें ऐसे समाज में प्राप्त नहीं किया जा सकता जो आसुरी राज्य का प्रतिनिधि हो। इस रूप में ऑगस्टाइन राज्यों में न्याय और शांति स्थापित करने के लिए प्रेरित करते हैं। ऑगस्टाइन के अनुसार ईसा के पूर्व के मूर्तिपूजक राज्यों में न्याय खोजना व्यर्थ है।

संत ऑगस्टाइन के ईश्वरीय नर की दो प्रमुख विशेषताएं (5) धर्म अथवा न्याय एवं (2) शांति हैं। ऑगस्टाइन, धर्म को व्यक्ति के कर्तव्य पालन से जोड़ते हैं तथा धर्म अथवा न्याय को व्यवस्था के पर्यायवाची के रूप में स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन के निर्वाह में निहित है। न्याय की यह संकल्पना, प्लेटो की न्याय की संकल्पना, जो कि कर्तव्य पालन में निहित है; के निकट प्रतीत होती है। ऑगस्टाइन का धर्म का सिद्धांत किसी सीमा में बंधा न होकर व्यापक है, जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज और लौकिक राज्य तक सम्मिलित हैं।

ऑगस्टाइन ने अपने सार्वभौमिक समाज को शांति के साम्राज्य का प्रतीक माना है। उसके द्वारा शांति के दो रूप माने गए हैं-

१.-सांसारिक शांति और

2-आध्यात्मिक शांति

सांसारिक शांति से तात्पर्य नियमित ढंग से जीवन के व्यवस्थापन से है, अर्थात् सांसारिक जीवन में सामंजस्य का होना, जिसमें व्यक्ति अपने सांसारिक हितों और उद्देश्यों का समायोजन करते हुए आगे बढ़ता है। परंतु आध्यात्मिक शांति का अर्थ व्यापक है, जिसमें ईश्वर में समाए हुए मनुष्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। जब लौकिक चेतना पारलौकिक चेतना के साथ एकाकार हो जाय, तब इस प्रकार की शांति स्थापित होती है। सांसारिक शांति का क्षेत्र संकुचित है, जबकि आध्यात्मिक शांति का क्षेत्र काफी व्यापक है। सांसारिक शांति व्यक्ति के स्थूल स्वरूप को संतुष्ट करती है किन्तु आध्यात्मिक शांति, व्यक्ति के चेतना के स्तर को संतुष्ट करती है। सांसारिक शांति विचार स्वतंत्रता पर एक प्रतिबंध लगाता है, जबकि आध्यात्मिक शांति चेतना का विस्तार करते हुए उसे स्वतः क्रियाशील बनाती है। आध्यात्मिक शांति व्यक्ति के आत्मिक शुद्धिकरण का मार्ग प्रशस्त करते हुए उसे दिव्य स्वरूप प्रदान करती है। ऑगस्टाइन की शांति, संपूर्ण विश्व की एक ईश्वरीय व्यवस्था है।

राज्य तथा सरकार

संत ऑगस्टाइन परंपरागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि, राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के कल्याण और उसकी समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में स्थापित किया है, अतः राज्य की आज्ञा का पालन करना मनुष्य का धर्म है। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों के कारण ही राज्य का निर्माण ईश्वर द्वारा किया गया है, अतः प्रत्येक राजा का यह दायित्व है कि, वह व्यक्ति को बुरी प्रवृत्तियों से दूर कर सन्मार्ग पर ले चले। राजा के इस दायित्व बोध के साथ ही उसे व्यक्ति को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए राज्य की समस्त शक्तियां प्राप्त होती हैं, जिसमें दण्डकारी विधान भी सम्मिलित है। ऑगस्टाइन का राज्य की दण्डकारी शक्ति का समर्थन, मनुस्मृति के राजा को दण्ड की शक्ति प्रदत्त करने की तरह है, जिसमें दण्ड को धर्म के अधीन करते हुए, राज्य की शक्तियों पर नैतिक नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। ऑगस्टाइन के अनुसार, राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु राज्य शैतान का राज्य है और राजा का यह नैतिक दायित्व है कि वह प्रजा को इस पाप के साम्राज्य से दूर ईश्वर के साम्राज्य की तरफ ले चले जो

कि नागरिक कर्तव्यों के पालन से ही संभव है। राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है। किन्तु मनु और ऑगस्टाइन में एक महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि, मनु जहाँ राज्य और राजा के दैवीय स्वरूप स्वीकार करते हुए, उसके विरोध की अनुमति किसी भी दशा में नहीं देते, वहीं ऑगस्टाइन यह मत स्पष्ट रूप से रखता है कि, जो आज्ञाएं धर्म के विरुद्ध हों, उनका पालन करने के लिए जनता बाध्य नहीं है, केवल उन्हीं आज्ञाओं का पालन किया जाना है जो धर्म सम्मत हों।

यूनानी दार्शनिकों और सिसरो आदि के इस विचार से ऑगस्टाइन ने असहमति प्रकट की है कि, राज्य का आधार न्याय है। ऑगस्टाइन के अनुसार, सांसारिक राज्य पर शैतान के स्वामित्व के कारण उसमें न्याय नहीं रह सकता, न्याय की स्थापना ईश्वर के राज्य अथवा दैवीय राज्य में ही संभव है। राज्य, चर्च के लिए इस रूप में आवश्यक है कि, चर्च की भूमि और भवन की व्यवस्था राज्य के द्वारा ही की जाती है।

सम्पत्ति एवं दासता सम्बंधी विचार

ऑगस्टाइन ने सम्पत्ति के अधिकारों का समर्थन करते हुए इसे एक परंपरागत संस्था माना है। ऑगस्टाइन की मान्यता है कि, सम्पत्ति के अधिकारों की प्राप्ति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है और सम्पत्ति के अभाव में व्यक्ति सांसारिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन नहीं कर सकता। शांति और व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से निजी सम्पत्ति आवश्यक है, किन्तु किसी भी व्यक्ति को उतनी ही रखने का अधिकार है, जितनी उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार ऑगस्टाइन सम्पत्ति के नैतिक नियमन के साथ सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उसके साथ जोड़ते हुए, सम्पत्ति के नकारात्मक प्रभावों को कम करने का यत्न करता हुआ प्रतीत होता है। व्यक्ति की आवश्यकता से अधिक की सम्पत्ति का उपयोग जन हित और जन कल्याण के उद्देश्यों के लिए होना चाहिए। ऑगस्टाइन द्वारा दासों को निजी सम्पत्ति के ही एक रूप में स्वीकार किया गया है, अतः उसने भी यूनानी दर्शन के चिंतकों की तरह दास प्रथा का समर्थन किया है। ऑगस्टाइन के अनुसार दासता, मनुष्य के पाप कर्मों का परिणाम है जो ईश्वर द्वारा दण्ड के रूप में दिया गया है, जिससे वह सन्मार्ग के मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त कर सके। मनुष्य जो पाप करता है, उसके प्रतिकार के रूप में उसे दासवृत्ति करनी पड़ती है। स्वामी की शुद्ध मन से सेवा ही उसे दास व्यवस्था से मुक्त कर सकती है। इस रूप में संत आगस्टाइन दासता को एक नैतिक-धार्मिक आधार के रूप में स्वीकार करता है जो कि व्यक्ति के अंतःकरण की शुद्धि से संबंधित है।

ऑगस्टाइन का प्रभाव

संत ऑगस्टाइन के विचारों ने यूरोपिय विचार जगत को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। संत ऑगस्टाइन के विचारों ने ईसाई धर्म को वो मजबूत आधार प्रदान किया जिससे कालांतर में सम्पूर्ण यूरोप सहित पूरे विश्व में ईसाई धर्म ने अपना अस्तित्व स्थापित करते हुए, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं को गहराई से प्रभावित किया। ऑगस्टाइन का सबसे महत्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का सिद्धांत है, जिसे कैथोलिक और प्रोटेस्टन्ट दोनों ही सम्प्रदायों ने एक समान रूप से स्वीकार किया है। ऑगस्टाइन के विचारों ने मध्ययुग को तो प्रभावित किया ही, साथ ही साथ आधुनिक युग भी उसके प्रभाव से अछूता न रह सका। ईसाई धर्म की आधारशिला को तार्किक परिणति के साथ स्थापित करने में ऑगस्टाइन की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही। गेटेल (हीस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट:503) ने ऑगस्टाइन के दर्शन के महत्व को दर्शाते हुए लिखा कि, “ऑगस्टाइन के कार्य का महत्व यह था कि, उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर संकट में एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की, उसके अस्तित्व को स्पष्टता और अपनापन दिया और उसके उद्देश्य को आत्म-चेतना मूलक बनाया।”

5.5 ग्रेगरी महान (540-604ई0)

संत अम्ब्रोज, और ऑगस्टाइन की परम्परा में अंतिम महत्वपूर्ण नाम संत ग्रेगरी महान का आता है। चर्च की स्वायत्तता और उसकी सर्वोच्चता के विचार को संत ग्रेगरी महान ने भी अपना समर्थन देते हुए आगे बढ़ाया। रोम के बिशप पद की शक्ति, गरिमा और गौरव बढ़ाने का श्रेय संत ग्रेगरी महान को जाता है। रोम के अत्यंत सम्भ्रांत और संपन्न कुल में जन्में, ग्रेगरी को उनके कानून की शिक्षा के कारण प्रारम्भ में रोम का प्रधान शासक ;त्तममिबजद्ध चुना गया, किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात वह ईसाई साधु हो गया और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और भूमि सात मठों को स्थापित करने हेतु दे दी। 590 ई0 में जब वह पोप चुना गया, उस समय इटली एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा अत्यंत गंभीर एवं शोचनीय रही। इटली के आंतरिक द्वंद जिसमें लाम्बार्ड लोग उत्पात मचा रहे थे, सेक्सन से इंग्लैण्ड परेशान था, ईसाईयत का हास हो रहा था। बिशप भी नैतिक पतन के शिकार हो गए थे। इन परिस्थितियों में संत ग्रेगरी रोम का कर्णधार बना रहा, जिसने लाम्बार्डों के खिलाफ, इटली की रक्षा करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका में न्याय तथा सुशासन के समर्थक के रूप में उसकी ख्याति में अत्यधिक विस्तार हुआ, जिसके प्रभाव से रोमन चर्च की प्रतिष्ठा बढ़ गई।

शासकों की दुर्बलता से उत्पन्न इटली की आंतरिक संघर्षों में बढ़ोत्तरी ने ग्रेगरी को राजनैतिक कर्तव्यों के लिए उन्मुख किया। उसने मध्य इटली की शासन व्यवस्था, अपने अधीन लेते हुए इटली के पादरियों को अनेक लोक कल्याण के कार्यों को करने हेतु प्रभावकारी परामर्श प्रदान किया। इटली के सम्राट ;मंतबीद्ध के प्रभाव के कारण रावेन्ना के ऑर्क बिशप ने पहले ग्रेगरी के परामर्श को मानने से इंकार कर दिया, किन्तु कुछ समय पश्चात उसने लिखा कि, 'मैं उस पवित्रतम पोप का विरोध कैसे कर सकता हूँ जो सार्वभौम चर्च को अपनी आज्ञाएं देता है।' संत ग्रेगरी ने पोप की प्रभुता और प्रभाव का व्यापक विस्तार कर दिया तथा पोप की शक्ति को व्यापक तौर पर स्वीकार्य बनाने में अपनी भूमिका निभायी। ग्रेगरी के हाथ में चर्च और राज्य दोनों की शक्ति थी, तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया, अपितु राजाज्ञा के पालन का समर्थन किया। ग्रेगरी ने अपने ग्रंथ 'पैस्टोरल रूल' में इस बात पर विचार किया है कि, अपने अनुयायियों को किस प्रकार की शिक्षा दें ? इस पुस्तक में यह भी जोर देकर कहा कि, प्रजाजनों को न केवल अपने शासकों की आज्ञाओं का पालन ही करना चाहिए, बल्कि उन्हें अपने शासकों के जीवन की न तो आलोचना करनी चाहिए और न ही उसके उसके संबंध में कोई निर्णय ही देना चाहिए। शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट से बड़ा केवल ईश्वर है और कोई नहीं। शासक के कार्य अंतिम रूप से ईश्वर तथा उसकी अंतरात्मा के बीच में है। इस प्रकार ग्रेगरी ने सम्राट को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए भी उसके ऊपर नैतिक नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा करते हुए उसे ईश्वर की सत्ता के अधीन करता है।

अभ्यास प्रश्न

1. यह किस संत का विचार था कि, ईसाई धर्म को सम्राट के अधीन संरक्षण की नहीं, अपितु सम्राट को ईसाई धर्म के अधीन रहना चाहिए ?
2. सिटी ऑफ गॉड के रचयिता कौन हैं ?
3. संत अम्ब्रोज कहां का बिशप था ?

4. किस विचारक ने यह मत स्थापित करने का यत्न किया कि, रोमन साम्राज्य का पतन, ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ?

5. सिटी ऑफ गॉड ग्रंथ कितने खंडों में है?

6. संत ग्रेगरी द्वारा रचित ग्रंथ का क्या नाम है?

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हमें यूनानी चिंतन के पश्चात के हुए तीव्र बदलावों तथा सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। एक धर्म के रूप में ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव और उसके विभिन्न चरणों को संत अम्ब्रोज, संत ऑगस्टाइन और संत ग्रेगरी महान के चिंतन में चरणबद्ध रूप से दृष्टिगत होता है।

5.7 शब्दावली

बिशप- ईसाई धर्म के धर्म गुरु।

सांसारिक नगर- संत ऑगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा जिसमें लौकिक राज्य को पाप के नगर अथवा सांसारिक नगर की संज्ञा दी गयी है। यह अवधारणा हिन्दू धर्म के पृथ्वी को पाप लोक के रूप में मानने की अवधारणा से मिलती जुलती है।

ईश्वरीय नगर- संत ऑगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा जिसमें लौकिक राज्य के अतिरिक्त ईश्वर के लोक अथवा अध्यात्मिक नगर की परिकल्पना की गयी है। यह अवधारणा हिन्दू धर्म के स्वर्ग की अवधारणा से मिलती जुलती है।

पोप- ईसाई धर्म के सर्वोच्च धर्म गुरु एवं विवेचक जो धर्म की व्याख्या करते हैं तथा यह माना जाता है कि वे ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में कार्य कर रहे हैं जिनका कार्य सभी को धर्म के मार्ग पर ले चलना है।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संत अम्ब्रोज, 2. संत ऑगस्टाइन, 3. मिलान, 4. संत ऑगस्टाइन, 5. सिटी ऑफ गॉड ग्रंथ 22 खंडों में है। 6. पैस्टोरल रूल (Pastoral Rule)

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-5, जे0 पी0 सूद

5.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, गेटेल

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की प्रभुता और स्वायत्तता स्थापित की। इस कथन की समीक्षा करें।
2. संत ऑगस्टाइन के सांसारिक नगर एवं ईश्वरीय नगर की धरण स्पष्ट करते हुए रोमन साम्राज्य पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करें।
3. संत ऑगस्टाइन के संपत्ति और दासता संबंधी विचारों की व्याख्या करें।
4. न्याय तथा शांति ईश्वरीय गुण है। ऑगस्टाइन के इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं?
5. ग्रेगरी महान द्वारा प्रतिपादित चर्च और राज्य के प्रति विचारों पर समीक्षात्मक टिप्पणी करें।

इकाई - 6 मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2. उद्देश्य

6.3. मध्ययुगीन चिन्तन की पृष्ठभूमि

6.4. मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं

6.5. सारांश

6.6. शब्दावली

6.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.8. संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.9. सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

6.10. निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

रोमन साम्राज्य के उत्तरार्द्ध की अवस्था में उसकी क्षीण और मलीन होती पृष्ठभूमि के मध्य तीव्र गति से बहुत से परिवर्तन दृष्टिगत हुए जो लम्बे अंतराल तक (लगभग 6500 वर्षों तक) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के केन्द्रीय तत्व रहे, जिसे सामान्य रूप से मध्ययुग की श्रेणी में रखा जाता है। सामान्यतया ट्यूटन जातियों की पश्चिम रोमन साम्राज्य पर विजय की घटना को 'मध्ययुग के प्रारम्भ' का संकेत माना जाता है। मध्ययुगीन राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन जितना ही बदलावों को अपने साथ लाया, उतना ही वह अस्पष्ट भी रहा। मध्ययुग की समयसीमा की अनिश्चितता भी इसके वैचारिक अस्पष्टता में झलकती है। इन स्थितियों में मध्ययुग में हो रहे बदलावों को उनके सामाजिक बदलावों की पृष्ठभूमि में समझना आवश्यक प्रतीत होने लगता है। मध्ययुग; प्राचीन और आधुनिक युग के बीच एक सेतु की तरह है जो विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और फलतः राजनीतिक परिवर्तनों का साक्षी है। सामान्य रूप से ईसा मसीह के जन्म से लेकर मैकियावेली तक के काल को मध्य युग के रूप में जाना जाता है। मध्ययुग के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन; आधुनिक युग के आधार के रूप में रहे जिसके नींव पर आधुनिक राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं विकसित हुईं। ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के साथ ही पाश्चात्य जगत में धर्म एक सांस्थानिक स्वरूप में दिखायी देने लगा। मध्य युग के सामाजिक और राजनैतिक संरचनाओं को सबसे ज्यादा यदि किसी तत्व ने प्रभावित किया तो वह ईसाई धर्म रहा। ईसाई धर्म के आविर्भाव ने यूनानी और रोमन प्रभाव के ऊपर अपना प्रभाव और वर्चस्व स्थापित कर नवीन सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- मध्य युगीन सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझ सकेंगे।
- मध्य युग पर ईसाई धर्म के राजनीतिक प्रभाव को बेहतर समझ सकेंगे।
- सामंतवाद के विकास और प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे।
- आधुनिक युग के विकास की पृष्ठभूमि को सुसंगत रूप में समझने में सहायता प्राप्त होगी।

6.2 मध्ययुगीन चिन्तन की पृष्ठभूमि

रोम में विशाल राजतंत्र और ईसाई धर्म की स्थापना दोनों ही समकालीन और समानांतर घटनाएं हैं, जिनसे मध्ययुग की दिशा निर्धारित हुयी। ईसाई धर्म द्वारा स्टोईक दर्शन के तत्वों को अंगीकृत करने के कारण, रोम में ईसाई धर्म के प्रसार को काफी सहायता प्राप्त हुयी, क्योंकि रोमन व्यवस्था स्टोईक दर्शन से काफी हद तक प्रभावित थी। प्रारम्भ में ईसाई धर्म का प्रभाव निम्न वर्ग तक ही सीमित रहा, किन्तु कालांतर में ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव, चर्च की मजबूत होती स्थिति और सम्राटों की क्षीण होती स्थिति ने शासक और उच्च वर्ग को भी रणनीतिक और राजनैतिक तौर पर बाध्य किया कि वो ईसाई धर्म के शरण में आ जाएं। कालांतर में यह रोम के राजकीय धर्म के रूप में स्थापित हो गया। ईसाई धर्म ने यूनानी चिन्तन के दासता के सिद्धांत के समर्थन के विपरीत, स्टोईक दर्शन के मानवीय समानता के सिद्धांत को आधार बनाते हुए, उसका प्रसार किया जिसको तत्कालीन परिस्थितियों में बहुत बल प्राप्त हुआ और बहुतायत में लोग इसकी ओर आकृष्ट हुए। मध्ययुग के प्रवाह को निर्धारित करने वाली शक्तियां निम्नवत दिखायी देती हैं-

1. रोमन विचारधारा की शक्ति, 2. ईसाई धर्म और चर्च की शक्ति, 3. बर्बर जातियों की शक्ति,
4. सामंतवाद तथा, 5. राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय।

इनके अतिरिक्त भी कुछ और तत्वों की पहचान की जा सकती है, लेकिन सामान्य रूप से ये तत्व ही मध्ययुगीन व्यवस्था के आधार रहे, जिसने उसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। यहूदी विचारकों का प्रभाव भी कुछ हद तक मध्ययुगीन व्यवस्था पर दृष्टिगत होता है।

रोमन साम्राज्य के विकास ने मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला। रोमन राजनीति, स्टोईक दर्शन से बहुत प्रभावित रही जिसने रोम में ईसाई धर्म के विकास के लिए उर्वर भूमि उपलब्ध कराया। चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बर्बर ट्यूटन जातियों को रोमन साम्राज्य रोक पाने में विफल रहा। ट्यूटनों ने रोमन शासन व्यवस्था को ही छिन्न भिन्न नहीं किया, अपितु उसकी सामाजिक संरचनाओं को भी गहरा आघात पहुँचाया। ट्यूटनों के बीच किसी कुशल शासक के अभाव अथवा संभवतः उनकी राजनैतिक दृष्टि (जिसमें अलग-अलग जाति समूहों की अपनी व्यवस्था होती) के कारण, रोम में वो अपनी शासन सत्ता स्थापित नहीं कर सके। सम्राट कॉन्स्टेन्टीन ने रोम से अपनी राजधानी हटाकर कुस्तुनतुनिया में बना ली। ट्यूटनों की राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव यद्यपि रोम की जनता पर शुरूआती रूप में दिखायी नहीं देता तथापि कालांतर में पाश्चात्य राजनीतिक धारा में व्यक्तिवाद, सामंतवाद और कुछ हद तक लोकतंत्र भी इसके प्रभाव और परिणाम के रूप में परिलक्षित होता है।

रोमनों ने यहूदियों से जो कुछ लेकर पाश्चात्य जगत को दिया, वह प्लेटो और अरस्तू की दर्शन धारा नहीं थी, अपितु स्टोइक दर्शन के विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून और विश्व नागरिकता के सिद्धांत थे। इसी सिद्धांत की अभिव्यक्ति के रूप में विशाल रोमन साम्राज्य दिखायी देता है जो एशिया माइनर से लेकर भूमध्य सागर और उत्तरी सागर के मध्य रहने वाली जातियों को एक विश्वव्यापी कानून तथा संस्कृति के अधीन ले आया। इसका नकारात्मक पक्ष यह रहा कि, विजित जातियों को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए रोम की कानून व्यवस्था, अनुशासन और एकता पर बल देना पड़ा जिसमें कहीं न कहीं लोकतंत्र की भावना हाशिए पर चली गयी। यूनानी और रोमन वैचारिक भिन्नताओं के बावजूद एक सूत्र दोनों में साझा दिखायी देता है जिसके कारण इसे यूनानी-रोमन संस्कृति का नाम दिया गया। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि, धर्म उनके लिए राज्य का ही एक उपकरण था। व्यक्ति के जीवन में उनकी सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओं से पृथक, धार्मिक हितों को पृथक और स्वतंत्र स्थान प्रदान नहीं किया गया। यूनानी रोमन युग की यह मौलिक धर्मनिरपेक्ष एकता ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ शनैः शनैः क्षीण होती गयी, जो आधुनिक युग में मैकियावेली के द्वारा प्रतिपादित धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के साथ पुनः अस्तित्व में आयी। ईसाई धर्म ने स्पष्ट रूप से मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची।

यूनानी दर्शन के कल्पनावादी तत्व और विभेदकारी सामाजिक व्यवस्था (दास व्यवस्था) के समर्थन के विचार तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध न हो सके और कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत न कर सके जो तत्कालीन जनमानस के आकांक्षाओं और हितों के राजनीतिक विकल्प के रूप में स्थापित हो सके। इन परिस्थितियों में स्टोइक दर्शन के मूलभूत तत्वों जो कि, मानवीय समानता, बंधुत्व और विश्व-नागरिकता पर अवलम्बित था को एक आध्यात्मिक स्वरूप ईसाई धर्म के आवरण में प्राप्त हुआ। बर्बर जातियों के अत्याचार के मध्य ईसाई धर्म द्वारा प्रेम और बंधुत्व की बात आम जनमानस में एक आशा की किरण जगाती थी। ईसाई धर्म ने स्पष्ट रूप से मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक जीवन के मध्य एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींचा। शारिरिक और भौतिक हितों तथा आत्मिक और आध्यात्मिक हितों का अलगाव कर अलग अलग व्यवस्था की वकालत करते हुए आध्यात्मिक पक्ष के प्रभुत्व को ईसाई धर्म ने स्थापित किया। आध्यात्मिक पक्ष पर अत्यधिक बल देने के कारण ही कालांतर में चर्च और पोप का राजनैतिक अस्तित्व गहराई से स्थापित होता चला गया और पोप तथा चर्च, परोक्ष शासन के तंतु और तंत्र विकसित करते चले गए।

यूनानी चिन्तन के पराभव के साथ ही यूनानी चिंतन से प्रभावित प्रचलित सामाजिक व्यवस्था में भी आमूल बदलाव दिखायी देता है। यूनानी चिंतन जिस कारण से कालांतर में अपनी प्रासंगिकता खोता गया, वह था बर्बर जातियों का रोमन और यूनानी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था पर आक्रमण। बर्बर जातियों ने आक्रमण के द्वारा न सिर्फ रोमन प्रभुत्व को चुनौती दी, अपितु पुरानी व्यवस्थाओं को

छिन्न भिन्न करते हुए एक नयी प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को जन्म दिया। यूरोप के वर्तमान राज्यों में अधिकांश का निर्माण इन्हीं जातियों के द्वारा हुआ जिसमें इनके राजनैतिक विचारों की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इन जातियों में प्रमुख रूप से फ्रैंक, सैक्शन, एगल, लाम्बार्ड, वर्मेण्डियन, वडाल, सुएव आदि जातियां थीं। इन जातियों के राजनैतिक और रणनीतिक विचारों के रोमन विचारधारा के सम्मिश्रण और क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था का जन्म हुआ, जो मध्ययुग की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही। इन जातियों द्वारा जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों को सृजित किया गया, वो निम्नवत हैं-

1. वैयक्तिक स्वतंत्रता- ट्यूटन जाति के लोग, योद्धा प्रवृत्ति के होने के कारण, राज्य की तुलना में व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करते थे। राज्य उनके लिए गौड़ था, जबकि व्यक्ति महत्वपूर्ण; संभवतः इसी कारण से किसी एक केन्द्रीय सत्ता का विकास नहीं हो सका। इन जातियों में अपराधी को दण्ड देने का अधिकार भी उसी व्यक्ति को था जिसके विरुद्ध अपराध हुआ हो। इन जातियों के प्रारम्भिक शासन व्यवस्था में लोकतंत्र के तत्व दिखायी देते हैं।

2. प्रतिनिधि शासन व्यवस्था- यूरोप में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था का विचार भी ट्यूटन जातियों की देन है। प्रारम्भ में ट्यूटन लोगों की दो प्रकार की सभाएं थीं- राष्ट्रीय सभा और स्थानीय प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीय सभा में जन-जाति के समस्त स्वतंत्र सदस्य होते थे। यह सभा मुखिया के चयन, प्रस्तावों पर निर्णय तथा कभी-कभी विशेष मुकदमों की सुनवाई और निर्णयन का कार्य करती थी। राजतंत्र की स्थापना के साथ ही इस सभा का लोप हो गया। स्थानीय प्रशासन और व्यवस्था के निमित्त, स्थानीय प्रतिनिधि सभा कार्य करती थी। इन संस्थाओं का अस्तित्व, मध्ययुग के अंत तक विद्यमान रहा। इंग्लैण्ड में संसदीय व्यवस्था के विकास के पीछे, इसकी प्रेरणा महसूस की जा सकती है।

3. वैध शासन और कानून का विचार- इन जातियों की मान्यता थी कि, कानून का निर्माण जनता की इच्छा पर है अर्थात् विधि पूर्ण शासन वह है जो जनता की इच्छा द्वारा हो, राज्य द्वारा आरोपित न हो। कानून राज्य का विषय न होकर, जाति विशेष या कबीले की विषय वस्तु हुआ करता था, जो उसे एकता के सूत्र में बांधने का कार्य भी करता था। इन जातियों ने रोमन कानून को स्वीकार न करके, अपनी प्रचलित परम्परा और रीतियों को ही कानून का आधार माना।

मध्ययुगीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की जितनी स्पष्ट पहचान सामंतवाद के रूप में है उतना किसी और तत्व के रूप में नहीं है। सामंतवाद, बर्बर जातियों और रोमन साम्राज्य के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ। सेबाइन के अनुसार, "सामंतवादी संस्थान मध्ययुग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाए हुए थे, जितने नगर-राज्य प्राचीन काल पर।" सामंतवाद की प्रवृत्ति न सिर्फ पाश्चात्य जगत की विशेषता थी, अपितु

इसके लक्षण सर्वव्यापी रूप में हर ओर दिखायी देते हैं। रोमन साम्राज्य के पराभव से उत्पन्न अराजकता ने सामंतवाद के विकास के लिए उर्वर भूमि प्रदत्त किया। नौवीं शताब्दी से लेकर औद्योगिक विकास और आधुनिक युग की शुरुआत तक सामंतवाद की प्रवृत्ति, मध्ययुग की विशेषता रही। वस्तुतः यूरोप में व्याप्त अराजकता को दूर कर पाने में सक्षम सत्ता के अभाव और व्याप्त अराजकता के मध्य, सामंती व्यवस्था ने शान्ति व्यवस्था को बनाए रखने और जनजीवन को सुरक्षित को सुरक्षा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सी० एफ० स्ट्रांग के शब्दों में, "सामंतवाद, एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद तक सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतः स्वीकृत रूप में व्यवस्थित था।"

सामंतवाद का संगठन, एक पिरामिड की भाँति था जिसके शीर्ष पर राजा हुआ करता था तथा जिसके नीचे प्रधान सामंत, उप-सामंत आदि हुआ करते थे। उप-सामंत के अधीन छोटे सामंत हुआ करते थे। ड्यूक काउंट, मार्गेन, ऑर्कबिशप, बिशप आदि प्रधान सामंत हुआ करते थे जो सीधे राजा के अधीन हुआ करते थे, वे अधिकांशतः उन्ही शर्तों पर काउंट, वाई-काउंट आदि उप सामंतों को भूमि का वितरण किया करते थे, जिन शर्तों पर राजा उन्हें अपनी भूमि विभाजित करता था। उप-सामंत भी उन्हीं शर्तों पर यह भूमि नाइट्स कहलाने वाले छोटे सामंतों में वितरित कर दिया करते थे।

सामंतवादी संगठनात्मक संरचना

सामंतवाद की प्रमुखतः दो प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं - एक था राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। राजनीतिक सामंतवाद विकेन्द्रीकरण के रूप में प्रकट हुआ जिसके अंतर्गत सुरक्षा, न्याय, सैन्य व्यवस्था आदि महत्वपूर्ण कार्य राजा द्वारा न होकर सामंतों द्वारा हुआ करते थे। सामंतवाद की आर्थिक प्रवृत्ति भूमि के वितरण और उससे प्राप्त राजस्व संग्रह तथा अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं से संबंधित था। इस व्यवस्था में भूमि जोतने वाला उस भूमि को किसी दूसरे से जागीर ;थपमद्धि के रूप में प्राप्त करता था। भूमि का वास्तविक स्वामी राजा हुआ करता था, शेष उस भूमि को राजा से क्रमानुक्रम में प्राप्त किया करते थे। सामंतवादी व्यवस्था में जनता का राजा से और राजा का जनता से कोई सीधा संबंध नहीं होता था। सामंतवादी व्यवस्था में सामंती दरबार का विशेष महत्व हुआ करता था जो महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय के साथ ही अधिपति (राजा) और सामंतों के मध्य विवादों की सुनवाई और निपटारा किया करता था। सामंती दरबार, सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक सामंत को यह गारण्टी देता था कि, विशेष करारों या चार्टरों और कानून के अनुसार उसके मामले की सुनवाई की जाएगी। इस रूप में सामंतवाद ही मध्ययुग के सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था का केन्द्र बना रहा जिसने कालांतर में आधुनिक युग की अनेक व्यवस्थाओं को प्रभावित करते हुए नवीन संरचनाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

मध्ययुग के राजनैतिक चिन्तन को राष्ट्रीयता की भावना ने भी गहराई से प्रभावित किया। जिन प्रदेशों में सांस्कृतिक और भाषायी समानताएं विद्यमान थीं वहां राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के प्रयत्न

दिखायी देने लगे। चर्च और पोप जिन कारणों से एक राजनैतिक विकल्प के रूप में विद्यमान थे, वो कमियां स्वयं उनमें दिखायी देने लगीं। चर्च और पोप के मानवीय सिद्धांतों यथा प्रेम, भ्रातृत्व आदि को हाशिए पर करने और मानवीय जीवन में अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण, मजबूत राज्य और राष्ट्र की महत्ता पुनः स्थापित हुयी और आम जनमानस के मानस पटल पर राष्ट्रीयता की भावना का विकास बहुत तीव्र गति से हुआ।

6.3 मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं-

यद्यपि मध्ययुग को अंधकार और निस्तेज युग की संज्ञा दी जाती है तथापि कोई नवीन वैचारिक दार्शनिक प्रगति न होने के बावजूद, यह सर्वथा निष्फल नहीं रहा। मध्ययुग की पृष्ठभूमि में ही आधुनिक काल के अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन दिखायी देते हैं- चाहे वह वैचारिक हो अथवा भौतिक। मध्ययुग ने यूरोपीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हुए आधुनिक युग का शिलान्यास किया। पाश्चात्य जगत के विकास में मध्ययुग की भूमिका का सुंदर वर्णन प्रो० आडम्स ने इस प्रकार किया है: "मध्ययुग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नहीं था, बल्कि विविध जातीय तथा परस्पर विरोधी तत्वों में से, जोकि इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकताबद्ध तथा सजातीय संसार का निर्माण करना था, और इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक स्थिति जुटाई जो कि प्राचीन काल वालों के लिए संभव नहीं था।" मध्ययुग की प्रमुख विशेषताओं को निम्नवत पहचाना जा सकता है-

1. केन्द्रीय सत्ता का अभाव

मध्ययुगीन व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि, यूनानी राजचिंतन की विफलता और रोमन साम्राज्य की कमजोरियों के फलस्वरूप जो अव्यवस्था और संक्रमण का दौर प्रारम्भ हुआ वह बर्बर जातियों के अत्याचार और उनकी राजनैतिक दृष्टि के कारण और अधिक अस्त व्यस्त हो गया। बर्बर जातियों की व्यक्ति केन्द्रित महत्ता और जाति समूहों को महत्व देने के कारण राज्य की स्थिति गौण हो गयी। बर्बर जातियों के मध्य किसी कुशल शासक की कमी, रोमन साम्राज्य की कमजोरी, चर्च और पोप के बढ़ते हुए प्रभाव, सामंतों की शक्तिशाली स्थिति आदि कुछ ऐसे कारण रहे, जिनके फलस्वरूप केन्द्रीय सत्ता का विकास नहीं हो पाया। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में मध्ययुग की व्यवस्थागत संरचना जो एक मजबूत राजनीतिक तंत्र की स्थापना करता, शनै शनै कमजोर होता चला गया।

2. अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण

रोमन साम्राज्य के एक लम्बे शांति के दौर के पश्चात अशान्ति और अव्यवस्था ने पूरे यूरोपीय जगत को अपने ग्रास में ले लिया। यूनानी राजनैतिक चिंतन की विफलता से उपजा हुआ क्षोभ, रोमन

साम्राज्य की विलासिता और उसकी कमजोरियों के कारण दुर्दान्त बर्बर जातियों को रोक पाने की विफलता और बर्बर जातियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार और आक्रमण ने पूरे पाश्चात्य जगत में अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण स्थापित कर दिया। इस अशान्ति और अव्यवस्था की स्थिति के कारण मध्ययुग में किसी भी रूप में राजनीतिक चेतना और सशक्त राजनीतिक सामर्थ्य का विकास नहीं हो पाया जो मध्ययुग को एक सकारात्मक राजनीतिक दिशा दे सके।

3. धर्म की श्रेष्ठता एवं चर्च तथा पोप का प्रभुत्व

यूनानी चिन्तन के पराभव और संक्रमण काल के मध्य ईसाई धर्म के अभ्युदय ने जो आशा की किरण आम जन-मानस में जगायी, वह एक बेहतर जीवन की उम्मीद में अपना प्रभाव तीव्र गति से स्थापित कर पाने में सफल ही नहीं रही अपितु राजनैतिक और सामाजिक स्तरों पर भी अपना प्रभुत्व गहराई से स्थापित किया। बर्बर जातियों के आक्रमण और अत्याचारों के बावजूद, ईसाई धर्म का प्रसार तीव्र गति से हो रहा था। दूसरे संदर्भों में बर्बर जातियों के आततायी व्यवहार ने इसके पुष्पित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इतना ही नहीं, अपितु शनै शनै बर्बर जातियां भी ईसाई धर्म के प्रभाव में आती चली गयीं।

प्रारम्भ में चर्च का संगठन पूर्णतया स्थानीय प्रकृति का था और इसका स्वरूप भी काफी हद तक लोकतांत्रिक था। रोम के स्थानीय क्षेत्रों में चर्च तथा बिशप प्रभावशाली होते जा रहे थे। प्रारम्भिक अवस्था में चर्च और पोप सम्राट के प्रश्रय के अधीन थे किन्तु कालांतर में सम्राट की स्थिति कमजोर होने, सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन के कुस्तुनतुनिया चले जाने के फलस्वरूप, पश्चिम रोम में और धीरे धीरे पूरे यूरोप में चर्च और पोप का प्रभाव निरंतर बढ़ता चला गया। चर्च और पोप; पारलौकिक और आध्यात्मिक विषयों के इतर राज्य और उसके लौकिक मामलों में प्रभावी भूमिका में आ गए। पोप सम्राट के धार्मिक सलाहकार की स्थिति से प्रभावी और वास्तविक शासक की भूमिका में आ गए। इन स्थितियों में रोम का बिशप सर्वाधिक शक्तिशाली भूमिका में आ गया और इसी के अनुरूप चर्च के केन्द्रीय संगठन का गठन और विस्तार होने लगा। रोमन चर्च, अन्य प्रादेशिक एवं स्थानीय चर्चों को आर्थिक सहायता भी देता था, इस प्रकार धीरे धीरे वह समस्त चर्चों का प्रधान चर्च बन गया। चर्च के सिद्धांतों और नियमन के निमित्त एक चर्च सरकार की स्थापना हो गयी, जिसमें धार्मिक विवादों पर अंतिम अपील निर्यात रोम का बिशप देता था जो चर्च परिषद की सलाह से कार्य किया करता था। रोमन बिशप की बढ़ती हुयी शक्ति के कारण उसे पोप के पद से विभूषित किया गया। रोमन साम्राज्य की एकता की धारणा धीरे धीरे रोमन चर्च की एकता में परिणीत हो गयी। लोम्बार्ड जातियों को पराजित करने में सफलता और शार्लमैन को रोम का सम्राट घोषित करने के पश्चात चर्च की शक्ति में अत्यधिक विस्तार हो गया। शार्लमैन की मृत्यु के पश्चात, रोम की स्थिति पुनः कमजोर होने लगी। 962 ई० में जर्मनी के राजा ओटो (वज्जव) द्वारा इटली पर अधिकार कर लेने पर, पोप ने ओटो (वज्जव) को रोम का सम्राट घोषित कर दिया, जिसके साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की

स्थापना हो गयी। चर्च और पोप के बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप मध्ययुग के अधिकांश कालक्रम में स्वतंत्र राजनैतिक चिंतन के विकास का मार्ग अवरूद्ध हो गया।

4. क्रमबद्ध राजनीतिक विचारों का अभाव

डनिंग ने लिखा है कि, मध्ययुग अराजनीतिक था। इसी कथन को गैटल ने और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मध्ययुग अनिवार्यतः इन अर्थों में अराजनीतिक था कि राजनीतिशास्त्र और राजदर्शन को शोध का अलग अलग विषय नहीं माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि राजसत्ता, मुख्यतः धर्मसत्ता के अधीन थी।

राजनीतिशास्त्र और सिद्धांत के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा, कालांतर में धर्मसत्ता का असहिष्णु होना रहा। ईसाई धर्म के अंधविश्वास के विरुद्ध कोई भी नयी बात कहने और लिखने का साहस नहीं था; धर्म ने स्वतंत्र विचारधारा पर एक अघोषित प्रतिबंध लगा दिया था। नवीन विचारधारा के अभाव में कोई नयी दृष्टि और नयी विचार सृजनात्मकता बाहर नहीं आ पायी। इन स्थितियों में वैचारिक क्रमबद्धता का अभाव, इस युग में हर क्षेत्र में दिखायी देता है और राजनीतिक चिंतन भी इसका अपवाद नहीं रहा। इन्हीं कारणों से वर्षों तक कॉपरनिकस अपना वैज्ञानिक मत कि, पृथ्वी अपनी धुरी पर घुमती है, प्रकट नहीं कर सका। ब्रूनो, गैलिलियो जैसे तमाम वैज्ञानिक इस मध्ययुगीन कट्टरता की भेंट चढ़ गए। पोप ने ऐसे सत्त्यों के अध्ययन तथा भाषणों पर प्रतिबंध लगा दिया जो कि ईसाई धर्म ग्रंथों तथा बाइबिल के विपरीत हों। इस प्रकार स्वतंत्र विचार चेतना को दबा दिया गया। स्वतंत्र वैचारिकी के अभाव में राजनीतिक विचारों का क्रमबद्ध विकास नहीं हुआ, अपितु अनेक प्राचीन विचारों को ही नए स्वरूप में देखा गया।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों की पद्धति पर्यवेक्षणात्मक ; वृद्धमतअंजपवदंसद्ध नहीं थी। इसका आशय यह है कि वे वास्तविक दशाओं का अध्ययन करके समस्याओं का समाधान निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे। मध्ययुगीन विचारकों पर धार्मिक विचारों का प्रभाव परिलक्षित था, जिसके कारण अलग-अलग परिस्थितियों के आलोक में अलग-अलग धार्मिक संदर्भों और विचारों के आधार पर समाधान प्रस्तुत करने के कारण वैचारिक तारतम्यता का अभाव दिखायी देता था, जिसके कारण मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन एक क्रमबद्ध और व्यवस्थित स्वरूप में नहीं आ सका। राजनीतिक विचारों की भिन्न भिन्न स्थितियों के कारण उसके भिन्न भिन्न स्रोत भी रहे जिसमें प्रमुख रूप से (6) बाइबिल (2) यूनानी और रोमन विचार तथा (3) ईसाई पादरियों के लेख/निर्देश आदि प्रमुख रहे। इस प्रकार मध्ययुग की विचार पद्धति अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अनालोचनात्मक, अपर्यवेक्षणात्मक और एकांगी रही। राज्य और राजनीति के सिद्धांत और व्यवहार में बड़ा अंतर आ गया।

5. धर्म और राज्य का संघर्ष (दो तलवारों का सिद्धांत)

यूनानी तथा रोमन राजनैतिक विचारों के अंतर्गत राज्य और धर्म के बीच कोई भेद नहीं था और व्यक्ति के निष्ठा का एकमात्र केन्द्र राज्य था। इसका एक कारण यह भी था कि, जिन देवताओं की अराधना यूनानी-रोमन किया करते थे वो राज्य के देवता हुआ करते थे। रोम में ईसाई धर्म के प्रभाव और विस्तार तथा कालांतर में संत आगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित दो नगरों के सिद्धांत ने लौकिक और पारलौकिक सत्ता के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दिया, जो कालांतर में लौकिक सत्ता के मामले में भी चर्च के बढ़ते हुए प्रभाव का कारण बना। आगस्टाइन ने दैवी सत्ता की प्रभुता को राज्य की सत्ता के ऊपर स्थापित किया और धीरे धीरे चर्च सरकार और पोप की भूमिका बढ़ती चली गयी। मध्ययुग में मानव की इस द्विविध निष्ठा के सिद्धांत का राजनीतिक चिंतन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। चर्च के बढ़ते हुए प्रभाव और हस्तक्षेप के फलस्वरूप राज्य और धर्म में प्रत्यक्ष और परोक्ष संघर्ष, मध्ययुग की विशिष्टता रही, जिसमें दो तलवारों के सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है। दो तलवारों के सिद्धांत का सबसे अधिक अधिकारपूर्ण वर्णन पोप गैलेसियस प्रथम ने किया है, जिसकी धारणा थी कि धर्म सिद्धांत के विषय में सम्राट को अपनी इच्छा चर्च के अधीन रखनी चाहिए, ऐसे विषयों में उसका कर्तव्य पादरियों से कुछ सीखना है, उन्हें सिखाना नहीं; सांसारिक विषयों के संबंध में पादरियों को सम्राट के बनाए कानूनों का पालन करना चाहिए। द्विविध निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि, चर्च राज्य हो गया और राज्य चर्च हो गया, जिसमें कालांतर में राज्य की स्थिति गौण हो गयी।

अभ्यास प्रश्न

1. ईसाई धर्म किस दर्शन से प्रभावित था ?
2. किस ईसाई धर्मोपदेशक ने दो नगरों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया ?
3. सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने अपनी राजधानी रोम से हटा कर कहाँ स्थापित की ?
4. सामंतवाद की दो प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं ?
5. दो तलवारों के सिद्धांत का प्रमुखता से प्रतिपादन किसने किया ?
6. किस राजा को रोम का सम्राट घोषित करने के साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना मानी जाती है ?

6.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हमें यूनानी चिंतन के पश्चात के हुए तीव्र बदलावों तथा सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझने में सहायता प्राप्त होती है जिनसे मध्ययुग का प्रादुर्भाव माना जाता है। तीव्र सामाजिक बदलावों के संदर्भ में ईसाई धर्म ने किन कारणों और परिस्थितियों में अपना प्रभाव और प्रभुत्व स्थापित किया; उसके विभिन्न कारणों को जान पाने में सहायता प्राप्त होती है। इस इकाई के अध्ययन से ही विभिन्न बर्बर जातियों और रोमन-यूनानी विचारों के सम्मिश्रण से

उत्पन्न होने वाली नवीन व्यवस्था को समझने में सहायता प्राप्त होती है। सामंतवाद की प्रवृत्तियों और कारणों की पड़ताल के साथ ही आधुनिक युग के विकास की पृष्ठभूमि को भी जानने में सहायता प्राप्त होती है। इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम समग्रता में मध्ययुग को जान और समझ पाते हैं।

6.6 शब्दावली

बिशप- ईसाई धर्म के धर्म गुरु।

सामंतवाद- सामंतवाद, बर्बर जातियों और रोमन साम्राज्य के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के रूप में विकसित एक संरचना था। सामंतवादी व्यवस्था में संगठनात्मक ढांचा एक पिरामिड की तरह था, जिसके सर्वोच्च शिखर पर राजा और अंतिम पायदान पर जनता हुआ करती थी।

राष्ट्रीयता- एक समान भाषायी और सांस्कृतिक समरूपता वाले जातियों को एकता के सूत्र में पिरोकर एक निश्चित भूभाग के प्रति सर्वोच्च निष्ठा जागृत करना राष्ट्रीयता है।

पोप- ईसाई धर्म के सर्वोच्च धर्म गुरु एवं विवेचक जो धर्म की व्याख्या करते हैं तथा यह माना जाता है कि वे ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में कार्य कर रहे हैं जिनका कार्य सभी को धर्म के मार्ग पर ले चलना है।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ईसाई धर्म स्टोइक दर्शन दर्शन से प्रभावित था। 2. संत अम्ब्रोज ने दो नगरों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
3. सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने अपनी राजधानी रोम से हटा कर कुस्तुनतुनिया में स्थापित की।
4. सामंतवाद की दो प्रमुख प्रवृत्तियां राजनीतिक और आर्थिक सामंतवाद के रूप में रहीं।
5. पोप गैलेसियस प्रथम ने दो तलवारों के सिद्धांत का प्रमुखता से प्रतिपादन किया।
6. जर्मनी के राजा ओटो (वज्जव) को रोम का सम्राट घोषित करने के साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना मानी जाती है।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा

3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-6, जे0 पी0 सूद

4. मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन, गुप्ता एवं चतुर्वेदी

6.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट

2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर

3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, गेटेल

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. मध्ययुग संक्रमण और अंधकार का युग था। इस कथन की समीक्षा करें।

2. मध्ययुग की विशेषताओं का विवेचन करते हुए, चर्च के प्रभाव पर टिप्पणी करें।

3. सामंतवाद की प्रवृत्ति लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास की पूर्वपीठिका थी। इस कथन की समीक्षा करें।

4. दो तलवारों के सिद्धांत की व्याख्या करें।

5. मध्ययुगीन प्रवृत्तियां, आधुनिक युग के विकास का आधार थीं। इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

ईकाई संरचना 7: टामस एक्विनास मार्सीलियो आफ पेडुआ

ईकाई की संरचना

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 उद्देश्य
- 7.3 टामस एक्विनास, मार्सीलियो आफ पेडुआ के विचार
- 7.4 मार्सीलियो के राजनीतिक विचार
 - 7.4.1 मार्सीलियो के राज्य संबंधी विचार
 - 7.4.2 शासन संबंधी विचार
 - 7.4.3 कानून संबंधी विचार
 - 7.4.4 चर्च संबंधी विचार
 - 7.4.5 मूल्यांकन
- 7.5 थामस एक्विनास के राजनैतिक विचार
 - 7.5.1 राज्य संबंधी विचार
 - 7.5.2 शासन संबंधी विचार
 - 7.5.3 राज्य के कार्य
 - 7.5.4 राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता में सम्बन्ध
 - 7.5.5 कानून संबंधी विचार
 - 7.5.6 न्याय संबंधी धारणा
 - 7.5.7 दासता संबंधी विचार
 - 7.5.8 मूल्यांकन
- 7.6 सारांश
- 7.7 शब्दावली
- 7.8 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर
- 7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

मध्य युग को राजनीतिक चिन्तन का 'अंधकार युग' कहा जाता है। यह ऐसा समय था जब चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष चल रहा था। घोर अनिश्चितता, अस्थिरता का दौर था। जन सामान्य दो चक्कियों के बीच पिस रहा था। इसी समय आगस्ताइन, मार्सीलियो तथा एक्वीनास जैसे विचारकों ने अंधेरे में नई रोशनी का संचार किया। इन्होंने राजनीति के विभिन्न विषयों राज्य की उत्पत्ति, राज्य के कार्य, शासन प्रणाली, दण्ड, कानून तथा चर्च एवं राज्य के संबंध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

इसके पूर्व अनिश्चितता के माहौल में तर्क के ऊपर अंधश्रद्धा प्रभावी हो गई थी। इनके आने के बाद से तर्क पुनः प्रभावी हुआ और धीरे-धीरे अंधेरा छटा। इन तीनों विचारकों ने पोप एवं चर्च को सीमित करने का प्रयास किया। इन तीनों ने दो सत्ताओं को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। जहां आगस्ताइन एवं एक्वीनास का रवैया चर्च के प्रति नर्म है। वे राज्य को चर्च के अधीन मानते हैं। परन्तु वहीं मार्सीलियो ने चर्च को राज्य के अधीन सिद्ध कर दिया। ये तीनों विचारक इस दृष्टि से और महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि वे पहले बार चर्च एवं राज्य के बीच संबंधों की न केवल तार्किक व्याख्या करते हैं वरन् वे शासन के अन्य पहलुओं जैसे दण्ड, कानून, राज्य की उत्पत्ति आदि पर महत्वपूर्ण विचार रख एक नये उजाले और नये युग का सूत्रपात करते हैं।

7.2 उद्देश्य

- 1 मध्य युग के राजनैतिक व्यवस्था से परिचित कराना।
2. इस अध्याय के द्वारा आगस्ताइन के राजनैतिक विचारों का अध्ययन करना।
3. मार्सीलियो के चर्च एवं राज्य संबंधी महत्वपूर्ण विचारों का अध्ययन करना।
4. एक्वीनास के राजनीतिक विचारों तथा कानून के सिद्धान्त का अध्ययन करना।

7.3 टामस एक्वीनास, मार्सीलियो आफ पेडुआ के विचार

इस इकाई में हम आगस्टाइन, मार्सीलियो तथा एक्वीनास के राजनीतिक विचारों का क्रमशः अध्ययन करेंगे जो इस प्रकार है -----

7.4 मार्सीलियो के राजनीतिक विचार

मध्य युग का सम्पूर्ण चिन्तन लौकिक एवं पारलौकिक सत्ता के मध्य संघर्ष का है। यह दोनों सत्ताओं के बीच सर्वोच्चता का संघर्ष था। चौदहवीं शताब्दी आते-आते लौकिक सत्ता अथवा राजसत्ता का पलड़ा भारी होता चला गया। फ्रांस के राजा फिलिप चतुर्थ ने अपनी सत्ता को अत्याधिक मजबूत किया और पोप के प्रभाव एवं आदेश को खारिज किया। इसी समय मार्सीलियो जैसे विचारकों ने राजतंत्र की सर्वोच्चता को और अधिक मजबूती प्रदान की।

मार्सीलियो का जन्म इटली के पाडुआ नगर में 1210 ई0 को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उन्होंने चिकित्सा शास्त्र में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसे आर्क विशप का पद भी दिया गया जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। अपने जीवनकाल में उसने वकील, सैनिक, राजनीतिक आदि की भूमिका का निर्वहन किया। उसने एविमोन स्थित पोप मुख्यालय की यात्रा कर चर्च का नंगा सच, वहां का भ्रष्टाचार देखा। यहीं से उसकी राजतंत्र के पक्ष में विचार मजबूत हुआ। उसके विचार पूर्णतः मौलिक तथा कुछ हद तक क्रान्तिकारी थे। उसके संबंध में प्रोफेसर मूरे ने कहा है-“ मार्सीलियो चौदहवीं शताब्दी का सबसे मौलिक विचारक था जिसने न केवल अपने समय के वरन उसके बाद आने वाले यूरोप को देखा था।” उसने अपने विचार अपनी रचना “ डिफेन्सर पेसिस” नामक पुस्तक में रखे। पोप ने इस पुस्तक को चर्च विरोधी मानते हुए इस पर प्रतिबंध लगा कर मार्सीलियो को बहिष्कृत कर दिया। अपनी रक्षा के लिये मार्सीलियो ने जर्मनी में बेवेरिया के शासक लुइस के यहाँ शरण ली। यही पर उसने डिफेन्सर पेसिस का संक्षिप्तीकरण करते हुए डिफेन्सर माइनर की रचना की। यही पर 1342 ई0 में उसका देहावसान हो गया। मार्सीलियो के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव था। इटली के बिखराव से वह दुखी था। वह इटली के पतन के लिये वह पोप को जिम्मेदार मानता था। कतिपय यही कारण था कि वह इटली पर से पोप के प्रभाव को कम करने के लिये वह अपनी रचनाओं को प्रकाशित करता है। यह यही नहीं रूकता वरन चर्च को राज्य के अधीन करने की वकालत करता है। उसके यह विचार अत्यंत क्रान्तिकारी थे तथा अन्य मध्ययुगीन विचारकों से बहुत आगे थे। दो सौ वर्षों जर्मनी के विचारक एरेस्टस के विचारों में भी इसकी झलक मिलती है। कतिपय यही कारण था कि सेवाइन उसे “ प्रथम ऐरेस्टियन” घोषित किया। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर अरस्तू तथा एवरोवाद के प्रकृतिवादी एवं बुद्धिवाद विचारों का भी प्रभाव पड़ा। उसने अपने ऊपर अरस्तू के प्रभाव को स्वीकार करते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है “ उसके ग्रन्थ को पालिटिक्स के उस भाग का पूरक माना जा सकता है जिसमें अरस्तू ने क्रान्ति एवं नागरिक उपद्रव के कारणों का विवेचन किया है।”

7.4.1 मार्सीलियो के राज्य संबंधी विचार

मार्सीलियो का राज्य संबंधी विचार यूनानी विचारकों से मिलता जुलता है। वह राज्य को सजीव सत्ता मानता है। वह राज्य की उत्पत्ति परिवार से मानता है। यह मानता है कि कृषक, शिल्पकार, उद्योगपति, सैनिक, पुरोहित आदि किसी समाज के विभिन्न वर्ग हैं, आपसी सहयोग के आधार पर विविध कार्य करते हैं। राज्य का स्वास्थ्य सभी अंगों के समुचित एवं व्यवस्थित कार्य करने पर निर्भर है। जिस प्रकार अंगों में असंतुलन स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है उसी प्रकार राज्य में भी संतुलन सामंजस्य होना आवश्यक है। मार्सीलियो राज्य के उद्देश्य संबंधी विचार भी अरस्तू

से मिलते हैं। अरस्तू की तरह वह मानता है राज्य को सुरक्षा ही नहीं वरन् श्रेष्ठ जीवन की दिशा में अग्रसर होना चाहिए। अरस्तू के श्रेष्ठ जीवन एवं मार्सीलियो के श्रेष्ठ जीवन में अंतर है। मार्सीलियो का श्रेष्ठ जीवन लोक एवं परलोक तक फैला है। अरस्तू का श्रेष्ठ जीवन बुद्धि एवं विवेक पर आधारित है। जबकि दूसरे प्रकार का जीवन श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है। सांसारिक जीवन में व्यवस्था के लिये विवेक की आवश्यकता होती है जबकि पारलौकिक जीवन में मोक्ष प्राप्ति के लिये धर्म और श्रद्धा की आवश्यकता होती है।

समाज के विभिन्न वर्गों का उल्लेख करते हुए वह प्रत्येक के अपने कार्यक्षेत्र का उल्लेख करता है। वह स्पष्ट करता है कि कृषक, शिल्पी, पूंजीपति वर्ग समाज की भैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, सैनिक और प्रशासक राज्य रक्षा, पुरोहित तथा पादरी धर्मशास्त्र का अध्ययन कर लोगों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते हैं। वह मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। उनका कार्य आध्यात्मिक है। वह सांसारिक क्षेत्र में कार्य नहीं कर सकते। इसी तर्क के आधार पर वह पादरियों पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर था। वह चर्च को राज्य का एक विभाग मानता था। वह पहला विचारक था जिसने चर्च को राज्य के अधीन रखा। सेवाइन के शब्दों में-“ राजनीतिक दृष्टि से मार्सीलियो के निष्कर्ष का महत्वपूर्ण अंश यह है कि लौकिक संबंधों में वह (पादरी वर्ग) अन्य वर्गों के समान एक वर्ग है। मार्सीलियो तार्किक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों को अनन्य अधिकारियों के भाँती समझता है।”

7.4.2 शासन संबंधी विचार

मार्सीलियो के अनुसार उत्तम शासन वह है जो सामूहिक हित के लिये जनता की इच्छा के अनुसार शासन करता है। अपने हित में जनता के विचारों की अनदेखी कर किया गया शासन निकृष्ट शासन होता है। वह अरस्तू के उस विचार को नहीं मानता कि कुछ लोग केवल शासन के लिये ही बने हैं तथा कुछ लोग शासित होने के लिए बने हैं। वह किसी एक शासन प्रणाली का समर्थक नहीं था। उसकी मान्यता थी कि विभिन्न शासन प्रणालियाँ विभिन्न देश, काल में उपयोगी तथा सही हो सकती हैं। वह शासन के दो अंग कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को मानता है। कार्यपालिका की दृष्टि से वह निर्वाचित राजतंत्र को और व्यवस्थापिका की दृष्टि से वह प्रतिनिधियात्मक सभा को श्रेष्ठ मानता है। वह मर्यादित (नियन्त्रित) राजतंत्र का समर्थक था तथा वह चाहता था कि राजतंत्र अपने कार्यों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। वह स्पष्ट करता है कि यदि राजा जनकल्याण सुनिश्चित नहीं करता तो उसे पद से हटा देना चाहिए।

7.4.3 कानून संबंधी विचार

मार्सीलियो ने कानून के संबंध में बहुत महत्वपूर्ण विचार दिये। मार्सीलियो ने मध्य युग में प्रचलित न्याय की अवधारणा “सामूहिक हित के लिये विवेक का आदेश” को अस्वीकार करते हुए कानून की एक अलग परिभाषा प्रस्तुत की। उसके अनुसार -“ कानून विधायक का बल प्रवर्ती आदेश है जिसका पालन न्यायालयों के द्वारा कराया जाता है।” मार्सीलियो मध्ययुग का पहला विचारक था जिसने कानून की विधिशास्त्रीय परिभाषा दी। उसने आगे कानून की व्याख्या करते हुए कानून को दो भागों में बांटा है:-

1. दैवीय कानून

2. मानवीय कानून

दैवीय कानून:- वह दैवीय कानून को ईश्वरीय आदेश मानता है। वह इसको पूर्ण मानता है तथा इसमें संशोधन एवं परिवर्तन की संभावना को अस्वीकार करता है। यह वह कानून है जो मनुष्यों को बताता है कि वह क्या करें तथा क्या न करें? इस विधि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ शासन प्राप्त करने तथा संसार के वांछनीय परिस्थितियों के निर्माण का

उपाय भी बताया जाता है। वह दैवीय कानूनों को वह सांसारिक जीवन से अलग रखते हुए जीवन के अंतिम लक्ष्य के लिये आवश्यक मानता है।

मानवीय कानून:- वह मानवीय कानून को सम्पूर्ण नागरिकों का अथवा उसके प्रबुद्ध भाग का आदेश मानता है। ये कानून मानवीय हितों को ध्यान में रखकर व्यापक जनहित में जारी किये जाते हैं। मानवीय कानून मानव द्वारा मानवों के सांसारिक हितों की पूर्ति के लिये जारी किये जाते हैं। यह व्यापक जन हित में समाज के ऊपर नियन्त्रण लगाने को सही ठहराते हैं। यह मानव को क्या करना है? तथा क्या नहीं करना है? इसको सुनिश्चित करवाता है। यह ऐसा आदेश होता है जिसमें उल्लंघन करने वालों का दण्डित किया जाता है।

मार्सीलियो का कानून संबंधी विचार पूर्वतः आधुनिक है। वह कानूनों को अलग ही नहीं करता वरन इसको तोड़ने वालों को दण्ड की व्यवस्था करता है। वह स्पष्ट करता है कि दैवीय कानूनों का उल्लंघन करने पर मृत्यु के बाद उस व्यक्ति को दण्ड मिलता है। यह दण्ड ईश्वर द्वारा दिया जाता है। जबकि मानवीय कानून के उल्लंघन होने पर दण्ड इसी संसार में राजसत्ता द्वारा दिया जाता है। मानवीय कानूनों के उत्पत्ति में वह दैवीय अथवा प्राकृतिक कानूनों का अंश नहीं देखता है। वह मानता है कि यह मानवीय विवेक से निर्मित होता है।

वह मानवीय कानूनों को मानवीय बुद्धि की उपज मानता है। अतः उसे लागू करने वाला शक्ति का स्रोत होता है। यह स्रोत सत्ता का प्रबुद्ध स्रोत होता है। प्रबुद्ध अंश के संबंध में वह स्पष्ट करता है कि -“मैं कहता हूँ कि समाज में संख्या तथा गुणवत्ता दोनों की दृष्टि से प्रबुद्ध अंश की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।”

वह प्रबुद्ध अंश के संबंध में स्पष्ट करता है कि यह जनता का वह भाग है जो संख्या का नहीं वरन गुण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह सभी मनुष्यों की पूर्ण समानता का पक्षधर नहीं था। वह मानता था कि समाज के ‘प्रधान व्यक्ति’ साधारण व्यक्तियों से अधिक महत्वपूर्ण है। वह समानता के सिद्धान्त को पूर्ण अर्थों में स्वीकार नहीं करता है।

वह मानता था कि शासन में कार्यपालिका एवं न्यायपालिका विभागों का निर्माण नागरिकों के द्वारा होता है। व्यवस्थापिका भी नागरिकों की देन होती है। उसी से कार्यपालिका का गठन होता है। यदि कार्यपालिका उचित रूप से कार्य नहीं करती तो व्यवस्थापिका को उसे हटाने का अधिकार है। व्यवस्थापिका को यह अधिकार देने के बाद यह व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता का समर्थन करता है। उसने कार्यपालिका को मजबूत ही नहीं किया वरन उसमें एकता पर बल दिया जिससे कानून व्यवस्था, शान्ति को बनाये रखा जा सके। यही कारण है कि वह प्रजातंत्र पर राजतंत्र को वरीयता देता है। वह राजतंत्र में भी वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतंत्र को बेहतर मानता है। वह एकीकृत एवं स्वतंत्र कार्यपालिका का समर्थक है। यही कारण है कि उसके दर्शन में स्वतंत्र चर्च की कोई गुंजाइश नहीं है। वह चर्च की राजसत्ता का समर्थन करता है। वह राजतंत्र का समर्थक है परन्तु निरकुश राजतंत्र को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि यदि राजा मनमानी करता है तो जनता उसकी मनमानी (निरकुंशता) पर रोक लगाकर उसे दण्डित कर सकती है।

7.4.4 चर्च संबंधी विचार

मार्सीलियो के विचार अपने युग से आगे के थे जिसने राजनीतिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। वह मध्ययुग की निराशा, अस्थिरता तथा अव्यवस्था के लिये दो सत्ताओं के संघर्ष को जिम्मेदार ठहराता था। उसकी मान्यता थी कि चर्च के हस्तक्षेप के कारण ही राजनैतिक अस्थिरता तथा राजनैतिक सत्ता का पतन हो रहा है। तत्कालीन

घटनाओं से प्रभावित होकर उसने राजनैतिक सत्ता की मजबूती का समर्थन किया। अपनी पुस्तक ' डिफेन्सर पेसिस' में दूसरे भाग में वह चर्च संबंधी पूर्णतः मौलिक विचार रखता है।

चर्च सत्ता पर प्रबल प्रहार करते हुए उस पर जन प्रभुसत्ता तथा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त लागू किया। उसने पोप के सभी अधिकारों को अनावश्यक तथा राज्य विरोधी बताया। उसने पोप के अधिकारों को चुनौती देते हुए कहा कि चर्च के सभी अधिकारों का केन्द्र पोप नहीं हो सकता है। चर्च की शक्तियों का केन्द्र सामान्य परिषद है। यह किसी व्यक्ति विशेष का संगठन नहीं वरन ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले करोड़ों लोगों के विश्वास का प्रतीक है। इस सामान्य परिषद में पादरी एवं सामान्य लोग दोनों ही सम्मिलित है। वह कहता है कि जिस प्रकार राज्य की शक्ति उसके सभी नागरिकों द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका में निहित होती है। उसी प्रकार चर्च की शक्ति भी ईसाईयों के द्वारा निर्वाचित सामान्य परिषद में होती है। इस सामान्य परिषद के पास ही चर्च संबंधी सभी निर्णय लेने का अधिकार , विवादों के निपटारे का अधिकार तथा चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार होना चाहिए। सामान्य परिषद द्वारा ही अन्य अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। पोप भी अपने कार्यों के लिये सामान्य परिषद के प्रति जबाबदेह है। यदि पोप भी भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरण का दोषी होता है तो परिषद उसे भी पद से हटा सकती है। इस प्रकार मासीलियो ने पोप को सामान्य परिषद के अधीन कर एक नये युग का सूत्रपात किया ।

मासीलियो राज्य की व्यवस्थापिका की तरह इस सामान्य सभा को भी सर्वोच्च नहीं मानता है। वह सदैव इस बात का पक्षधर था कि इसके सदस्य किसी तटस्थ स्थान पर बाइबिल के अनुसार धार्मिक विषयों एवं सिद्धान्तों का निरूपण करेंगे। मासीलियो ने न केवल पोप निर्बाध सत्ता पर अंकुश लगाया वरन यह सिद्ध किया कि पोप के अधिकारों एवं शक्तियों का स्रोत ईश्वरीय नहीं है। उसने पोप को सर्वोच्च न मानकर उसे चर्च का केवल प्रशासक घोषित किया। उसने पोप की सर्वोच्चता को अस्वीकार किया साथ ही पीटरी सिद्धान्त जिसमें कहा गया कि पीटर ने रोम के चर्च की स्थापना की, को गलत सिद्ध किया। उसने यह भी सिद्ध किया कि पोप का अन्य चर्च पर भी कोई अधिकार नहीं है। मासीलियो ने पादरियों का अधिकार केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक मामलों तक सीमित रखने तक सीमित था। वह कहता था कि धार्मिक अधिकारियों को किसी प्रकार के भौतिक अधिकार प्राप्त नहीं है। उसने चर्च के कानून एवं अधिकारों को मानने से इन्कार कर दिया। उसने दो प्रकार के कानून का हवाला देते हुए कहा कि परलोक का कानून अथवा ईश्वरीय कानून तथा दूसरा इहलोक में लागू होने वाला मानवीय कानून। ईश्वरीय कानून का उल्लंघन करने पर दण्ड का अधिकारी ईश्वर है तथा इहलोक में दण्ड अधिकारी राजा है। धर्म अधिकारियों को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है। मासीलियो चर्च के पास किसी प्रकार की संपत्ति का विरोधी था। वह तर्क देता है कि प्रभु यीशु भी कोई संपत्ति नहीं रखते थे। यदि चर्च को दान से संपत्ति प्राप्त होती है तो उसका उपयोग भोग एवं वैभव के लिये नहीं वरन जन कल्याण में होना चाहिए। वह चर्च की अतिरिक्त संपत्ति पर राजकीय नियन्त्रण का हिमायती था। वह चर्च के राजनैतिक कार्यों का विरोधी था। वह चर्च की बाध्यकारी शक्ति को समाप्त करने का पक्षधर था ।

7.4.5 मूल्यांकन

मध्ययुग के राजनैतिक चिन्तन में मासीलियो को बहुत महत्व है। उन्होंने अपने समय की चिन्तन की धारा को बदल कर नये युग का सूत्रपात किया। उन्होंने चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार, विलास तथा अनैतिकता का न केवल विरोध किया वरन नये विचारों के द्वारा चर्च को पूर्णतः राज्य के अधीन कर दिया। धर्माधिकारियों के द्वारा राजनैतिक कार्यों में दखल देने का उसने विरोध किया। वह पोप के द्वारा असंयमित आचरण का विरोधी था। मासीलियो की यह मान्यता थी कि पोप केवल धार्मिक गुण है और उसका अधिकार क्षेत्र चर्च के अन्दर है। वह अन्य चर्चों तथा धर्माधिकारियों को निर्देशित नहीं कर सकता। वह राज्य के मामलों में भी दखल नहीं दे सकता। चर्च की अत्याधिक

संपत्ति पर वह राज्य के नियन्त्रण का हिमायती था। वह कानूनों को दैवीय आधार पर स्वीकार करने को तैयार नहीं था यदि उसका आधार मानवीय नहीं है। शासन संबंधी उसके विचार मध्ययुग से आगे पूर्णतः आधुनिक है। वह लोकतंत्रवादी है। वह राजाओं को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाता है। वह सीमित तथा चयनित राजा का समर्थक था। पोप के ऊपर सामान्य परिषद के नियन्त्रण का हिमायती था। उसी के विचारों में राष्ट्रीय लोकतन्त्र के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। पोप को सामान्य परिषद के अधीन करने के विचार के कारण ही परिषदीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 16वीं शताब्दी में मार्टिन लूथर के नेतृत्व धर्म सुधार आन्दोलन भी मार्सीलियो से प्रभावित था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उसका योगदान अमूल्य है।

7.5 थामस एक्वीनास के राजनैतिक विचार

एक्वीनास का जन्म इटली के नेपल्स नामक राज्य में 1225 ई0 में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उसने अरस्तू के ग्रन्थों का अध्ययन किया। धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये वह पेरिस गया और वहां पर अल्वर्ट महान का शिष्य बना। 1256 ई0 में उसे पेरिस विश्वविद्यालय से उसे धर्म गुरु की उपाधि प्राप्त हुई। अपनी सारा जीवन उसने ईसाई धर्म को समर्पित कर दिया। अंततः 1274 ई0 में इनकी मृत्यु हो गई। एक्वीनास ने अपनी जीवन काल में उसने 37 ग्रन्थों तथा 40 लघु ग्रन्थों की रचना की। उनके मुख्य ग्रन्थ “ धर्म शास्त्र का सार” , “ सुम्मा थियोलोजिका” थे। इसके अतिरिक्त उसने “ राजाओं के नियमः अरस्तू की राजनीतिक टीका” आदि की रचना की।

एक्वीनास के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। अरस्तू के प्रभाव के कारण उसमें स्वतंत्र चिन्तन, सन्देहवाद तथा नास्तिकता की भावना बढ़ने लगी। उसने ईसाई धर्म के द्वन्द्व को समाप्त करने का कार्य किया। उसने मध्यकालीन चिन्तन तथा यूनानी चिन्तन के मध्य समन्वय करते हुए अरस्तू तथा आगस्टाइन के परस्पर विरोधी विचारों के बीच में सामंजस्य स्थापित किया। उसके विचारों में साम्यवाद के तत्व मिलते हैं। गैटेल के शब्दों में- “ उसने विवेक तथा अर्न्तज्ञान में संबंध स्थापित करने और चर्च के सिद्धान्तों का यूनानी ज्ञान के पुनरुत्थान से प्रकाश में आये तर्क संगत अधर्मी दर्शन में तालमेल बिठाने का प्रयास किया ।”

7.5.1 राज्य संबंधी विचार

एक्वीनास ने राज्य के संबंध में जो विचार दिये वह आगस्टाइन के विचारों के ठीक उल्टे थे। उसने आगस्टाइन के विचारों का खण्डन किया कि राज्य की उत्पत्ति पाप के कारण हुई है और यह आवश्यक बुराई है। वह अरस्तू के विचारों से प्रभावित होते कहता है कि मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य समाज के संचालन के लिये आवश्यक है। यह आवश्यक बुराई नहीं है। वह राज्य संबंधी विचारों में अरस्तू से प्रभावित है परन्तु कई बिन्दुओं पर वह अरस्तू से अलग विचार रखता है। वह अरस्तू के नगर-राज्य संबंधी धारणा को स्वीकार नहीं करता। वह बदली परिस्थितियों में नगर-राज्य से मिलकर बनने वाले प्रांतों से आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने का समर्थक था। उसने नगर राज्य के स्थान पर प्रांतों का समर्थन किया जिसको उसने “ रेगनम (राज्य)” पुकारा। वह मध्य युग में राष्ट्र राज्य का समर्थन करने वाला था। वह राज्य की प्रभुसत्ता का अंतिम स्रोत ईश्वर को मानता है।

7.5.2 शासन संबंधी विचार

शासन व्यवस्था संबंधी विचार अरस्तू से प्रभावित है। वह अरस्तू की तरह वह सबका कल्याण करने वाली शासन प्रणाली को श्रेष्ठ तथा न्यायपूर्ण मानता है तथा केवल शासक हित में शासन करने को अन्यायपूर्ण तथा निकृष्ट

मानता है। अरस्तू राज्य का अंतिम लक्ष्य सदुणी जीवन की प्राप्ति मानता है। एक्वीनास भी मानव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति मानता है। अरस्तू लोकतंत्र को श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। जबकि एक्वीनास राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। वह इस संबंध में तर्क देता है कि जिस प्रकार विश्व पर एक ईश्वर का, शरीर पर हृदय का, मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है उसी प्रकार मनुष्य पर एक व्यक्ति का शासन श्रेष्ठ होगा। वह दूसरा तर्क देता है कि लोकल्याण के लिये समाज में एकता एवं शान्ति आवश्यक है। यह राजतंत्र में ही संभव है। वह तीसरा तर्क राजतंत्र के पक्ष में देता है कि लोकतंत्र में फूट एवं झगड़ा की संभावना बनी रहती है जबकि राजतंत्र में इसकी संभावना नहीं रहती। अतः वह राजतंत्र का प्रबल समर्थन करते हुए वह निर्वाचित राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। वह राजतंत्र के निरंकुश हो जाने की संभावना को खारिज कर देता है। वह निरंकुश शासकों को मृत्यु दण्ड देने का पक्षधर नहीं है। वह कहता है कि ऐसी व्यवस्था करने से वध किये जाने वालों में अधिकार योग्य शासक ही होंगे। वह राजा को नियन्त्रित करने के लिये राजा द्वारा ईश्वरीय नियमों का पालन अनिवार्य करता है। वह कहता है कि राजा को ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही आगे बढ़ना चाहिए।

7.5.3 राज्य के कार्य

एक्वीनास ने राज्य के कार्यों पर व्यापक प्रकाश डाला है। उसके राज्य के कार्यों के संबंध में विचार यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म के विचारों से मिलते-जुलते हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो यह तीनों धाराओं का मिश्रण है। उसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न हैं-

1. राज्य का प्रमुख कार्य उत्तम जीवन जीने की व्यवस्था करना है। राज्य में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना। राज्य को वाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करना है। राज्य को ऐसी नीति बनानी चाहिए जिसमें कानून तोड़ने वाले को दण्डित करने तथा पालन करने वाले को पुरस्कार की व्यवस्था हो।
2. राज्य के अन्दर आवागमन के साधन को सुरक्षित बनाना। उन्हें उपद्रवियों से सुरक्षित रखना है।
3. मुद्रा पद्धति के चलन तथा नापतौल की विशेष व्यवस्था को बनाना।
4. समाज कमजोर लोगों, गरीबों के भरण पोषण को करना। यह राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

7.5.4 राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता में सम्बन्ध

एक्वीनास राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता के पूर्ण पृथक्कीकरण का पक्षधर नहीं था। वह कहता है कि मनुष्य के दो लक्ष्य होते हैं- पहला सांसारिक सुख पाना तथा दूसरा आत्मा का सुख पाना। दोनों सुखों की प्राप्ति के लिये दो तरह की सत्ताओं की व्यवस्था की गई है। इसमें सांसारिक सुख के लिये राज्य की व्यवस्था है तथा आत्मीय सुख के लिये चर्च की स्थापना की गई है। राज्य भौतिक सुख पाने का साधन है। जबकि चर्च आध्यमिक उन्नति तथा मुक्ति का साधन है। अतः राज्य को चर्च के नियन्त्रण में रहकर उसके निर्देशानुसार कार्य करना चाहिए।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि एक्वीनास राज्य की तुलना में चर्च को अधिक महत्व प्रदान करता है। दोनों में संघर्ष अवस्था में जिस प्रकार भौतिक सुखों की तुलना आध्यात्मिक सुख अधिक महत्वपूर्ण है उसी प्रकार राज्य की तुलना में चर्च अधिक महत्वपूर्ण है। वह यह कहता है कि दोनों सत्ताएं संघर्ष के लिये नहीं वरन सहयोग के लिये हैं। इनका अंतिक उद्देश्य मानव का सम्पूर्ण कल्याण करना है। एक्वीनास के अनुसार -“ चर्च सामाजिक संगठन का मुकुट है। वह लौकिक संगठन का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है वरन उसकी पूर्णता का प्रतीक है।”

7.5.5 कानून संबंधी विचार

एक्वीनास के कानून के संबंध में बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण विचार दिये हैं। उसके पूर्ण कानून के संबंध में ऐसे स्पष्ट विचार दिखायी नहीं पड़ते हैं। उसकी कानून संबंधी व्याख्या अत्यंत व्यापक है। यह अरस्तू, स्टोवक, आगस्टाइन आदि के विचारों का अद्भुत मिश्रण है। डनिग के शब्दों में -“ एक्वीनास का कानून एवं न्याय सिद्धान्त वह धारा है जिसके माध्यम से अरस्तू, स्टोइक, आगस्टाइन, सिसरो, रोम के साम्राज्यवादी विधिवेताओं आदि के सिद्धान्त समन्वित रूप से आधुनिक युग को सम्प्रेषित किये गये हैं।”

एक्वीनास के कानून संबंधी विचारों पर कोकर का मत है-“ राजनीतिक चिन्तन के लिये सामान्यतः एक्वीनास का कानून विषयक विवेचन सम्भवतः उसकी महानतम देन है।” एक्वीनास ने अपने कानून संबंध विचारों में यूनानी तथा रोमन विचारधाराओं का समन्वय किया। जहां यूनान में कानून विवेक का परिणाम है वहीं रोम में इसे बुद्धि पर आधारित सम्राट अथवा व्यक्ति विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति का साधन मानते हैं। उसने दोनों ही धाराओं के बीच समन्वय स्थापित करते हुए इसे बुद्धि का परिणाम तथा व्यक्ति विशेष की इच्छा का परिणाम भी माना। वह कानून की व्याख्या करते हुए कहता है- “ कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोकहित की दृष्टि से उस व्यक्ति के द्वारा उद्घोषित किया जाता है जो समाज की देखभाल करने का अधिकारी होता है।” उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि उसने दोनों पूर्व प्रचलित धाराओं में समन्वय स्थापित किया।

कानून के प्रकार:- एक्वीनास ने कानून के चार प्रकार बताये हैं:

1. शाश्वत कानून:- शाश्वत कानून ईश्वरीय विवेक का प्रतीक है। समस्त सृष्टि इस कानून के अनुसार निर्मित है तथा इसके अधीन है। मनुष्य की सीमित क्षमता होने के कारण उसे पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है। अतः ईश्वर प्राकृतिक कानून के माध्यम से उसे शाश्वत कानून से परिचित कराता है।

2. प्राकृतिक कानून:- इस कानून के द्वारा मनुष्य भले-बुरे, सत्य-असत्य के बीच भेद करता है। इसी के माध्यम से वह सत्य को प्राप्त करता है तथा असत्य से मुक्त होता है। शाश्वत कानून सभी के लिये समान होता है। यह मनुष्य की विभिन्न प्राकृतिक इच्छाओं तथा विभिन्न वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त होता है। मनुष्यों की समस्त प्राकृतिक इच्छाओं जैसे समाज में रहना, आत्मरक्षा करना, संतान उत्पत्ति करना, विवेक का विकास करना आदि प्राकृतिक कानून से ही संभव है।

3. दैवीय कानून:- एक्वीनास ने दैवीय कानून को स्पष्ट करते हुए कहा कि मानव के जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक उद्देश्यों के लिये नहीं हुआ है वरन् वह आध्यत्मिक लक्ष्यों को भी प्राप्त करना चाहता है। यह उद्देश्य दैवीय कानून के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। यह ऐसे कानून है जो मनुष्य को पूर्णतः प्रदान करते हैं। यह परम सुख की प्राप्ति के साधन है। यह बहुत महत्वपूर्ण और श्रेष्ठकर होते हैं।

4. मानवीय कानून:- एक्वीनास मानवीय कानून को अत्याधिक महत्व वहीं देता है। वह इसे अन्य कानूनों से निम्न मानता था। वह कहता है कि यह मानवीय विवेक की देन है। अतः यह मानवीय हितों की पूर्ति का साधन है। यह मानवों के लिये अनिवार्य होते हैं। यह समाज में व्यवस्था, समाज का संचालन करता है। यह राज्य द्वारा प्रतिपादित दण्ड व्यवस्था का प्रतीक होता है। मानवीय कानून मानवीय विवेक द्वारा निर्मित होते हैं। साथ ही व्यापक समाजहित में प्रयोग में लाये जाते हैं।

इन कानूनों की कसौटी प्राकृतिक होता है। मानवीय एवं प्राकृतिक कानून में इस प्रकार एक संबंध स्थापित हो जाता है। यदि मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होता है तो वह सही और न्यायपूर्ण नहीं होगा। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि मानवीय कानून प्राकृतिक कानून का प्रतिबिम्ब है। वह स्पष्ट करता है कि प्राकृतिक कानून के

विरुद्ध मानवीय कानूनों का अस्तित्व नहीं हो सकता है। मानवीय कानून का उद्देश्य लोककल्याण तथा जनसहभागिता होती है। यह तभी हो सकता है जब वह प्राकृतिक कानूनों के अनुरूप हो। उसने मानवीय कानून के तीन आधार बताये हैं -

1. यह जनकल्याणकारी होने चाहिए।
2. यह वैद्य शासक द्वारा निर्मित होने चाहिए।
3. यह सभी पर समान रूप से लागू होने चाहिए।

एक्वीनास का कानून परिवर्तन संबंधी दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर था। वह कानून को स्थायी बनाने का पक्षधर था। उसका स्पष्ट मत था कि समाज में होने वाली हलचलों का प्रभाव कानून पर नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो इसके दुष्परिणाम समाज को भुगतने पड़ते हैं। कई बार इससे अराजकता की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। बहुत आवश्यक होने पर ही लोकहित में मानवीय कानून में परिवर्तन किया जा सकता है।

7.5.6 न्याय संबंधी धारणा

एक्वीनास के न्याय संबंधी विचारों पर रोम के विधि व्यवस्था का प्रभाव दिखायी पड़ता है। वह कहता है कि -“ न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसको अधिकार प्रदान करने की निश्चित तथा सनातन इच्छा है।”

एक्वीनास की न्याय संबंधी धारणा में अरस्तू का भी प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि न्याय समानता पर आधारित होना चाहिए। यह समानता प्राकृतिक तथा मानवीय आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए।

7.5.7 दासता संबंधी विचार

अन्य मध्ययुगीन विचारकों की तरह एक्वीनास ने भी दास व्यवस्था पर अपने विचार रखे। मध्य युग में दास व्यवस्था समाज में प्रचलित थी। यह समाज का हिस्सा थी। एक्वीनास ने दासता संबंधी विचारों में अरस्तू से प्रभावित नहीं दिखता। जहां अरस्तू दासता को प्राकृतिक एवं दासों के हित में मानता था। वह दासता को स्वीकार करते हुए कहता था कि जन्म से सभी व्यक्ति समान नहीं होते हैं, सभी की क्षमता अलग-अलग होती है। कुछ अपनी क्षमता से स्वामी बन जाते हैं तो कुछ सेवक बन जाते हैं। यह सम्पूर्ण व्यवस्था को वह प्राकृतिक मानता है। दूसरी ओर एक और मध्ययुगीन विचारक आगस्टाइन दासता को ईश्वरीय दण्ड मानते हैं। वे तर्क देते हैं कि दासता पापों का परिणाम है जो ईश्वर द्वारा दण्ड स्वरूप प्रदान किया गया है।

एक्वीनास इन दोनों विचारकों से अलग यह तर्क देता है कि दासता के द्वारा वीरता की अभिवृद्धि होती है। युद्ध में सैनिक दासता के तत्व के कारण वीरता से लड़ते हैं। वे विजेता होते हैं तो उन्हें नये दासों का लाभ होता है जो उन्हें वीरता एवं विजयी होने के लिये प्रेरित करता है। पराजित होने पर उनके दास बनने की संभावना हो जाती है। अतः वे वीरता का परिचय देते हैं।

7.5.8 मूल्यांकन

एक्वीनास के उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका चिन्तन चर्च एवं धर्म से प्रभावित है साथ ही अरस्तू के धर्मनिरपेक्ष चिन्तन का भी प्रभाव है। वह कई स्थानों पर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। कई स्थानों पर दोनों के बीच समन्वय करने के प्रयास में विरोधाभास, उत्पन्न हो जाता है। कई बार इसी आधार पर आलोचक उसकी आलोचना भी करते हैं।

इसके बावजूद यह आलोचना सही प्रतीक नहीं होती क्योंकि उसके सम्पूर्ण चिन्तन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। उन परिस्थितियों को समझना चाहिए जिसमें वह अपने विचार रख रहा था। वह अपने युग का एक मौलिक एवं प्रतिनिधि विचारक है। उसके ऊपर अपने युग का प्रभाव दिखायी पड़ता है। वह समन्वयवादी है। वह अरस्तू, रोमन आदि विचाराधाराओं का समन्वय करता है। यही उसके चिन्तन की प्रमुख विशेषता है जो उसके चिन्तन को अत्याधिक उपयोगी तथा अपने युग का प्रतिनिधि विचारक बना देती है।

अभ्यास प्रश्न:-

2. डिफेन्सर पेसिस के रचयिता कौन था?

3. निम्न में से किसको प्रथम एरेस्टियन कहा जाता था?

1. मार्सीलियो 2. आगस्टाइन 3. अरस्तू 4. एक्वीनास

4. सुम्मा थियोलॉजिका का रचयिता कौन था?

5. कानून की सर्वाधिक वृहद व्याख्या निम्न में से किसने की?

1. अरस्तू 2. मार्सीलियो 3. एक्वीनास 4. आगस्टाइन

6. निम्न में से किसने चर्च को पूर्णतः राज्य के अधीन माना था?

1. आगस्टाइन 2. संत बनार्ड 3. मार्सीलियो 4. एक्वीनास

7.6 सारांश

500 ई० से 1500 ई० तक के काल को मध्ययुग कहा जाता है। यह वह समय था जब राजनीतिक अस्थिरता, चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष, नैतिकता का पतन हो रहा था। यह वह दौर था जब सम्प्रभु कौन है इसका फैसला ही नहीं हो पा रहा था। चारों ओर अनिश्चितता का वातावरण था। इसी समय कुछ राजनीतिक चिन्तकों ने आगे आकर अपने राजनीतिक चिन्तन से युग को स्थिरता तथा नई रोशनी देने का प्रयास किया। इनमें सबसे पहले संत आगस्टाइन का नाम आता है जिन्होंने संघर्ष को समाप्त करने एवं व्यवस्था लाने के उद्देश्य से कुछ सिद्धान्त दिये। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण दो तलवारों का सिद्धान्त था। यह वह सिद्धान्त था जिसमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्यों हेतु चर्च तथा लौकिक कार्यों के लिये राजसत्ता के महत्व को स्वीकार किया गया। वह चर्च एवं राज्य में सामंजस्य का विचार देता है। वह अपने पूर्व के विद्वानों की तरह राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानता है। वह राज्य को मानव जीवन के लिये आवश्यक मानता है। वह कहता है कि ईश्वर द्वारा राज्य का निर्माण किया गया है। वह चर्च एवं राज्य के बीच चर्च को अधिक महत्व देता है। मार्सीलियो ने चर्च एवं राज्य के बीच संबंधों में नया दृष्टिकोण रखा। उसकी मान्यता थी कि चर्च का कार्य धार्मिक है अतः उसे राजनीतिक कार्यों में दखल नहीं देना चाहिए। वह मानता था कि धर्म के अत्याधिक हस्तक्षेप के कारण ही इटली का पतन हुआ। वह राज्य को शक्तिशाली एवं सम्प्रभु रखने का हिमायती था। वह चर्च को राज्य के अधीन रखने की वकालत करता है। कतिपय यही कारण है कि वह 'प्रथम एरेस्टियन' कहलाता है। वह राज्य की उत्पत्ति परिवार से मानता है तथा राज्य का कार्य विभिन्न समूहों के बीच सामंजस्य रखने को बताता है। वह राज्य के द्वारा मानव जीवन की रक्षा तथा सत जीवन की ओर प्रेरित करने का माध्यम मानता है। धार्मिक क्षेत्र के लोगों को सांसारिक क्षेत्र में दखल नहीं देना

चाहिए। ऐसी उसकी मान्यता थी। वह शासन के संबंध में राजा के ऊपर सकारात्मक नियन्त्रण का पक्षधर था। वह सीमित राजतंत्र का समर्थक था। वह चर्च के व्यापक सुधारों का हिमायती था। चर्च में पोप को केवल एक प्रशासनिक अधिकारी मानता है। धर्म संबंधी निर्णय लेने की शक्ति सामान्य परिषद को सौंपता है। वह पोप की संपत्ति को नियन्त्रित करने, शक्तियों को सीमित करने तथा गलत कार्य करने पर सामान्य परिषद द्वारा दण्डित करने का पक्षधर था।

एक्वीनास ने नगर राज्य के स्थान पर राष्ट्र राज्य का विचार दिया। वह शासन जनहित में हो इसका हिमायती था। वह राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। वह एक व्यक्ति के शासन का समर्थक था। राजा द्वारा सुरक्षा, उत्तम जीवन तथा अर्थ के सभी कार्य किये जाने का पक्षधर था। वह चर्च एवं राज्य के संबंधों में चर्च को आध्यात्मिक कार्य देने तथा राज्य को भौतिक कार्य देने का पक्षधर था। वह आध्यात्मिक कार्य को अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए राज्य को चर्च के अधीन किये जाने का हिमायती था। कानून की विस्तृत व्याख्या उसकी राजनीति शास्त्र को महत्वपूर्ण देन है। दासता को वह स्वीकार करता है परन्तु प्राकृतिक नहीं मानता है।

7.7 शब्दावली

लौकिक:- जो दिखायी पड़ता हो, जो सामने स्पष्ट हो लौकिक कहा जाता है।

सीमित राजतंत्र:- राजा के ऊपर यदि कानून का नियन्त्रण हो तो ऐसा राजतंत्र सीमित राजतंत्र कहलाता है।

शाश्वत कानून:- यह ईश्वर की देन कहा जाता है। इसमें माना जाता है कि सम्पूर्ण व्यावस्था ईश्वरीय आदेश से इस कानून में निहित है।

7.8 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

2. मासीलियो 3. मासीलियो 4. एक्वीनास 5. एक्वीनास 6. मासीलियो

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मेहता जीवन- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन
2. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक
3. जैन पुखराज- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सूद जे0पी0- राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2. मासीलियो के राज्य एवं चर्च संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये।
3. एक्वीनास के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये।
4. क्या एक्वीनास अपने युग का प्रतिनिधि विचारक था? स्पष्ट कीजिये।
5. मासीलियो के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये।
6. एक्वीनास के विधि संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिये।

इकाई-8 :परिषदीय आन्दोलन

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 परिषदीय आन्दोलन: परिचय
- 8.4 परिषदीय आन्दोलन प्रादुर्भाव के कारण
 - 8.4.1 परिषदीय आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य
 - 8.4.2 परिषदीय आन्दोलन के परिषदे
 - 8.4.3 परिषदीय आन्दोलन के असफलता के कारण
 - 8.4.4 परिषदीय आन्दोलन के विचारक
 - 8.4.5 परिषदीय आन्दोलन का महत्त्व
- 8.5 सारांश
- 8.6 शब्दावली
- 8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.10 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना:

मार्सीलियों के मृत्यु के पश्चात लगभग 850 वर्ष के संक्रमण-कालीन युग में घटित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं में परिषदीय आन्दोलन सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी। कोपशाही का ह्रास और चर्च परिषदों का उदय अर्थात् चर्च का शासन और परिषदीय सिद्धान्त का विकास हुआ। परिषदीय आन्दोलन 85वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर लगभग अर्द्ध शताब्दी तक बहुत ही प्रबल रहा परिषदीय सिद्धान्त के प्रतिपादक का विचार था कि वे परिषद को चर्च शासन के एक ऐसे अभिन्न अंग के रूप में स्थापित किया जाए जो पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर कर सके जब परिषदीय आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ तो सम्पूर्ण ईसाई समाज दो भागों में विभाजित हो गया और ऐसी परिस्थितियों में प्रतिद्वन्दियों के मध्य और पोप के दावों के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा और यह सवाल उठने लगा कि ऐसी कौन सी लौकिक शक्ति है जो चर्च की सत्ता के विवादों को निपटा सके। परिषदीय आन्दोलन के माध्यम से चर्च की सत्ता को दूर करके उसमें एकता का संचार करना पोप की निरकुंशता को मिटाकर उसकी प्रभुता का स्थान चर्च की सामान्य परिषद को देना और इस तरह चर्च प्रशासन में सुधार करना ही परिषदीय आन्दोलन का विकास हुआ।

8.2 उद्देश्य:

- परिषदीय आन्दोलन के विकास के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारको के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्यों के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के महत्त्व के बारे में जान सकेंगे।

8.3 परिषदीय आन्दोलन: परिचय:

मध्ययुग के अन्तिम दौर तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में परिषदीय आन्दोलन अस्तित्व में आया। परिषदीय आन्दोलन चर्च के संगठन के अन्तर्गत पोप की अनन्य सत्ता की जगह एक प्रतिनिधि चर्च परिषद की सत्ता स्थापित करना था।

उस समय चर्च को मनुष्यों के समाज के तरफ देखा जाने लगा। लोगों ने यह अनुभव किया की उसका संगठन भी अन्य मानव समाजों के अनुरूप होना चाहिए। इस प्रवृत्ति से ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिये जिनके आधार पर आगे चलकर नृपति की सत्ता की जगह प्रतिनिधि सांसदों की सत्ता को स्थापित करने का रास्ता खुल गया। मध्य युग के अन्तिम दौर में धार्मिक विषयों के चिन्तन का महत्त्व कम होने लगा। धीरे-धीरे बौद्धिक दृष्टिकोण में एक नया मोड़ आ गया। इस दौर में आलोचनात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। परिषदीय आन्दोलन को दो अवस्थाओं में विभाजित किया गया प्रथम अवस्था वह थी जान आफ पेरिस, मार्सिलियो आफ पेडुआ, विलियम आफ आंकम आदि विचारकों ने कहा कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास सामान्य परिषद में है। द्वितीय अवस्था में परिषदीय सिद्धान्त ने साकार रूप ग्रहण किया, और चर्च के शासन का क्या रूप हो? इस समस्या का हल करने के लिए तीन परिषदों का गठन किया गया। यह परिषदें पीसा की परिषद, कान्स्टेन्स की परिषद, बेसिल की परिषद के नाम से जानी जाती हैं।

8.4 परिषदीय आन्दोलन प्रादुर्भाव के कारण:

परिषदीय आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कई कारण थे, जो इस प्रकार हैं-

1-इस आन्दोलन का प्रथम प्रमुख कारण चर्च की सत्ता में आपसी मतभेद था। संघर्ष भेद की यह स्थिति 8328 से 8487 ई0 तक चर्च और पोपों की शक्ति और सम्मान निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। 8328 ई0 में पोप ग्रेगरी की मृत्यु हो गयी तब जनता ने निर्वाचन में अधिकांश कार्डिनलो ने इटली निवासी अर्बन षष्ठम् को पोप चुना गया परन्तु फ्रान्स ने इन्हे स्वीकार नहीं किया। फ्रान्स के सम्राट जेम्स फिलिप ने पोप ग्रेगरी एकादश के चुनाव को अवैध घोषित किया। और फ्रान्स के धर्माधिकारी क्लीमेण्ट सप्तम के नाम से पोप पद पर नियुक्त कर दिया गया। जब एक पोप की जगह दो-दो पोप रहने लगे तो आपसी मतभेद और बढ़ गया तथा दोनों अपने को न्याय सम्मत बताने लगे। प्रत्येक ने स्वयं अपने को ईसा का प्रतिनिधि घोषित किया। दोनों पोप ने अपने-अपने पृथक-पृथक सिद्धान्त एवं अलग-अलग विषय तय किये। अलग अलग अधिकारियों के सानिध्य में रहने लगे। सम्पूर्ण ईसाई समाज दो भागों में विभाजित हो गया। सभी देशों में फ्रान्स ने एक्सिनोन के पोप का समर्थन किया। इटली और फ्रान्स के शत्रु देश ने रोम के पोप का समर्थन किया। जब ये परिस्थितियाँ पैदा हुईं तो पोप के दावों और उसके औचित्य पर वाद विवाद होने लगा। दोनों पक्षों की इस स्थिति से निपटने के लिए एक परिषद बुलाई गई, इस परिषद ने दोनों पोप को अपदस्त कर एक नए पोप का

निर्वाचन किया परन्तु दोनों पोप में आपसी संघर्ष जारी रहा और दोनों में से किसी ने नए पोप के सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

2-परिषदीय आन्दोलन का दूसरा प्रमुख कारण था कि उस समय पोप का नैतिक पतन हो चुका था। वाईक्लिफ तथा हंस नामक विद्वान ने चर्च की कमियों तथा पोप के भ्रष्ट जीवन पर प्रकाश डाला। दोनों विद्वानों की रचनाओं को पढ़कर समाज में क्रान्ति पैदा हो गयी। इससे भी सामान्य परिषद अस्तित्व में आया।

3-पोप की निरकुश सत्ता समी के लिए सरदर्द बन चुकी थी। पोप के निरकुश सत्ता के लिए चर्च में किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। पोप के कहे शब्द ईश्वर के समान थे। ईसाई और गैर ईसाई समाज पोप के अतिवादी जीवन से छुटकारा पाना चाहते थे। इसी स्थिति से निपटने के लिए परिषदीय आन्दोलन को सबल बनाया गया।

4-पोप के पास अथाह धन और सम्पत्ति थी। वह भोग विलास का जीवन व्यतीत करता था। थाम्सन ने कहा है कि 8250 में पोप की आय यूरोप के लगभग सभी राजाओं और विशपो की आय से कई गुना अधिक था। पोप की सम्पत्ति पर किसी को किसी प्रकार का हक नहीं था। अतः जब चर्च के सुधार की बात की गई तो तब पोप के सही सम्पत्ति के सही उपयोग की समस्या सामने आयी और उसी स्थिति से उबरने के लिए परिषदीय आन्दोलन का उदय हुआ।

5-जान गर्सन मार्सिलियों विलियम आफ ओकम दाँते बाईक्लिफ जैसे विद्वान ने पोप और चर्च की सत्ता की कड़ी आलोचना की और उन विद्वानों का कहना था कि पोप एक मानव है और गलती एक मनुष्य में होना स्वभाविक है। अतः पोप की सत्ता को नियन्त्रित किया जाय। और ऐसी व्यवस्था की जाए यूरोप के राष्ट्रीय एकता में बाधा न बन सके।

6-पोप और चर्च के गन्दे रवैये के कारण लोगों का विश्वास उठ गया था। इससे भी परिषदीय आन्दोलन को बढ़ावा मिला।

7-पोप के विलासिता से तंग आकर लोगों ने एकमात्र हल परिषद में पाया। स्टेट्स जनरल के सुझाव एवं प्रतिनिधित्व की धारणा को सरकार के इस विचार का लोगों ने समर्थन किया। एक व्यक्ति एक पोप की धारणा को लोगों ने स्वीकार किया। किसी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सार्वजनिक जीवन का किसी एक व्यक्ति के द्वारा अपहरण नहीं किया जा सकता।

8-मध्य युग के अरस्तू के विचारों के पुट दिखाई देने लगे। यूरोप में भी पुनः जागृति का सन्देश फैलने लगा। जब रूढ़िवादी विचारधारा के प्रति जबरदस्त टक्कर होने लगी तो पोप के छक्के छूटने लगे।

पोप के विरूद्ध जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार भी परिषदीय आन्दोलन का श्री गणेश हो गया।

9-मार्सिलियो ऑफ पेडुआ एवं विलियम जान ने पोप के लिए निश्चित सिद्धान्तों का निर्माण किया। पोप उसे मानने को कतई तैयार नहीं था। यही कारण था कि उसकी निरंकुशता पर लगाम लगाने के लिए परिषदीय आन्दोलन सार्वजनिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

8.4.1 परिषदीय आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य

परिषदीय आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

- 1-पोप में किसी प्रकार की प्रभुसत्ता निहित नहीं है। चर्च की प्रभुसत्ता सामान्य परिषद में निहित है।
- 2-पोप चर्च का कर्ता धर्ता मात्र है। चर्च के लिए कानून निर्माण का कार्य सामान्य परिषद में निहित है और उसी कानून के अन्तर्गत पोप की सत्ता काम करती है।
- 3-पोप के आदेश सदैव मान्य नहीं हैं। पोप का आदेश तभी माना जाता है जब चर्च की सामान्य परिषद उस आदेश पर मुहर लगा देती है। पोप अपने अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता।
- 4-पोप मनुष्य है। अतः वह भी गलती कर सकता है।
- 5-धार्मिक विषयों पर भी अन्तिम निर्णय सामान्य परिषद को माना जायेगा, पोप का नहीं। पोप मात्र चर्च का प्रतिनिधि है। पोप के अभाव में विश्व का उद्धार हो सकता है लेकिन चर्च के अभाव में नहीं।

उद्देश्य:

- 1-चर्च के आपसी मतभेद को दूर करके उसमें एकता का संचार करना।
- 2-चर्च में फैले भ्रष्टाचार को रोकना उसका निराकरण करना, चर्च की पूर्वकालीन प्रतिष्ठा को प्राप्त करना।
- 3-पोप की तानाशाही को समाप्त करना एवं चर्च की प्रभुता परिषद को देना, नई प्रशासनिक व्यवस्था लागू करना।
- 4-चर्च की अपार सम्पत्ति पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करते हुए धार्मिक कार्यों के लिए सदुपयोग की गारण्टी करना।
- 5-परिषदीय आन्दोलन के माध्यम से नैतिक हरास को रोककर गौरव प्रदान करना।

8.4.2 परिषदीय आन्दोलन के परिषदे

इस आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य को व्यवहारिक रूप देने के लिए परिषदों का गठन किया गया। जो इस प्रकार है-

पीसा की परिषद:

इस परिषद को न किसी सम्राट न किसी पोप न किसी पादरी तथा न किसी चर्च के अधिकारियों ने आमन्त्रित किया था। बल्कि पत्र व्यवहार के माध्यम से पोप के कार्डिनलो ने पीसा में परिषद के लिए आमन्त्रित किया था। चर्च को परिषद घोषित किया गया तथा जान गर्सन ने कहा कि अब तक पोप अपने कार्यों में पूरी तरह असफल रहा इसलिए उसने कभी भी इस तरह के परिषद के निर्माण की चर्चा तक नहीं की इसलिए पोप के आपसी वैमनस्य का अन्त करने के लिए इस परिषद का निर्माण किया जायेगा। पीसा की परिषद में 26 कार्डिनल तथा 4 पैट्रिआर्क 82 आर्कविशप 80 विशप तथा पादरी पोप चर्च के अधिकारी आदि मौजूद थे। जब दोनों पोप पीसा की परिषद में उपस्थित नहीं हुए तो अपने आप उन्हें अपदस्य मान लिया गया और नये पोप का नाम एलेक्जेंडर पंचम दिया गया। दोनों पोप ने स्वेच्छापूर्वक हटने से मना कर दिया। और तीन पोप हो गये। आपसी मतभेद समाप्त होने के बजाय और बढ़ गया।

कान्सटेन्स की परिषद:

परिषदीय सिद्धान्त का यूरोप के विचारकों ने समर्थन किया, जान गर्सन ने पोप की समस्याओं के समाधान के लिए प्रतिनिधि परिषद बुलाने पर बल दिया परिषद 8484 से 8488 तक चला। इसमें केवल विद्वान तथा उच्च कोटी के पादरी भी सम्मिलित थे। साधारण पादरी भी उपस्थित थे तथा राजाओं का भी एक दल था। राजाओं के एक प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इस परिषद को आमन्त्रित करने के प्रमुख उद्देश्य था। पोप से सम्बन्धित चर्च के विच्छेद का अन्त करना। धर्महीनता को समाप्त करना। चर्च में सुधार करना। इस परिषद में तीनों पोपों के प्रतिनिधि 29 कार्डिनल 22 आर्कविशप, 850 विशप, 800 मठाधीश, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 840 कुलीन जमींदार, 20 विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि तथा 4000 पुरोहित थे। पोप जान इस परिषद में उपस्थित नहीं हुआ इस मतभेद को समाप्त करने के लिए पोप पर परिषद को अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करनी थी। अतः अन्तिम समय में घोर वाद विवाद हुआ। इसलिए डॉ० फिगिस ने “विश्व के इतिहास में सबसे अधिक क्रान्तिकारी अधिकृत दस्तावेज कहकर पुकारा है।”

बेसिल की परिषद:

बेसिल के परिषद का आयोजन मार्टिन पंचम् पोटिया ने तीसरी परिषद की बैठक बुलाई। 8438 में बेसिल के परिषद का आयोजन किया गया। पोप के सामने एक शर्त रखा गया कि अगर तीन माह में परिषद के सामने उपस्थित नहीं होंगे तो ईसाई संघ को चलाने के लिए अलग से व्यवस्था की जाएगी। अतः पोप उपस्थित हुये परन्तु उन्होंने परिषद की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। बेसिल की परिषद में उग्र कार्यवाही की गई परन्तु परिषद पोप की सत्ता को समाप्त करने में असफल रही। अन्त में इस सम्मेलन को तीन वर्ग में बाँटा गया। एक वर्ग में राजसत्ता विद्वान रखे गये। दूसरे में विशप तथा कार्डिनल तथा तीसरे में पिलेट एवं एवट रखे गए। यदि दो वर्ग किसी बात को स्वीकार कर लेते तो वह परिषद का निर्णय माना जाता था। परन्तु ऐसा हो नहीं सका और पोप की निरंकुश सत्ता बरकरार रही और परिषद का अन्त हो गया।

8.4.3 परिषदीय आन्दोलन के असफलता के कारण

लगभग 50 वर्षों तक चलने वाले परिषदीय आन्दोलन के असफलता के प्रमुख कारण इस प्रकार थे।

1-पोप के निरंकुश सत्ता को समाप्त करना इस आन्दोलन का प्रथम लक्ष्य था। परन्तु इस आन्दोलन के नेता पोप की अपेक्षा कमजोर थे। जिससे धीरे-धीरे इस आन्दोलन का अस्तित्व समाप्त होने लगा।

2-परिषदीय आन्दोलन सैद्धान्तिक अधिक तथा व्यवहारिक कम था। जिससे साधारण जनता का सहयोग नहीं मिल पाया यह आन्दोलन इसलिए भी सफल नहीं हो सका।

3-बेसिल की परिषद ने चर्च की सत्ता को सम्भालने में अक्षम थी। फूट डालो शासन करो की नीति से पोप ने लाभ उठाया।

4-पोप की सत्ता को समाप्त न करना परिषदीय आन्दोलन के लिए जहर के समान था। पोप की सत्ता को समाप्त न कर सका तथा चर्च के धर्माधिकारी भी पोप को हटाना नहीं चाहते थे। जिससे परिषदीय आन्दोलन सफल नहीं हुआ।

5-प्रो0 कुक ने कहा है कि “परिषदीय आन्दोलन के नेताओं ने अपनी हर बात नम्रतापूर्वक मनवाने की वजह से यह आन्दोलन रूढ़िवादी हो गया इसकी वजह से भी असफल हो गया।”

6-परिषदीय आन्दोलन के समर्थको ने इस आन्दोलन के बारे में आम जनता को परिचय नहीं दिया।

7-बेसिल परिषद के महान नेता निकोलस पोप से मिल गया। कई राज्यों के नेताओं ने भी पोप से सन्धि करना उचित समझा। लोगों ने बदले में पोप से कुछ रियासते भी प्राप्त की जिसकी वजह से यह आन्दोलन असफल रहा।

8-पोप की शक्ति मजबूत थी जबकि परिषदीय आन्दोलन यदा कदा उभर कर सामने आता था। इसलिए लोगों तक इस सिद्धान्त का न पहुँचना ही आन्दोलन का असफलता के कारण थी।

9-सभी यूरोपीय राष्ट्र अपनी अपनी समस्या के समाधान पर लगे थे। इस आन्दोलन को जो समय मिलना चाहिए था वह नहीं मिला।

8.4.4 परिषदीय आन्दोलन के विचारक

जान वाईक्लिफ:

इग्लैण्ड के यार्कशायर जिले में उत्पन्न ज्ञान वाईक्लिफ (8320-8384) बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। धार्मिक कार्यों को करते हुए जान वाईक्लिफ का पोप के सिद्धान्तों से विश्वास उठता चला गया वह पोप के सिद्धान्तों को बहिष्कृत करना शुरू किया। जब वाईक्लिफ ने पोप का विरोध करना शुरू कर दिया तो वाईक्लिफ की सभी रचनाओं को आग में झोंक दिया गया। इस धक्के को वाईक्लिफ बर्दाश्त नहीं कर पाया। वाईक्लिफ सुधारवादी नेताओं के सिद्धान्तों का पोषक था। वह धार्मिक क्रान्ति का पोषक भी था। वाईक्लिफ का मानना था कि धर्म में विश्वास किया जाय तथा रूढ़िवादी परम्पराओं को समाप्त किया जाए। वाईक्लिफ ने अपनी राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में परिवर्तन लाना चाहा एवं राजनीति सिद्धान्त के क्षेत्र में अधिपत्य के सिद्धान्त का भी गणेश किया। वाईक्लिफ ने कहा की चर्च और पोप को ईश्वर की सत्ता मानना चाहिए। पोप सम्राट और चर्च के सभी अधिकारियों का नैतिक दायित्व बनता है कि ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हो। इस धरती पर कोई भी सत्ता अन्तिम नहीं माना जाता है। क्योंकि सत्ताओं का स्रोत तो मात्र ईश्वर है। वाईक्लिफ ने कहा की चर्च एक अध्यात्मिक प्रतिष्ठान है। अतः उसे बाहरी जगत के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चर्च तथा पोप के अधिकारियों को राजनीतिक सत्ता में किसी प्रकार की रुचि नहीं लेनी चाहिए। सम्राट की सत्ता भी सुख देने वाली होती है। अतः उसे ईश्वर की सत्ता माना जाना चाहिए। क्योंकि इस चराचर जगत का एक मात्र स्रोत ईश्वर है। अगर धर्म के अनुसार सम्राट के सत्ता का पालन किया जाय तो सम्राट की सत्ता सुख देने वाली होगी। क्योंकि सत्ता का प्रयोग मानव को सुख देने वाली होने के साथ साथ कल्याणकारी होती है। वाईक्लिफ ने कहा कि राजसत्ता धर्मसत्ता के किसी भी आचरण को सहन नहीं किया जायेगा, जो निरंकुश हो।

वाईक्लिफ ने सम्पत्ति के बारे में अपने विचार प्रकट किये। चर्च की सत्ता सार्वजनिक होती है। अतः उस पर पोप का कोई निजी स्वामित्व नहीं होना चाहिए।

जान हस:-

वाइक्लिफ के परम शिष्य जान हस 8373-8485 ने जो 8402 में प्राग विश्वविद्यालय में रैक्टर के पद पर आसीन हुआ। चर्च और पोप के गन्दे आचरण की कड़ी आलोचना की। जॉन हंस के विचारों पर सम्राट नाखुश था वह पोप जॉन तेइसवें द्वारा उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन हस के ऊपर इन सब बातों का प्रभाव नहीं पड़ा। उसने पोप और चर्च के पादरियों के विरुद्ध आन्दोलन का आगाज किया। जान हस ने कहा की एक सच्चे चर्च की पहचान कर्तव्यनिष्ठ लोगों से है। जान हस ने वाइक्लिफ के विचारों का समर्थन किया। परन्तु उसने कहा कि पोप चर्च पर शासन अपने निजी स्वार्थ के लिए कर रहा है। हस ने कहा कि चर्च की सत्ता ऐसे व्यक्ति (पोप) के हाथ में होनी चाहिए, जो कर्तव्यनिष्ठ तथा जन कल्याणकारी हो। जान हस ने कहा सम्पत्ति विलासिता की जननी है। अतः इससे दूर रहना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पोप की निरकुंशता का विरोध किया गया है। तथा लोक कल्याणकारी राजसत्ता का समर्थन किया गया है।

जान गर्सन:-

जान गर्सन मार्सीलियों के विचारों से प्रभावित था। उसने चर्च में पोप की सत्ता का विरोध किया। चर्च के सामान्य परिषद के सत्ता को अहमियत दी उसने अपना विचार प्रकट किया की पोप चर्च की सत्ता के अधीन है। तथा पोप अगर धर्म के विरुद्ध जाता है तो चर्च उसे अपदस्त कर सकता है। उसने सामान्य परिषद का इसलिए समर्थन किया कि चर्च और पोप के मध्य जो मतभेद है, वह समाप्त हो जायेगा। मार्सीलियों के इस विचार से सहमत नहीं था कि चर्च की प्रभुता में समस्त व्यक्ति केन्द्रित है। उसने मार्सीलियों की भाँति चर्च में सभी ईसाइयों को शामिल नहीं किया। वह चर्च की अन्तिम शक्ति सामान्य परिषद में मानता था। अगर सम्राट भी राज्य के हित में नहीं है तो उसे भी अपदस्थ किया जा सकता है। लौकिक शासक किसी भी समय सामान्य परिषद के सत्ता को बुला सकता था। जानगर्सन भी ईश्वरीय नियमों को महत्त्व देता था। जान गर्सन परिषद का प्रमुख नेता था। उसका प्रभाव था। वह परवर्ती सुधारों के लिए एक नया रास्ता तैयार किया।

निकोलस ऑफ क्यूसा:-

निकोलस परिषदीय आन्दोलन का प्रमुख नेता था। वह अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए जाना जाता था। वह कई यूरोपीय देशों में पोप के सन्देश वाहक के रूप में कार्य कर चुका था, इसलिए उसे अच्छा अनुभव था। निकोलस की प्रसिद्ध ग्रन्थ बंजींसपबं में बेसिल की कम ब्वदबंतजंदपजं परिषद के लिए क्रान्तिकारी विचार दिया। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में एकता और सामान्यजस्य को महत्त्वपूर्ण माना। निकोलस ने कहा कि पोप चर्च की एकता का प्रतिनिधित्व करता है। चर्च के प्रति पोप की उपयोगिता प्रदर्शित की जाती है। पोप चर्च का एक सदस्य है। किन्तु कभी कभी पोप कर्तव्य पालन में असफल रहा। इतना सब कुछ होने के बावजूद आश्चर्य की बात यह है कि निकोलस आफ क्यूसा ने अन्त में पोप का समर्थन किया।

8.4.5 परिषदीय आन्दोलन का महत्त्व

परिषदीय आन्दोलन पोप की निरकुंशता का दमन करने के लिए गठित किया गया। परन्तु वह अपने इस कार्य में सफल नहीं रहा।

इस आन्दोलन में सुधारवाद का सूत्रपात किया गया। इस आन्दोलन से यह भी स्पष्ट किया गया कि बिना आम जनता के कल्याण किए बगैर कोई भी सत्ता सुरक्षित नहीं रह सकती चाहे वह राजसत्ता का अधिकारी हो या धर्मसत्ता का। इस आन्दोलन को जनता का अन्तिम स्रोत माना गया।

परिषदीय आन्दोलन पोप को अपने अधीन न कर सका परन्तु यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च सर्वोच्च है। और पोप उसके अधीन है। चर्च के लिए एक प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था की माँग की गई जिससे पोप की विजय हुई। प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था असफल रही। भविष्य के लिए पोप सावधान हो गया। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ पोप की विधायी शक्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गई। यह कार्य चर्च के शासन प्रबन्ध का हो गया। लोगों में राष्ट्रीयता की भावना बलवती हो गई।

परिषदीय आन्दोलन सफल नहीं रहा पन्तु उसके सानिध्य में धर्मसुधार आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। परिषदीय आन्दोलन धार्मिक कम राजनीतिक अधिक था। परिषदीय आन्दोलन के अन्त होने के साथ-साथ मध्यकाल का भी अन्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न

- 1- पीसा की परिषद कब बुलाई गई?
i. 8409 ii. 8408 iii. 8404 iv. 8407
- 2- जान वाइक्लिफ की कौन सी रचना है?
i. डी डोमिनियो ii. प्रिन्स iii. लेवियायन iv. डिस्कोर्सेज
- 3- कान्स्टेन्स की परिषद में कितने लोहा उपस्थित थे?
(i) 4000 (ii) 3000 (iii) 5000 (iv) 8000
- 4- निकोलस के प्रसिद्ध पुस्तक का क्या नाम है?
(i) De Conoording Cathalica (ii) De Homine
(iii) De republing (iv) De Lawathon
- 5- जानवार्सन किस विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे?

(i) जाम्बिया (ii) जावा (iii) पेरिस (iv) इटली

8.5 सारांशः

परिषदीय आन्दोलन अपने सिद्धान्तों के व्यवहारिकता के कारण पूर्ण रूप से सफल हो सके। पोप और चर्च का भीषण पतन हो चुका था। पोप अपार सम्पत्ति का स्वामी था उसके ऐशो आराम तथा विलासिता पूर्ण जीवन ने समाज में क्रान्ति पैदा की। इस समस्या के समाधान के लिए विभिन्न परिषदों का गठन किया गया। पीसा की परिषद, कान्सटेन्स की परिषद, बेसिल की परिषद पोप के निरंकुश, सत्ता को नियंत्रण करने के लिए परिषदीय आन्दोलन अस्तित्व में आया। जान गर्सन, मार्सीलियों, विलियम आफ ओकम, दाँते, वाईक्लिफ आदि ने पोप और चर्च की अनैतिकता और आततायियों का निराकरण होना ही परिषदीय आन्दोलन का अस्तित्व में आना है। परिषदीय आन्दोलन में चर्च और पोप के लिए प्रभावशाली सत्ता निहित थी।

8.6 शब्दावली:

निरंकुशता-	जिस पर किसी का अंकुश नहीं
सार्वजनिक-	सभी के लिए
गौरव -	सम्मान, प्रतिष्ठा
विख्यात-	प्रसिद्ध

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1.. (i), 2.. (i), 3. (iii), 4. , (i), 5. (iii)

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2082.
- 2- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन- ओपी0 गावा
- 3- शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002.
- 4- डॉ0 वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, ज्ञानदा प्रकाशन नई दिल्ली।

8.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

8- पाश्चात् विचारको का इतिहास- प्रो० ए०वी०लाल

2- मध्यकालीन विश्व- रघुवीर सिंह

8.10 निबन्धात्मक प्रश्न:

8- परिषदीय आन्दोलन से आप क्या समझते हैं।

2- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारको की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

3- परिषदीय आन्दोलन के उत्पत्ति के कारण बताइए।

4- परिषदीय आन्दोलन में प्रमुख परिषदों का वर्णन कीजिए।

इकाई- 9 : पुनर्जागरण

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 पुनर्जागरण: आशय एवं परिभाषाएँ
- 9.4 पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि
 - 9.4.1 पुनर्जागरण की उत्पत्ति के कारण
 - 9.4.2 पुनर्जागरण के विकास के कारण
 - 9.4.3 पुनर्जागरण की विशेषताएँ एवं परिणाम
 - 9.4.4 पुनर्जागरण के प्रभाव
 - 9.4.5 पुनर्जागरण के महत्त्व
- 9.5 सारांश
- 9.6 शब्दावली
- 9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 9.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना:

पुनर्जागरण यूरोप के इतिहास में ही नहीं विश्व के इतिहास में युगान्तकारी घटना है। पुनर्जागरण ने यूरोप में ही नहीं पूरे रोमन साम्राज्य में आधुनिक युग का श्री गणेश किया। पुनर्जागरण ने मानवीय सभ्यता तथा प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पुनर्जागरण ने वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पुनर्जागरण से प्रकृति पर मानव विजय प्रारम्भ हुई। बौद्धिक स्वतन्त्रता से लेकर राजनीतिक समाज विचार व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकार की नारी शिक्षा की मानव जीवन को सुखी बनाने ज्ञान को निर्धन व्यक्ति को सुलभ करने की अवधारणाओं का विकास हुआ। इसने धार्मिक स्वतन्त्रता की स्थापना की और एक नवीन प्रबुद्ध समाज का निर्माण हुआ। पुनर्जागरण की वजह से राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई। पोप और चर्च के अधिकारियों के विलासितापूर्ण जीवन की निन्दा की। पवित्र तथा नैतिक पूर्ण जीवन की मांग की। पोप की सत्ता दुर्बल होने से राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई। लोगों को अपने देश की प्रगति में रूचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार राष्ट्रीय साहित्यों के निर्माण में राष्ट्रीय भावना दृढ़ हुई। पुनर्जागरण का मानव जीवन के सभी पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। शिक्षा का प्रचार प्रसार हुआ। कई विश्वविद्यालय तथा अकादमी स्थापित की गईं। इंग्लैण्ड तथा इटली के साथ-साथ रोमन साम्राज्यों में भी नवीन युग का उदय हुआ। इंग्लैण्ड में लौकिक साहित्यों के साथ-साथ लोगों ने धर्मशास्त्रों में भी रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया। चर्च और पोप की सत्ता में सुधार हुआ। ईसाई धर्म में नैतिक सत्ता का बोलबाला हुआ। सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ की आधुनिकता के लक्षण परिलक्षित होने लगे, तथा पुनर्जागरण के बाद आधुनिक युग प्रारम्भ हो गया।

9.2 उद्देश्य:

- 1- पुनर्जागरण का मध्यकाल में क्या प्रभाव पड़ा, जान सकेंगे।
- 2- पुनर्जागरण के कारण को जान सकेंगे।
- 3- पुनर्जागरण के दौरान कला साहित्य तथा वैज्ञानिक उन्नति को जान सकेंगे।
- 4- इंग्लैण्ड और इटली में पुनर्जागरण के विकास को जान सकेंगे।

9.3 पुनर्जागरण- आशय और परिभाषाएँ

पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ है पहले से प्रस्तुत वस्तु या व्यक्ति का पुनः जगना। मध्यकाल के लगभग 1000 वर्षों के समय में जो विचार जो चिन्तन प्रवाह जीवन शैली लोगों ने प्रस्तुत की थी, आधुनिक काल के उदय होने के साथ-साथ वे पुनः जागृत हो उठीं। जेक्स एडगर स्वेन ने लिखा है, “पुनर्जागरण से ऐसे सामूहिक शब्द का बोध होता है जिसमें मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक युग के प्रारम्भ से बौद्धिक परिवर्तन का समावेश हो” वही पर साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है “नवीन ज्ञान” किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से यह एक प्रकार का आन्दोलन था, और मानव मस्तिक की एक अनोखी जिज्ञासापूर्ण स्थिति थी।

रिनेसा को समझने के लिए इटली के पांच राज्यों और दुनिया का सबसे सभ्य नगर कहा जाने वाला फ्लोरेंस तथा यूरोप को समझना परमआवश्यक है। पुनर्जागरण काल में आधुनिक युग के फलस्वरूप मध्यकालीन अन्धविश्वासपूर्ण विचारों के प्रति लोगों में रोष पैदा हुआ, और अधिकांशतः उन सभी बातों का बीजारोपण हुआ जो आज हमें आधुनिक युग में दिखाई पड़ती है।

पुनर्जागरण की कोई ऐसी सीमा नहीं थी। जिससे मध्यकाल और आधुनिक काल का विभाजन किया जा सका। 14वीं शताब्दी से आरम्भ होकर 1600ई0 तक प्रचार प्रसार हो गया था। लोगों में महान बौद्धिक जागृति ने आलोचनात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की। लोग प्रचलित प्रथाओं और परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। लोगों में परिवर्तन की चाहत थी। वे तत्कालीन संस्थाओं को चुनौती देने लगे। धीरे-धीरे परिवर्तन के फलस्वरूप इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे युग का सूत्रपात हो गया।

फिशर महोदय के अनुसार, “सर्वप्रथम इटली के नगरों प्राचीन, यूनानी और रोमन कला, साहित्य, संस्कृति का पुनर्गठन मानववादी आन्दोलन के प्रारम्भ, धार्मिक क्षेत्र में प्राचीन यूनानी सभ्यता का समावेश, व्यक्तिवाद, नवीन रुचि, नया दृष्टिकोण वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचना, दर्शन और धर्मशास्त्र का नवीन स्वरूप आदि को सामूहिक रूप से पुनर्जागरण कहते हैं।”

डी डब्ल्यू साउथगेट के अनुसार, “पुनर्जागरण के अन्तर्गत अन्वेषण की भावना का विकास हुआ, विचारधारा और कार्य में स्वतन्त्रता की भावना का विकास हुआ। अब भूतकाल की शिक्षाओं अन्धविश्वासों एवं परम्पराओं को बिना प्रश्न किए लोग स्वीकार करने को सहमत नहीं थे। मध्ययुगीन संस्थाओं के प्रति एक आलोचनात्मक प्रवृत्ति पैदा हुई। जो समय के साथ बढ़ती गई।”

फर्यूसन तथा ब्रून के अनुसार, “पुनर्जागरण का युग महत्वपूर्ण परिवर्तनों का युग था, जिसमें बहुत कुछ मध्यकालीन था। कुछ स्पष्टतः आधुनिक तथा कुछ स्वयं में विशिष्ट था। पुनर्जागरण ने मध्य एवं

आधुनिक युगो के बीच के स्थित स्थान को पाट दिया, फिर भी एक महान राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक एवं बौद्धिक जागृति का सांस्कृतिक काल था।”

इस प्रकार पुनर्जागरण के फलस्वरूप समस्त यूरोप के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई। जनता का जीवन के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। सांसारिक सुखो ने भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। पुनर्जागरण ने मध्य युग के दोषो को समाप्त कर उसके स्थान पर व्यक्तिवाद भौतिकवाद स्वतन्त्रता की भावना उन्नत कर राजनीतिक राष्ट्रवाद को प्रतिस्थापित किया।

9.4 पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

पुनर्जागरण का आरम्भ कोई घटना नहीं थी। बल्कि इसके कई आकस्मिक पूर्वाचिन्ह पहले से विद्यमान थे। चौदहवीं शताब्दी से पहले भी समय-समय पर सामूहिक राजनीतिक उथल पुथल तथा तर्क वितर्क, क्रिया प्रतिक्रिया के उदाहरण मिलते हैं।

प्रथम:

पहला पुनर्जागरण आन्दोलन कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स प्रथम से सम्बन्धित था।

द्वितीय:

दूसरा पुनर्जागरण का श्रेय अलबिजेनसियन को दिया जाता है। बहुत हद तक पुनर्जागरण का शुभारम्भ इसी चरण में माना जाता है। किन्तु उस समय चर्च का पादरी वर्ग इस आन्दोलन से इतना संशुभित हो गया कि इसे क्रूरता पूर्वक दबाने की पूरी कोशिश किया।

तृतीय:

तीसरा पुनर्जागरण आन्दोलन सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय (1212-1250) से सम्बद्ध था, सम्राटों के संरक्षण में बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ। उस समय दाँते ने पुनर्जागरण में अहम भूमिका निभाई।

इटली में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

पुनर्जागरण का शुभारम्भ इटली से ही हुआ और धीरे-धीरे इस आन्दोलन का बहाव स्पेन, पुर्तगाल, फ्रान्स, इंग्लैण्ड और जर्मनी में फैल गया। वास्तविकता तो यह है कि उस समय इटली का वातावरण पुनर्जागरण के अनुकूल था। क्योंकि उस समय इटली कई भागों में विभाजित थी। 15वीं शताब्दी में इटली राजनीतिक दृष्टि से कमजोर थी। राजनीतिक एकता का अभाव था, और अनेक देशभक्त इटली की एकता की आकांक्षा करते थे। दान्ते तथा पेट्राक जैसे कई साहित्यकार और राजनीतिज्ञों ने एक

सुसम्बद्ध राज्य प्रदान करने में अहम भूमिका निभाई। लेकिन फिर भी इटली राजनीतिक दृष्टि से एक ईकाई न बन सका।

इटली में पुनर्जागरण के दो पहलू थे- प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन कला का विकास, पुनर्जागरण के साहित्यिक पहलू को “मानवतावाद” के नाम से जाना जाता है। मानवतावाद का प्रबल समर्थक फ्राँसेस्को पेत्राँक को माना जाता है। फ्राँसेस्को (1304-1374) मध्यकाल का वह प्रथम विद्वान था। जिसने राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य को समझा। मध्यकाल में जो पण्डित पंथ के गढ़ थे। पेत्राँक उनके खिलाफ थे। तथा वे लोग अरस्तू के विचारों का समर्थन करते थे। उसे पेत्राँक अज्ञानी मानते थे। तथा वे कहते थे कि अरस्तू भी मनुष्य थे और उनसे भी गलती हो सकती है। पेत्राँक ने मध्यकाल और चर्च पर गहरा तंज कसा। 15वीं शताब्दी के इटालियन विद्वानों ने नवीन ज्ञान और वैज्ञानिक विकास तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए पूरा प्रयास किया। इसके लिए अरियेस्टों का नाम प्रमुख है। इसी टासों और शेरब्योरो के नाम भी प्रसिद्ध हुए। इसीलिए इटली को पुनर्जागरण आन्दोलन का पथ प्रदर्शक माना जाता है।

यूरोप के अन्य भागों में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

16 वीं शताब्दी के अन्त तक इटली पुनर्जागरण के विचारधारा को खो चुकी थी। परन्तु तब तक यूरोप में मानवतावाद कदम रख चुका था, तथा इटली का आटपस पर्वत पार कर जर्मनी, फ्रांस एवं इंग्लैण्ड में प्रवेश कर चुका था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गणितज्ञ, राजनीतिज्ञ धर्मशास्त्री के रूप में कार्डिनल निकोलस बहुत प्रसिद्ध हुआ। जर्मनी में भी सभी संस्थाएँ चारों तरफ पूरे नगर में विखरी पड़ी थी। इसमें प्रसिद्ध विद्वान विफेलिंग टिथेमिथस रिजियोमोन्टेनस एग्रिकोला वेसेल ने जर्मनी के वियना नामक स्थान पर मानववाद का प्रचार किया। ज्ञान के क्षेत्र में आसक्ति तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास हुआ।

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण का प्रारम्भ एडवर्ड चतुर्थ के शासनकाल में आरम्भ हो गया था, और महारानी एलिजाबेथ के शासनकाल में अपने चरम पर था। इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण के केन्द्र आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालय थे। वही पर इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान टामस मूर ने पुनर्जागरण का नेतृत्व किया। टामस ने अपनी प्रसिद्ध कृति यूटोपिया को देकर पुनर्जागरण का डंका बजा दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति यूटोपिया में ऐसे विश्व की कल्पना की जो समस्त बुराइयों से मुक्त हो।

इंग्लैण्ड के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार फ्रान्सिस बेकन ने अपनी प्रसिद्ध कृति दि एडवान्समेण्ट आफ लर्निंग में विज्ञान के अध्ययन को अनिवार्य माना। इसी समय का महान साहित्यकार विलियम शेक्सपियर है।

उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग का स्वभाविक चित्रण किया। उसी समय आइजक न्यूटन तथा ट्यूडर राजाओं ने पुनर्जागरण को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया।

9.4.1 पुनर्जागरण की उत्पत्ति के कारण:

पुनर्जागरण कोई अचानक में घटने वाली घटना नहीं थी। 9 वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर 15 वीं शताब्दी तक सामाजिक राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथ्य उपस्थित हो गये। उनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं।

कुस्तुन्तुनिया का पतन:

पूर्वी रोम साम्राज्य में कुस्तुन्तुनिया का पतन पुनर्जागरण में अहम भूमिका निभाता है। अपनी संस्कृति को 1453 ई0 में तुर्कों से बचाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में रोम के लोग इटली पलायन करने लगे। वे अपनी संस्कृति साहित्य को बनाये रखने के लिए सभी धार्मिक और राजनीतिक पुस्तकें लेकर कुछ लोग फ्लोरेन्स चले गये। और आपस में ही विद्वता की तलाश करने लगे और सुधार की चाहत से लोगों ने बौद्धिक आन्दोलन छेड़ दिया। अन्धविश्वास को समाप्त कर विवेकवाद का वर्चस्व स्थापित हो गया। मानववाद को बढ़ावा मिला।

कांसर्टेंटिनोपल का पतन:

1453 में कांसर्टेंटिनोपल का पतन भी मध्यकाल में व्यापक परिवर्तन का कारण बना। कांसर्टेंटिनोपल के पतन से व्यापारिक समस्याएँ गम्भीर हो गईं तथा व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध कर दिए जाने के कारण एशिया पहुँचने के लिए नये मार्ग की खोज परमआवश्यक हो गया। 'अन्ततः अमेरिका की खोज हुई तथा एशिया के साथ सम्पर्क सूत्र बढ़ा, नवजागरण का सृजन हुआ।'

पश्चिमी यूनानी दर्शन से परिचय:

मध्य युग के समय में स्पेन यूरोप अफ्रीका आदि में इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ या अरब के लोग प्राचीन विद्या के प्रेमी होने के कारण वे रोम और यूनान के ग्रन्थों का सम्मान किया करते थे। उसी समय अरस्तू प्लेटो जैसे दार्शनिकों की कृतियों का लोगों ने अध्ययन करना शुरू किया। कई विद्वान जो यूरोप के रहने वाले थे। उन्होंने भी बड़े पैमाने पर अध्ययन किया। इसके परिणाम स्वरूप धर्मनिरपेक्षता तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का लोगों में विकास हुआ, जो पुनर्जागरण की उत्पत्ति में प्रमुख माना जाता है।

धर्मोत्तर पोषको का योगदान:

इस्लामी धर्म के विरुद्ध लोगों ने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। तथा धार्मिक उन्माद में फ्लोरेन्स में ईसाई धर्म की राजनीतिक सत्ता स्थापित हो गया। सभी चर्च के पोप और पादरी धर्मोत्तर संस्कृति के पोषक थे। चर्च के पादरियों तथा धर्माधिकारियों ने पुनर्जागरण में अहम् भूमिका निभाई।

इटली के समृद्ध विरासत का योगदान:

पुनर्जागरण में इटली की समृद्ध विरासत की आड़ में आपसी अन्तर्द्वन्द कलह, छुटपुट संघर्ष से निजात पाने के लिए कुछ प्रेरक तत्वों ने सभी विडम्बनाओं को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। सभी देशों से इटली के लोग चर्च की बुराइयों से अधिक अच्छी तरह अवगत थे। इटली में धर्म निरपेक्ष तत्त्व अधिक बलशाली थे। इटली में उत्तर मध्यकाल से ही साहित्यिक प्रगति के लक्षण दिखने लगे थे। समृद्ध की यह पृष्ठभूमि ने पुनर्जागरण का सूत्रपात किया।

उत्तर मध्ययुग प्रवृत्तियों का प्रभाव:

13 वीं शताब्दी के बाद सामंतवादी युग के अधिकांश लक्षण इस प्रकार हैं। सामंतवादी युग के अधिकांश प्रमुख संस्थाएँ पतन के गर्त में डूब गईं। पोप की सार्वजनिक सत्ता व्यापार एवं उद्योग निर्बल होती जा रही थी। चर्च का युग समाप्त हो रहा था। मध्यकालीन दर्शन के प्रति लोगों में रोष की भावना थी, और वही पर तेरहवीं शताब्दी में मार्कोपोलो ने चीन तक की यात्रा की। इटली, जेनेवा, पीसा, बेनिस आदि नगर राज्यों के व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। लोगों का धर्मनिर्पेक्ष के प्रति गहरा लगाव पैदा हो गया, तथा पुनर्जागरण के अभ्युदय में भूमिका निभाई।

कुछ अन्य कारण:

पुनर्जागरण के अन्य प्रमुख कारण भी हैं। जैसे विश्वविद्यालयों के स्थापना से ज्ञान में वृद्धि हुई। रोमन काल के अध्ययन का पुनर्चलन लोगों में वैज्ञानिक अविष्कार की भावना पैदा हुई। यथार्थवाद के विचार पैदा हुए तमाम अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का हरास होने लगा। पोपशाही का प्रचार प्रसार कम होना इटालियन नगरों का भूमध्यसागरीय व्यापार पर एकाधिकार हो गया। छापे खाने का भी अविष्कार हो गया था। कुछ न कुछ इसका भी प्रभाव पड़ा था। रोमन आदर्शों का अनुसरण होने लगा। नवीन विकास का प्रभाव इन सभी ने सम्मिलित होकर पुनर्जागरण के उदय में अहम् भूमिका निभाई।

9.4.2 पुनर्जागरण के विकास के कारण

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त पुनर्जागरण के विकास में निम्नलिखित प्रमुख कारणों का योगदान रहा-

1- सामन्तवाद:

पुनर्जागरण का विकास सामन्तवाद के फलस्वरूप हुआ। जैसे-जैसे सामन्तवाद का विकास हुआ समाज में सामन्तशाही विचारों के प्रति विरोध पनपने लगा। सामन्तवाद यूरोपीय जीवन के एक प्रमुख विद्या के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। आर्थिक आधार पर लोगों का शोषण होता था। अतः मध्यकालीन संस्कृति में सामन्तवाद के विनाश के साथ-साथ पुनर्जागरण का विकास हुआ।

चर्च:

पुनर्जागरण के विकास का दूसरा आधार चर्च था। ग्रेगरी महान के समय चर्च के पद और प्रतिष्ठा के लिए आपसी संघर्ष जारी था। उस समय हेनरी ने चर्च की सत्ता को मजबूत करने के लिए विद्वानों और वकीलों की आवश्यकता को अनुभव किया तथा विद्वानों को रोम जाने के लिए प्रोत्साहित किया और वही पर यूरोप में अरबी विज्ञान का प्रसार प्रचार हो रहा था, और पहले से यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान के मूर्त रूप थे। आक्सफोर्ड पेरिस और बोलोना में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और एक आन्दोलन चल पड़ा जिसे स्कौलेस्टिसिज्म अर्थात् पंडितपंथ कहा जाता था। इससे विद्याध्ययन और वाद विवाद को बढ़ावा मिला। तेरहवीं शताब्दी में अरस्तू के दार्शनिक विचारों का विरोध होने लगा। उसी समय मानवतावाद का प्रतिपादन हुआ। पत्राँक, फैंसिस्को आदि विद्वानों की लेखनी से समाज में इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों में चेतना जागृत हो गई। लोगों की चर्च और उनके पादरियों से विश्वास कम होने लगा पुनर्जागरण के विकास में चर्च की सत्ता ने अहम किरदार निभाया।

विद्वानों की भूमिका:

अनेक साहित्यकारों और विद्वानों ने अपनी प्रखर लेखनी के माध्यम से पुनर्जागरण का प्रचार प्रसार किया। 13 वीं शताब्दी में महान प्रख्यात विद्वान वेकन ने तर्क और प्रयोग पर इतना बल दिया कि विज्ञान की उन्नति अपने चरम पर पहुँच गई। पुनर्जागरण के विकास को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने में विद्वानों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

प्राचीन साहित्य:

प्राचीन साहित्य के अध्ययन में रोम और यूनान की संस्कृति के प्रति लोगों को गहरा लगाव था। लोगों में नए विचार पद्धति तथा नए विचारों का सृजन हुआ। जिज्ञासा की प्रवृत्ति पैदा होने लगी। मस्तिष्क में उदारता का संचार हुआ। विद्वानों ने संस्कृति को भी तर्क की तराजू पर तोलने लगे।

धर्मयुद्ध:

धर्मयुद्ध से तात्पर्य है कि उस समय कुछ स्थानों पर इस्लाम का कब्जा हो गया था। ईसाइयों और इस्लाम धर्म के मध्य संघर्ष प्रारम्भ था। लेकिन इस्लाम धर्म के विजय अभियान को रोका न जा सका। ऐसी स्थिति में दो धर्म के विचारों का मेल हुआ, और नवीन बातों का उदय हुआ, और वे

लोग एक दूसरे देश में अपने अपने अनुभव की चर्चा करने लगे। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियों में नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उनका सुप्त शौर्य जाग उठा और प्रगति की तरफ आगे बढ़ने लगे। जिससे पुनर्जागरण का विकास हुआ।

वैज्ञानिक अविष्कार:

वैज्ञानिक गवेषणाओं के फलस्वरूप यूरोप में पुनर्जागरण की लहर तेज हो गई थी। कागज मुद्रा और समुद्रों के मार्गदर्शन ने पुनर्जागरण के विकास में आग में घी का काम किया।

9.4.4 पुनर्जागरण की विशेषताएँ एवं परिणाम:

स्वतन्त्र विचार की प्रतिष्ठा:-

पुनर्जागरण की पहली विशेषता स्वतन्त्र विचार की प्रतिष्ठा को स्थापित करना मध्यकाल के घोर विडम्बनाओं तथा अन्धविश्वासों को समाप्त कर चर्च की परम्पराओं को समाप्त कर स्वतन्त्र चिन्तन की एक नई आधारशिला रखी गई।

मानववाद की उत्पत्ति:-

मानववाद शब्द की उत्पत्ति प्रसिद्ध इतिहासकार हेज ने लिखा है। नवजागरण की प्रस्तुती ही मानववाद द्वारा हुई। उस समय विद्वान पठन-पाठन करने लगे। आदर्श जीवन अपनाने लगे। मध्ययुगीन व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाई और विज्ञान सौन्दर्यशास्त्र तथा भूगोल जैसे विषयों को अधिक महत्व दिया। मस्जिद और चर्च की क्रियाएँ हास्यास्पद हो गई थी। नवीन आदर्शों का सृजन किया गया।

वैज्ञानिक विकास और अन्वेषण:-

मध्यकाल के वैज्ञानिक यह मानते थे कि पृथ्वी सभी ग्रहों का केन्द्र है। तथा पृथ्वी सभी ग्रहों की परिकल्पना करता है। लेकिन इस विचार का विरोध किया गया तथा बताया गया कि पृथ्वी स्वयं एक ग्रह है और सभी ग्रहों का केन्द्र पृथ्वी नहीं बल्कि सूर्य है। पृथ्वी भी अन्य ग्रहों के समान सूर्य की परिक्रमा करती है। इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ।

भौतिकवाद का विकास:-

मध्यकाल के समय में मनुष्य का जीवन सारहीन था। मनुष्य को सिखाया जाता था कि सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए। चर्च के सभी आदेशों का पालन करना चाहिए। पुनर्जागरण के समय में यह विचारधारा समाप्त हो गई। और मानव जीवन को सुविधामय बनाने के लिए यह महत्वपूर्ण प्रयास था।

धर्मनिर्पेक्षता का प्रचार प्रसार हुआ:-

मध्यकाल में स्वतन्त्र चिन्तन को प्रेरित करने वाले विषय इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि पढ़ाए जाते थे। यूरोप के भी कई विश्वविद्यालयों में ऐसे ही कई विषयों का अध्ययन कराया जाने लगा। धर्मोत्तर शिक्षा का द्रुतगति से विकास हुआ।

कला में आदर्श का निहित होना:-

मध्ययुग के कला का आधार ईसाई धर्म था। परन्तु पुनर्जागरण काल में कला के क्षेत्र में प्राचीन यूनान और रोमन आदर्शों की स्थापना करना था। पुनर्जागरण काल में लोगों ने उस कला को अपनाया जो प्राचीन होने के साथ साथ संयत और सरल भी थी। गोथिक शिखर के स्थान पर रोमन गुम्बद का प्रयोग होने लगा। पुनर्जागरण काल स्थापत्य कला का उदाहरण रोम में निर्मित सेण्टपीटर का गिरजाघर है। इसी प्रकार रोम और यूनान के आदर्शों का अनुकरण किया गया।

साहित्य का विकास:-

पुनर्जागरण काल में राष्ट्रीय भाषाओं को महत्त्व दिया गया। लोग लैटिन और यूनानी भाषा में साहित्यिक रचनाओं का निर्माण करने लगे उस समय विद्वानों ने अपनी रचनाओं में सांसारिक भावनाओं का चित्रण किया। उसी समय इटालियन भाषा में दान्ते ने अपनी पहली रचना दि डिवाइन कामेडी की रचना की थी। पुनर्जागरण काल में राजनीति और विज्ञान विषय पर कई ग्रन्थ लिखे गये।

पुनर्जागरण बहुत सी सहायक नदियों का संगम है। पुनर्जागरण के विकास में इटालियन योगदान शुरू से लेकर अन्त तक काफी प्रभावशाली था। इटली एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ सशक्त सामुदायिक जीवन युद्ध और आक्रमणों के झंझावत को क्षीण किया। 13 वीं शताब्दी में पोप के द्वारा विश्व शक्ति के रूप जर्मन का विनाश और फ्रांसीसी राजतन्त्र द्वारा पोप की अधीनता से इटली के स्वतन्त्र राज्यों को आत्मविश्वास और समुन्नत आत्मविश्वास का नूतन अवसर प्राप्त हुआ। लिनार्गे बूनी ने प्लेटो के संवादों को लैटिन भाषा में अनुवाद किया। ईसाई सिद्धान्त और रोमन कला का मिश्रण हो गया। पेट्राक को पुनर्जागरण के जनक होने का गौरव प्राप्त हुआ। पुनर्जागरण के कारण ही राष्ट्रीय एकता का प्रयास हुआ। सांस्कृतिक और बौद्धिकता का उत्कर्ष हुआ। कला साहित्य और राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति हुई। नगर राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया, तथा नवीन राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ।

9.4.4 पुनर्जागरण के प्रभाव:

राजनीतिक जीवन पर प्रभाव:-

पुनर्जागरण के पहले यूरोपियन समाज का राजनीतिक जीवन पूर्णतः सामंती था। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती गईं राजा भी सामंतों के दलबन्दी में घिरता गया। राजा सामंतों के चतुरता पूर्ण व्यवहार से उठकर सामंतशाही को समाप्त करना चाहता था। धीरे धीरे मध्यमवर्ग का प्रभाव बढ़ा तथा राजा भी अपने वर्चस्व को बढ़ाया। अतः राजतन्त्र के विकास के संकेत दिखने लगे। हेनरी चतुर्थ तथा इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम और फ्रान्स में जार्ज प्रथम तथा जार्ज हेनरी चतुर्थ द्वारा इंग्लैण्ड में और एलिजाबेथ के शासन काल में राष्ट्रीयता के आधार केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। यूरोप में संगठित होती होती ईकाईयों का जन्म हुआ। यूरोप में राजनीतिक सत्ता का हरास हो गया था। लेकिन राजा और मध्य वर्ग के मध्य सम्बन्ध में निकटता आने लगा और सामंतवर्ण अकेला पड़ गया। जिससे एक निर्णायक निर्णय सामने आया, और नई राजनीतिक व्यवस्था का उदय हुआ। व्यक्ति और राज्य की अस्मिता का स्पष्टीकरण हो गया तथा एक नए आधुनिक राज्य की स्थापना हुई। और अन्ततः पुनर्जागरण उसका पोषक बना।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव:-

पुनर्जागरण के पहले समाज में सामंतों का महत्त्व था। राजा सामन्त और चर्च के पादरी के अलावा समाज में किसी का महत्त्व नहीं था। समाज का मध्य वर्ग नगरो में रहता था। धन का अर्जन मुख्य काम था और नगरो में रहने वाले लोग चर्च का विरोध करने लगे, जिससे व्यक्ति का महत्त्व बढ़ने लगा। समाज में विडम्बनाओं से मुक्ति की चाहत थी। समाज में तनाव के लक्षण दिखने लगे। उस समय समाज में जो लोग चर्च से जुड़े थे वे अंधविश्वास और अंध परम्पराओं के कारण लोग अपने को भाग्यवादी मानते थे। पादरी अपने आप को सर्वोसर्वा समझते थे। इस अन्तर्द्वन्द्व कलह से उबरने के लिए सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों में मौलिक परिवर्तन होने लगा। आपसी सन्तुलन समाप्त हो गया। तनाव में वृद्धि हो गई, और आधुनिक समाज की संरचना का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

धार्मिक जीवन पर प्रभाव:-

पुनर्जागरण का धार्मिक प्रभाव धर्म सुधार आन्दोलन में बदल गया था। चर्च की सत्ता का एकाधिकार समाप्त होने लगा। विवेक और तर्क के आधार पर मान्यताएँ अपनी ही कसौटी पर कसा जाने लगा। धार्मिक उन्माद पैदा हो गया। चर्च के पादरी और कैथोलिक धर्म के पण्डित पंथी आपस में ही अलग होने लगे। मध्यकाल में धर्म की न तो तो कोई व्याख्या की गई न तो कोई परिवर्तन किया गया। 13 वीं शताब्दी में व्यक्तिवाद की स्थापना की गई। शनैः शनैः धर्म का स्वरूप बदलने लगा और पुनर्जागरण अपने चरम पर था।

आर्थिक प्रभाव:-

उस समय आर्थिक जीवन अपेक्षाकृत सरल तथा व्यवस्थित था। उस समय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। कामगार मजदूरों का संगठन बहुत कमजोर था। 13वीं शताब्दी के फलस्वरूप व्यापार और व्यवसाय में जटिलताएँ बढ़ने लगी। आर्थिक जीवन में उत्पादन और वितरण के स्वरूप बदलने लगे। 15 वीं शताब्दी तक लोग नगरों की तरफ आकर्षित हुए एवं बैंको का जन्म होने लगा। व्यापार और व्यवसाय में भी नियम और कानून बनने लगे। राजनीति और सामान्य जीवन एक साथ सम्बद्ध हो गया। इसी तरह पुनर्जागरण की छाप स्पष्ट दिखाई देने लगी।

सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव:-

पुनर्जागरण के दौरान प्राचीन रोम तथा यूनान की संस्कृति को लोग अपनाने लगे। हूणों के आक्रमण से सभ्यता और संस्कृति रसातल में चला गया था। वह पुनर्जागरण के समय नैतिक दर्शन और मानवीय विषयों पर गहन विचार विमर्श हुआ। पुनर्जागरण का इतना प्रभाव पड़ा कि संस्कृति को लोग अपनाने लगे, और मध्यकाल के गन्दी संस्कृति को तिलांजलि देकर लोग नवीन संस्कृति के तरफ अग्रसर थे।

9.4.5 पुनर्जागरण का महत्त्व:-

पुनर्जागरण के महत्त्व का यदि विश्लेषण करे तो यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्पराओं पर आधारित एक ऐसा नवीन प्रयोग हुआ और ऐसा सामन्जस्य देखने को मिला। जो नितान्त मौलिक दिशाएँ भी खोजी जा चुकी थी। यूनान की गरिमा तथा संस्कृति को विद्वानों ने सजोकर रखा। धर्म की चुभन से दूर हटकर नई संस्कृति और सभ्यता का पुनर्निर्माण हुआ। भौगोलिक अन्वेषणों में नई दुनिया अमेरिका की खोज हुई। मनुष्य ने अपने शक्तियों के मध्य वैज्ञानिक विकास पर जोर दिया। विवेक और विज्ञान से युक्त नवीन जीवन दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की। सभी छल, द्वेष, पाखण्ड से दूर रहकर अन्धविश्वासों की तिलांजलि देकर लोग विकास की तरफ अग्रसर होना चाहते थे। पुनर्जागरण के उदय से उत्कर्ष और समृद्धि की तरफ आगे बढ़ने लगे। सभी धर्मों का समान आदर होने लगा। पुनर्जागरण से वैज्ञानिक सोच तथा आधुनिक समाज राष्ट्र राज्य का विकास हुआ। मानववाद तथा भाईचारे की भावना का विकास हुआ। पुनर्जागरण से मध्यकाल की पुरातन व्यवस्था का अन्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1- सर्वप्रथम 1300 ई0 में पुनर्जागरण की झलक निम्न देश में दिखाई पड़ी।

(अ) फ्रान्स (ब) इंग्लैण्ड (स) इटली (द) स्पेन

- 2- पुनर्जागरण युग का इटली का पहला असाधारण व महान साहित्यकार था
(अ) पैटार्क (ब) माइकल एंजिलो (स) स्वैले (द) हार्वे
- 3- पुनर्जागरण काल में इंग्लैण्ड ने विश्व को अमर नाटककार दिया-
(अ) सेक्सपियर (ब) टॉमस मूर (स) हार्वे (द) इरास्मस
- 4- पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ होता है।
(अ) फिर से जागरण या पूनर्जन्म (ब) वैज्ञानिक प्रगति
(स) साहित्यिक प्रगति (द) शैक्षणिक प्रगति
- 5- पुनर्जागरण काल की वैज्ञानिक प्रगति में योगदान दिया-
(अ) कापरनिकस (ब) हार्वे (स) केपलर (द) उपरोक्त सभी

9.5 सारांश

पुनर्जागरण के फलस्वरूप समस्त यूरोप में विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई। जनता को अपने जीवन के प्रति मोह पैदा हुआ, आम लोग सांसारिक सुख में अपना सुख देखने लगे। इस प्रकार सुखों को प्राप्त करने के लिए अंध विश्वास, आडम्बर और प्रथाओं को समाप्त किया जाने लगा। व्यक्तिवाद और भौतिकवाद को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रवाद की भावना प्रतिस्थापित किया गया। पुनर्जागरण के अन्तर्गत अन्वेषण का विकास हुआ। विचारधारा एवं कार्य में भी स्वतंत्रता का विकास हुआ। अन्धविश्वासों एवं परम्पराओं पर लोग तर्क की कसौटी पर कसने लगे, बिना प्रश्न किये लोग इसे मानने को तैयार नहीं थे। मानव जीवन सुखमय बनाने के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं को महत्व देने लगे, पुनर्जागरण काल में सभी विद्वानों ने मानववादी दृष्टिकोण को अपनाया था एवं धर्मोत्तर सत्ता में विश्वास करते थे। धर्म में व्याप्त बुराईयों के विरोधी थे। मानव स्वतंत्रता, राष्ट्रीय निष्ठा पर बल दिया जाने लगा।

9.6 शब्दावली

पुनर्जागरण	-	नवीन व्यवस्था का उदय
तिलांजलि	-	त्याग
देवत्व	-	देव

प्राचीन	-	पुरानी
सर्वोत्कृष्ट	-	सभी में उत्तम

9.7 अभ्यास प्रश्न के उत्तर:

1. (स) 2. (द), 3. (अ), 4. (अ), 5. (द)

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- सिंह, रघुवीर, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2012.
- 2- वर्मा, एस0आर0, मध्य कालीन विश्व का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2003.
- 3- शर्मा, प्रभुदत्त, पाश्चात् राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002

9.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

- 1- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक- ओ0पी0 गावा
- 2- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-प्रो0ए0वी0 लाल

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- इटली में पुनर्जागरण पर निबन्ध लिखिये।
- 2- पुनर्जागरण के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
- 3- पुनर्जागरण से आप क्या समझते हैं? पुनर्जागरण का महत्त्व बताइए।

इकाई-10 : धर्म सुधार और प्रतिवादात्मक धर्म सुधार

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 धर्म सुधार आन्दोलन
 - 10.3.1 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कारण
 - 10.3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के व्याख्या
 - 10.3.3 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की संस्थाएँ
 - 10.3.4 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कई देशों में प्रचार प्रसार
 - 10.3.5 यूरोप में प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम
- 10.4 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम एवं महत्त्व
- 10.5 सारांश
- 10.6 शब्दावली
- 10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना:

16वीं शताब्दी तक कोई ऐसी बात नहीं थी जिससे ज्ञात हो कि चर्च में विघटन होने वाला था। मध्य युग में यूरोप के बर्बर जातियों के आक्रमण और सुरक्षा की दृष्टि से धार्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए रोमन कैथोलिक चर्च की स्थापना हुई। इस कैथोलिक चर्च में सुधार करना ही धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

प्रतिवादात्मक सुधार आन्दोलन कैथोलिक चर्च के दोषों के निराकरण के उद्देश्य से हुआ था। कैथोलिक धर्म में सुधार के साथ-साथ प्रोटेस्टेण्ट धर्म की स्थापना हुई। विभिन्न सम्प्रदाय के लोग इस धर्म को मानने लगे। यूरोप का उत्तरी भाग इस विभिन्न सम्प्रदायों का अनुयायी था। प्रोटेस्टेण्ट धर्म का प्रभाव कैथोलिक चर्च तथा धर्म को मानने वाले लोगों पर भी पड़ा। लोग चर्च और पोप में सुधार के इच्छुक थे। कैथोलिक धर्म के अन्दर कलह पोप की विलासिता पूर्ण जीवन चर्च में पादरी का आर्थिक भ्रष्टाचार सभी धार्मिक संस्थाओं के प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए पोप चर्च में सुधार के लिए जो आन्दोलन अस्तित्व में आया उसे प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन कहा गया। पोप की निरकुंश सत्ता पर नियन्त्रण के लिए प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का नेतृत्व पोप पाल तृतीय ने किया था। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार में कहा गया कि चर्च के सर्वोच्च सत्ता पर वही व्यक्ति बैठ सकता है जो पवित्र और त्यागमयी जीवन जीने के लिए प्रतिबद्ध हो। उसका उद्देश्य मात्र चर्च की प्रभुता अखण्डता में एकता बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध है।

10.2 उद्देश्य:

- धर्म सुधार आन्दोलन के बारे में जान सकेंगे।
- धर्म सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता और उनके विचारों को जान सकेंगे।
- यूरोप में प्रतिसुधार आन्दोलन को जान सकेंगे।
- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम और महत्त्व को जान सकेंगे।
- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन का इलैण्ड में क्या प्रभाव पड़ा आप जान सकेंगे।

10.3 धर्म सुधार आन्दोलन:

पुनर्जागरण आन्दोलन के पश्चात् राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को नवीन स्वरूप देने का श्रेय धर्म-सुधार आन्दोलन को है। इस महान् आन्दोलन ने शक्तिशाली रोमन चर्च में परिवर्तन लाने और इस सिद्धान्त मतानुसार समस्त यूरोप एक ईसाई समाज है जिसका सर्वोच्च प्रधान पोप है। पोप को नष्ट करने का महान् कार्य किया। यद्यपि 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों में नवीन शक्तियों और विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था किन्तु महान् धर्म-संस्था रोमन चर्च अभी तक इन सब परिवर्तनों से अप्रभावित था। पोप की निरंकुशता, आडम्बर प्रियता और उसके अनाचारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया था। चर्च का प्रभाव-क्षेत्र अब भी अत्यन्त व्यापक था। जब तक रोमन चर्च मध्यकालीन बना हुआ था तब तक यूरोप का आधुनिकीकरण करना दुष्कर था। यद्यपि सुधारवादी आन्दोलन ने इस कार्य की पूर्ति की दिशा में निर्णायक भूमिका अदा की, तथापि यह मध्यकालीन विचारों और आधुनिकता का सम्मिश्रण था। यह आन्दोलन मैकियावली से बहुत पीछे था। मैकियावली ने धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने का भरसक प्रयत्न किया था जबकि आन्दोलन के मूल प्रवर्तक मार्टिन लूथर एवं कॉल्विन ने धर्म तथा राजनीति को घनिष्ठ सम्बन्धों में जोड़कर पुनः मध्यकालीन विचार को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। धर्म-सुधार आन्दोलन किसी एक विषय तक सीमित नहीं था। वह ऐसा आन्दोलन था जिसने यूरोप की सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया। प्रश्न उठता है कि यह आन्दोलन क्रान्ति था अथवा प्रक्रिया? एल्टन के अनुसार धर्म के क्षेत्रों में ये क्रान्ति थी, किन्तु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रक्रिया की निरन्तरता। कोहलर के अनुसार, यह धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रक्रिया ही थी। यदि ध्यान से देखा जाए तो दोनों ही अपने अपने दृष्टिकोण में सही प्रतीत होते हैं।

10.2 धर्म सुधार आन्दोलन के अग्रणी विचारक:

इस आन्दोलन का प्रमुख प्रवर्तक मार्टिन लूथर था। लूथर प्रारम्भ से धार्मिक प्रवृत्ति का था। अपनी रोम यात्रा में पोप की अनैतिकता और धर्माधिकारियों की धन-लोलुपता ने उसके हृदय में चर्च सुधार की तीव्र इच्छा जगा दी।

लूथर ने पोप के विरुद्ध जर्मन की राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करते हुए स्पष्ट किया कि पोप ने अवैध रूप से शक्ति अपने हाथों में संचित कर रखी है, लौकिक मामलों में पोप का हस्तक्षेप अनुचित है। पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशों पर कोई अधिकार नहीं है और जर्मनी में तथा अन्य देशों में चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के शासकों का है। पोप तथा अन्य पादरी केवल चर्च के अधिकारी हैं और लौकिक शासकों के लिए उनमें तथा अन्य नागरिकों में कोई भेद नहीं है।

यद्यपि लूथर धार्मिक बल-प्रयोग के विरुद्ध था लेकिन वह यह नहीं समझ सका कि धर्म, धार्मिक अनुशासन और सत्ता के बिना किस प्रकार काम चला सकता है। संकोचपूर्वक लेकिन विश्वास-पूर्वक

वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधर्मिता का और विषमतायुक्त शिक्षा का दमन होना चाहिए। इस स्थिति में, अपनी प्रवृत्ति के बावजूद, उसने बल-प्रयोग को आवश्यक समझा। चूँकि चर्च अपनी दुर्बलताओं को खुद ठीक नहीं कर सकता था, अतः उन दुर्बलताओं को ठीक करने का उत्तरदायित्व लौकिक शासकों पर आ गया। अतः उससे अच्छा और एकमात्र अवशिष्ट उपाय यह रह गया कि राजा, शासक, कुलीन, नगर और समुदाय धर्म-सुधार आरम्भ कर दें। जब-जब वे ऐसा करेंगे तो बिशप और पादरी जो इस समय डरते हैं, विवेक का अनुसरण करने के लिए विवश हो जाएँगे।

धर्म-सुधार की सफलता के लिए शासकों पर निर्भर हो जाने से लूथर के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस सिद्धान्त पर बल दे कि प्रजा को विनम्रतापूर्वक अपने शासकों की आज्ञा माननी चाहिए। उसने शासकों को देवता स्वरूप और सामान्य मनुष्य को 'शैतान' मानते हुए कहा-“इस संसार के शासक देवता हैं और सामान्य मनुष्य शैतान हैं। सामान्य मनुष्यों के माध्यम से ईश्वर कभी-कभी ऐसे कार्य करता है जो वह सीधे शैतान के माध्यम से करता है। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापों के दण्ड के तौर पर विद्रोह करवाता है।” लूथर ने कहा-“मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्य की तुलना में शासक के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन कर लूँ।” निष्क्रिय आज्ञापालन का प्रबल समर्थन करते हुए उसने घोषित किया-“अपने से ऊँचे लोगों की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इससे अच्छा और कोई नहीं है। इसलिए अवज्ञा, हत्या, अपवित्रता, चोरी और बेईमानी, सबसे बड़े पाप हैं।”

मेल्लॉकथाँ के विचार

मार्टिन लूथर का शिष्य द्वितीय फिलिप मेल्लॉकथाँ (1497-1560) मैक्सि की दृष्टि में सुधारवादी क्रान्ति का वास्तविक दार्शनिक था क्योंकि वह लूथर की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी, विनम्र, मानवतावादी और समन्वयवादी था। उसने सुधारवादी क्रान्ति का सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए अपने विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया, लेकिन क्रान्ति में भाग लेने के फलस्वरूप उसे लूथर के समान ही विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और फलस्वरूप उसके विचारों में भी आत्म-विरोध और असंगतियाँ प्रवेश कर गईं।

मेल्लॉकथाँ ने ईश्वर की इच्छा को राजसत्ता का आधार माना और कहा कि तर्कों द्वारा भी उसे प्राकृतिक सिद्ध किया जा सकता है। मेल्लॉकथाँ ने राजसत्ता का मुख्य कर्तव्य यह माना कि वह मानव स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे, शान्ति की व्यवस्था करे, अपराधियों को दण्ड दे और लोगों में धार्मिकता और नैतिकता का संरक्षण एवं विकास करे।

धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सम्बन्ध पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मेल्लॉकथाँ ने कहा कि “राज्य का कार्य केवल पेट-पूजा की व्यवस्था ही नहीं है वरन् आत्मा का कल्याण भी है।” आत्मिक कल्याण के लिए राज्य द्वारा उन ब्राह्म व्यवस्थाओं का निर्माण किया जाना चाहिए जिनमें

व्यक्ति का आन्तरिक विकास हो सके। मेलोंकथाँ ने कहा कि आत्मिक और भौतिक कार्यों के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती कि दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र रहें तथा एक के बिना दूसरे का काम चल सके। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस सत्य को स्वीकार किया जाना चाहिए।

काल्विन के विचार

सन् 1509 ई० में फ्रांस के पिकाडो नामक नगर में जन्मा जॉन काल्विन लूथर के समान ही धर्म-प्रचारक था। धर्म-सुधार राजनीतिक विचारों को क्रमबद्ध रूप से रखने और उनका अधिक गतिशील विवेचन करने का श्रेय काल्विन को ही दिया जाता है और इसीलिए कभी-कभी उसको सुधार आन्दोलन का 'सिद्धान्तवेत्ता' भी कह देते हैं। उसके प्रतिनिधि सद्ग्रन्थ 'इन्स्टीट्यूट ऑफ क्रिश्चियन रिजिजन' में उसके द्वारा प्रोटेस्टेन्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध एवं व्यापक विवेचन उपलब्ध होता है।

काल्विन ने बतलाया कि ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रभुता सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है। यह सम्पूर्ण विश्व विराट ईश्वरीय नियति के चक्र में बँधा हुआ है और समस्त घटनाएँ ईश्वरीय संकल्प का परिणाम हैं। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, उदाहरणार्थ परिवार, सम्पत्ति, चर्च और राज्य ईश्वरीय इच्छा का ही एक अर्थ में प्रतिनिधित्व करती हैं। चर्च और राज्य मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित करें, यही कल्याणकारी कार्य है।

काल्विन के धर्म का मूलमन्त्र था- मनुष्य ईश्वर का बनाया हुआ उपकरण है। मनुष्य की इच्छा को फौलादी और उसके हृदय को कठोर बनाने के लिए इससे अच्छा कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। काल्विन के इस नियतिवाद के सिद्धान्त का सार्वभौम दुर्घटना की वर्तमान संकल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसने संसार और मनुष्य के ऊपर ईश्वर की प्रभुसत्ता का भरपूर बखान किया था।

काल्विन के चर्च और राज्य की पृथकता स्वीकार करते हुए भी यह माना कि दोनों स्वभाव से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। दोनों की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। दोनों संस्थाएँ ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, अतः दोनों को मिलाकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए पर दोनों में उसने लौकिक संस्थाओं को अधिक महत्त्व दिया। काल्विन ने धर्म को राज्य की आत्मा मानते हुए बतलाया कि धर्म की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है। साथ ही शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना भी राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है।

लूथर की भाँति ही काल्विन ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन पर बल दिया। उसने राज्य की आज्ञा का मूक भाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्तव्य बतलाया। उसने कहा कि लौकिक शक्ति-मुक्ति का बाहरी साधन है, अतः शासक का पद अत्यन्त सम्माननीय है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है

और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। यदि कुछ लोगों को खराब शासक मिलता है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगों को खराब शासक की भी उसी भाव से आज्ञा पालन करनी चाहिए जिस भाव से वे अच्छे शासक की आज्ञा का पालन करते हैं। यहाँ वास्तविक गौरव पद का है।

काल्विन ने राज्य और चर्च दोनों को पृथक् रखते हुए इनकी एक सीमा-रेखा भी खींच दी थी, जिसका दोनों ही अतिक्रमण नहीं कर सकते थे। अतः इसका भी महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि काल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ-वहाँ इसके अनुयायियों ने उन सब शासकों का विरोध किया, जो धर्म के मामले में हस्तक्षेप करते थे। इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं में सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ।

जॉन नॉक्स के विचार

मार्टिन लूथर और काल्विन दोनों अनुदार रूढ़िवादी थे जिन्होंने राज्य की दैवी उत्पत्ति स्वीकार करके राजकीय अधिकारियों के गौरव में वृद्धि की तथा निष्क्रिय-आज्ञाकारिता का उपदेश देकर राजकीय निरंकुशतावाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु जब स्कॉटलैण्ड, फ्रांस एवं नीदरलैण्ड में राज्य द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की आड़ में काल्विनवादियों पर अत्याचार किए जाने लगे तो काल्विन के समर्थकों ने राज्य के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक समझा और इस अवधारणा का विकास किया कि अन्तःकरण की स्वतन्त्रता आज्ञापालन से ऊपर है, अतः व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है। फ्रांस में कतिपय काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को प्राकृतिक कानूनों में मिला दिया जिसके अनुसार शासक और शासित दोनों ही कानूनों के अधीन थे। इस सिद्धान्त के आधार पर काल्विनवादियों ने राज्य की शक्तियों पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए जो उनके लिए खतरे बन गए थे।

मूलतः नॉक्स ने काल्विन के विचारों का ही अनुसरण करते हुए ईसाई सिद्धान्त की उसकी अकाट्य व्याख्या को स्वीकार किया। उसने चर्च के अनुशासन को स्वेच्छा से न मानने वालों के प्रति चर्च द्वारा कठोर कार्यवाही किए जाने के विचार का भी समर्थन किया। उसने काल्विन की इस धारणा की पूष्टि की कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म का और उसके अनुशासन का दृढ़ता से पालन करना चाहिए किन्तु जहाँ काल्विन द्वारा समर्थित निष्क्रिय आज्ञापालन का सिद्धान्त सामने आया, उसने इसका खण्डन करते हुए घोषित किया कि “जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।”

10.3 धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व:

धर्म-सुधार आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं-

प्रथम, धर्म-सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की सर्वोच्च प्रभुता को ठुकरा कर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। अब रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी अनेक राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हो गई। धार्मिक एकता का प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों में विभाजन हो गया।

द्वितीय, सुधारवादी आन्दोलन ने चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाकर मध्ययुगीन विश्व-साम्राज्य की धारणा में क्रान्तिकारी एवं मौलिक परिवर्तन किया। चूँकि इसके कारण राष्ट्रीयता के विचारों को प्रोत्साहन मिला। पोप का सर्वत्र विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और साम्राज्य का स्थान प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया।

तृतीय, धर्मसुधार आन्दोलन का एक तात्कालिक परिणाम राजसत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि और निरंकुश राजतन्त्र को यूरोप में एक सामान्य शासन के रूप में बनाना हुआ। साथ ही साथ व्यक्ति एवं धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास भी हुआ।

चतुर्थ, इस आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन सहिष्णुता का विकास भी था। धार्मिक संघर्ष का अन्ततः एकमात्र निराकरण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेंट राजा कैथोलिक प्रजा का तथा कैथोलिक शासक प्रोटेस्टेंट प्रजा का दमन करने में असफल रहे। शनैः शनैः एवं परिस्थितिवश यह विचार पनपता गया कि सुख और समृद्धि तभी संभव है वह राज्य धर्मनिरपेक्ष वातावरण पैदा करे। यदि राज्य धार्मिक मतभेदों से ऊपर रहेगा तभी विभिन्न धर्मावलम्बियों में एक सामान्य राजनीतिक निष्ठा रखना संभव हो सकेगा।

अन्त में फिगिस के शब्दों में- “जहाँ तक धर्मसुधारवादी आन्दोलन ने एक सुसंगठित, सर्व-शक्तिमान, क्षेत्रीय एवं नौकरशाही प्रधान राज्य की सृष्टि में सहायता दी, जहाँ तक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया, वहाँ तक उसे अपने परिणामों में आधुनिक समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक आदर्शों, धार्मिक, राजनीतिक शासन के रूप के लिए धार्मिक ग्रन्थों की अपील को पुनर्जीवित करने की थी, वहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारों की ओर वापिस लौट जाना था जो अरस्तू एवं पुनर्जागरण के निश्चित प्रभाव के कारण अधिकांशतः विलुप्त होते जा रहे थे।” कहना चाहिए कि इस आन्दोलन के प्रारम्भ में धर्मशास्त्रों पर बल देने की प्रवृत्तियाँ प्रबल रहीं, किन्तु अन्त में लोकतन्त्र की समर्थक और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होंने 17 वीं, 18 वीं, 19 वीं शताब्दियों के महान् राजनीतिक विचारों का सूत्रपात किया।

10.3.1 प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन:

धर्म सुधार आन्दोलन में निहित समस्याओं के समाधान के लिए प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन का उदय हुआ। इस आन्दोलन की स्थापना के फलस्वरूप बहुसंख्यक लोग कैथोलिक चर्च को त्याग कर प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की तरफ आकर्षित हुए। प्रति धर्म सुधार के भी कई सम्प्रदाय थे। लोग विभिन्न सम्प्रदायों में सम्मिलित थे। यूरोप का उत्तरी भाग कई सम्प्रदायों का अनुयायी था। यूरोप का दक्षिणी भाग अभी भी कैथोलिक चर्च का पोषक था। यूरोप के आस पास स्पेन पुर्तगाल इटली आस्ट्रिया, पोलैण्ड पूर्ण रूप से कैथोलिक थे। फ्रान्स में भी अधिक से अधिक संख्या में भी लोग कैथोलिक धर्म को मानने वाले थे। जितने भी कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोग थे वे चर्च में सुधार चाहते थे। 16 वीं शताब्दी में कैथोलिक चर्च को सुधारने के लिए कई सम्मेलनों का आयोजन किया गया। कैथोलिक चर्च के अन्दर जो सुधार हुआ। उसे ही प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

मैकाले ने अपने शब्दों में लिखा है, “लूथरवादी पृथकता के 50 वर्ष बाद कैथोलिक चर्च कठिनता से भूमध्यसागर के तटो पर अपने को सुरक्षित रख पाया था। इस पृथकता के 100 वर्ष बाद प्रोटेस्टेन्ट धर्म कठिनता से भूमध्य सागर के तटो पर सुरक्षित रख पाया।”

स्वेन ने लिखा है, “रोमन कैथोलिक चर्च में सुधार की प्रेरणा प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति के महत्वपूर्ण परिणामों में एक थी। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन में भी नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। नैतिक धर्म और प्रतिष्ठा को बहुत महत्व दिया गया। इसी नैतिक धर्म और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए कैथोलिक चर्च में सुधार किया गया। कैथोलिक धर्म भी अपने चर्च के नियमों में सुधार करके अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना चाहता था। पाल तृतीय के पद पर आसीन होते ही 1534-50 पोप पद की नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। जिसकी वजह से धर्मसुधार आन्दोलन के पुनरुत्थान के साथ-साथ जो प्रतिवादात्मक सुधार भी जारी था। प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन में धर्मनिरपेक्षता की भावना विकसित हुई। पोप के दैवी अधिकार कम हो गये। राजाओं के दैवी अधिकार स्थापित किए जाने लगे, प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के सभी समर्थकों ने ब्याज और लाभ का प्रबल विरोध किया। और अन्त में ब्याज और लाभ को प्रोत्साहित भी किया। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार से राष्ट्रीयता तथा निरंकुशता पर अधिक बल दिया जाने लगा। राष्ट्रीय चर्चों का निर्माण किया गया।

10.3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कारण:-

16 वीं शताब्दी में चर्च का विघटन हुआ तथा धर्म सुधार आन्दोलन के बीज पनपने लगे। धर्म सुधार आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य चर्च में तथा कैथोलिक धर्म में सुधार करना था। लेकिन इस आन्दोलन में हेनरी अष्टम ने ऐसी भूमिका निभाई की इस आन्दोलन का स्वरूप ही बदल गया। इसी के परिणामस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का श्री गणेश हुआ।

धार्मिक कारणः

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप पोप की लौकिक सत्ता तथा उसका व्यापक विरोध किया गया था। लेकिन धीरे-धीरे सुधार के बजाय स्थिति खराब होती गई। लोगों की अनैतिकता तथा सांसारिकता के कारण पोप के प्रति आदर कम होने लगा तथा कैथोलिक धर्म सुधार की चर्चा जोरों पर हो गई। उस समय कैथरिन की पुत्री मैरी शासन की उत्तराधिकारी थी, जो वह कैथोलिक और चर्च की कट्टर समर्थक थी। उसने अपने कार्यकाल में (1553-1558) ई0 में अपने दो पूर्ववर्ती शासकों (हेनरी अष्टम तथा एडवर्ड अष्टम) के कार्यों की कड़ी आलोचना की। तथा उनके चरित्र पर तंज कसा, और उन्हें कार्यों से मुक्त कर दिया। मैरी ने कैथोलिक धर्म में अपनी कट्टर आस्था प्रकट की तथा उस समय कैथोलिक समर्थक स्पेन के फिलिप द्वितीय से विवाह कर लिया। दोनों ने मिलकर कैथोलिक धर्म को लोगों पर थोपना शुरू किया- जो लोग कैथोलिक धर्म को मानने के लिए तैयार नहीं थे उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया तथा लोगों के मन में प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रति विरोध पैदा किया गया- कैथोलिक पादरी वर्ग का भ्रष्टाचार अपने चरम पर था। गिरिजाघर अनाचार का केन्द्र बन गया था। गिरिजाघर में रहने वाले लोगों पर किसी भी तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अनुशासन नाम की कोई चीज नहीं थी। कैथोलिक धर्म में धन की लिप्सा और परम्पराओं का दुरुपयोग किया गया। आम जनता का भी धार्मिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होने लगा। धर्म सुधार आन्दोलन से भी आम जनता की इच्छाओं का मार्ग प्रशस्त हुआ लेकिन उपर्युक्त समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। धर्म सुधार आन्दोलन का शान्तिपूर्ण प्रयास असफल था। जिसके परिणामस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का उदय हुआ।

आर्थिक कारणः

धार्मिक दोषों के साथ साथ कैथोलिक धर्म में आर्थिक दोष आ गये थे। पोप और चर्च आम जनता का शोषण करने लगे। चर्च और पोप के पदाधिकारियों ने कर की व्यवस्था लागू की गई थी। कर प्रणाली का दुरुपयोग किया गया। कर प्रणाली में सुधार के लिए धर्म सुधार आन्दोलन के माध्यम से कोई सफलता नहीं मिली। चर्च और पोप के पादरियों ने यह व्यवस्था बनाई थी की पुण्य प्राप्त करने के लिए चर्च को भूक्षेत्र दान में दिया जाए। ईश्वर के लिए आभार प्रकट करने के लिए धन की व्यवस्था किया जाए। इस प्रकार पश्चिमी यूरोप में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। कई सामन्ती कर व्यवस्था लगाये गये थे। चर्च उस करो को वसूलता था। सभी चर्च के लोग धनी व्यक्ति हो गये थे। यूरोपीय राज्यों का मध्यम वर्ग इस व्यवस्था से परेशान हो गया था। धर्म सुधार आन्दोलन के माध्यम से कैथोलिक धर्म समाप्त होने के कगार पर था। कैथोलिक धर्म के धर्माधिकारियों ने सोचा की अगर इन सब बुराइयों को समाप्त न किया गया तो कैथोलिक धर्म पूरी तरह समाप्त हो जायेगा। उत्तरी मध्य जर्मनी स्कैन्डीनेविया फिनलैण्ड स्टोनिया नाटविया उत्तरी नीदरलैण्ड स्विटजरलैण्ड का अधिकांश क्षेत्रों से प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई थी। कैथोलिक धर्म के मनीषियों को गम्भीर चिन्ता

थी। कैथोलिक धर्म तथा चर्च इतना धनी हो गया था कि वे अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिए दान की हुई सम्पत्ति को चल अचल सम्पत्ति मानते थे। पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक राज्य का प्रत्येक चर्च सबसे बड़ा भू-स्वामी था। उसे कई राज्यों से धन का बड़ा भाग प्राप्त होता था। जब प्रत्येक व्यक्ति के पास अथाह सम्पत्ति हो गई तो लोगों ने उसका विक्रय करना शुरू कर दिया इस प्रकार विलासिता बढ़ने के साथ साथ आय का नया स्रोत भी बन गया। धीरे-धीरे कैथोलिक धर्म में भ्रष्टाचार फैल गया और अधिक सम्पत्ति भ्रष्टाचार का साधन बन गया। इन सभी दोषों से निजात पाने के लिए लोगों ने प्रोटेस्टेंट धर्म अपनाया। उसी का दूसरा नाम प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन है।

राजनीतिक कारण:

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन धार्मिक विद्वानों की देन थी। जो अपनी पवित्रता सदाचार त्याग आदि गुणों के आधार पर कैथोलिक धर्म में सुधार किया जाने का प्रयास किया जा रहा था। उस समय सभी धर्मों में यह था की कहीं न कहीं वह धार्मिक सत्ता होने के साथ साथ राजनीतिक सत्ता भी थी। कैथोलिक धर्म चर्च से जुड़ा हुआ था। चर्च के पादरी और अधिकारी सभी सत्ता के लोलुप थे। वे सभी एक दूसरे की सत्ता में हस्तक्षेप नहीं पसन्द करते थे। राजा भी उस समय अपने आपको सर्वोपरि मानता था। आम जनता इस सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे। धीरे-धीरे राजा के समर्थकों में ही आपसी वैमनस्य पनपने लगा राजा भी कैथोलिक धर्म का प्रबल समर्थक तो था। लेकिन राजा का यह दृष्टिकोण नहीं था कि चर्च की जो सम्पत्ति थी। सभी पादरी और अधिकारी उसका व्यक्तिगत उपभोग न करें। उसे सार्वजनिक सम्पत्ति माना जाए। लेकिन इतना होने के बाद भी आम जनता में राष्ट्रवाद की भावना पनपने लगी, तथा कैथोलिक धर्म के प्रति लोगों का विश्वास उठने लगा तथा इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन आरम्भ हो गया था।

अन्य कारण:

कैथोलिक धर्म के विरुद्ध विद्वानों ने आवाज उठाई। सभी ने प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया। मार्टिन लुथर ने अपने लेख के माध्यम से आम जनता को जागृति फैलायी चर्च और पोप की बुराइयों अपने चरम पर थी। इसलिए मार्टिन लूथर ने अपनी लैटिन भाषा में लिखे हुए लेखों का जर्मनी की भाषा में अनुवाद किया। इस रचना के माध्यम से लोगों को कैथोलिक धर्म तथा चर्च की बुराइयों के बारे में बताया गया। आम जनता भी सामाजिक स्तर राजनीतिक स्तर पर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। जिससे प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के रास्ते और भी अग्रसर हो गये।

10.3.3 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की व्याख्या:

प्रारम्भ में जब प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उस समय पोप ने उसे पूरी शक्ति लगाकर रोकने का प्रयास किया। लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया की केवल शक्ति के प्रयोग से

किसी आन्दोलन को रोका नहीं जा सकता। इसके लिए तो यह परमावश्यक था कि कैथोलिक चर्च के दोषों तथा दुर्बलताओं को निकाल कर फेंक दिया जाए तभी कैथोलिक धर्म के विरुद्ध प्रतिवादात्मक आन्दोलन का सामना करना पड़ेगा। पोप पाल तृतीय ने इसका नेतृत्व किया।

हेज ने लिखा है कि “कैथोलिक धर्म सुधार पोपशाही में सुधार के लिए की गई व्यवस्था ट्रेट काउन्सिल जेसुरट संघ और धार्मिक न्यायालय द्वारा सम्पादित हुआ था। ईसाई जगत में बहुत से ऐसे सुधारक भी थे। जो कैथोलिक चर्च की एकता संगठन सिद्धान्तों में बिना परिवर्तन किए कैथोलिक धर्म में सुधार चाहते थे।” प्रतिवादात्मक धर्म सुधार पादरियों में अनुशासन तथा सुधार चाहते थे। इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अनेको तत्व ने योगदान किया था।

साउथगेट के अनुसार, “कैथोलिक धर्म सुधार का उद्देश्य मुख्य रूप से कैथोलिक धर्म में पवित्रता तथा ऊँचे आदर्शों की स्थापना करना था।” इसमें सम्मिलित पोप ट्रेन्ट के काउन्सिल को सुधार जेसुइट पादरियों का समर्पित कार्य धार्मिक न्यायालय तथा नास्ति का विरोध आदि।

10.3.4 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की संस्थाएँ

1-सुधारवादी पोप:-

कैथोलिक चर्च के अन्दर सुधार का कार्य पोप पाल तृतीय ने आरम्भ किया था। जिस समय कैथोलिक धर्म का विरोध लूथर ने किया था। उस समय पोप लियो दसम था। उसके उत्तराधिकारी पोप क्लीमेन्ट सप्तम सांसारिक मामलों में अधिक रुचि रखते थे। उस समय सामाजिक स्तर पर लूथर की कड़ी आलोचना के चर्चे थे। लेकिन समाज में लूथर की आलोचनाओं से अच्छा प्रभाव पड़ा था। लूथर ने अपने रचनाओं के माध्यम से भ्रष्ट पोप तथा विलासी जीवन की आलोचना की थी। पोप पाल तृतीय ने कहा की उसी व्यक्ति को चर्च का पादरी बनाया जाए जो अपने ज्ञान तथा पवित्र जीवन के लिए विख्यात हो। उसने चर्च की समस्याओं के समाधान के लिए सभा बुलाने का आग्रह किया। पोप पाल तृतीय के इस सुधारवादी कार्यक्रम को उसने उत्तराधिकारी पोप पाल चतुर्थ ने जारी रखा। उसका उत्तराधिकारी पोप पायस पंचम था। अपने जीवन के माध्यम से सादगी का मिसाल पेश किया। उसने भिक्षुओं के समान त्यागपूर्ण जीवन बिताया। उसे रोम की सड़कों पर पैदल चलते देखा जाता था। वे अध्ययनशील थे। तथा उनका जीवन त्यागपूर्ण जीवन विताया। सभी विषय और पादरी भी अपने धार्मिक कर्तव्यों का नियमित रूप से पालन करते थे। वे अध्ययनशील थे। उनका जीवन त्यागपूर्ण था।

2-ट्रेन्ट की काउन्सिल:-

पोप पाल तृतीय की स्वीकृति से ट्रेट में कैथोलिक चर्च की सभा 1545 ई0 में नियन्त्रित की गई। पोप के सुधारवादी कार्यक्रम को इस सभा ने पूरा किया। इस सभा में चर्च के प्रकाण्ड विद्वानों ने भाग लिया था। इस सभा को इसलिए बुलाया गया कि चर्च के दोषों को दूर किया जा सके। अतः ट्रेन्ट की सभा केवल कैथोलिक चर्च की सभा रह गई। इसका उद्देश्य मात्र कैथोलिक धर्म में सुधार करना रह गया।

ट्रेन्ट धर्म सुधार परिषद के निर्णय इस प्रकार थे-

1. सभा ने कैथोलिक धर्म के उन सिद्धान्तों को पुष्ट कर दिया। जो 13 वीं शताब्दी से टामस एक्वीनास ने पुष्ट किए थे।

2. सभा ने यह बताया गया कि कैथोलिक धर्म का आधार बाइबिल था। बाइबिल का लैटिन रूप प्रमाणिक माना गया। अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद को अप्रमाणिक माना गया।

3. मुक्ति के लिए सत्कर्ष तथा पुण्य के कार्यों को आवश्यक बताया गया।

सन्तो मूर्ति पूजा शुद्धिकरण तण क्षमा-पत्रों में विश्वास प्रकट किया गया। समस्त कैथोलिको पर पोप की आध्यात्मिक सत्ता स्वीकार की गई। धार्मिक मामले में पोप की सत्ता को अन्तिम सर्वोच्च माना गया। सभा ने यह भी स्पष्ट किया कि अनुशासन बनाये रखने के लिए निर्णय दिया। विशपो तथा पादरियों में योग्यता को वरियता दिया जाए। पदो का क्रय विक्रय बन्द कर दिया जाए। कैथोलिक धर्म की भाषा लैटिन होगी। धर्म के अध्ययन के लिए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था होगी। निबिद्ध पुस्तकों की सूची बनाई गई। कैथोलिक धर्म के पुनर्गठन तथा प्रति सुधार आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

3- जेसुएट संघ:-

कैथोलिक चर्च के सुधार में अनेक धार्मिक संघों का भी योगदान 1520 ई0 में रोम में दि ओरेटरी आफ डिवाइन लव नामक संस्था स्थापित किया गया था। इस प्रकार ऐसी अनेक संस्था की स्थापना की गई। जिसमें यह संस्था त्याग ज्ञान दान की परम्पराओं को पुनर्जीवित किया गया। इन धार्मिक संगठनों में सबसे प्रभावशाली और शक्तिशाली संगठन जेसुएट संघ था। 1534 ई0 में सोसाइटी आफ जीसस की स्थापना की। इस संस्था का संगठन सेना के समान था। जिसका संगठन सेना के समान था। जिसका सेनापति रोम में रहता था। इसके सदस्यों को ब्रह्मचर्य दरिद्रता आज्ञापालन पोप के प्रति अटल भक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। कैथोलिक धर्म में सुधार के लिए प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4-धार्मिक न्यायालय:-

कैथोलिक धर्म की शुद्धता को बनाये रखने के लिए इन्क्विजिशन या धार्मिक न्यायालयों की स्थापना की गई थी। न्यायालय धर्मद्रोहियों को दण्ड देते थे। 1542 ई० में पोप पाल तृतीय ने इस संस्था को पुनर्जीवित किया। मध्ययुगीन यूरोप के राज्यों में इस प्रकार के कई न्यायालय थे। 1542 ई० में पोप ने इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना की। इसका संचालन छः कार्डिनलों के हाथों में रखा। उसकी अनुमति से राज्य अपने क्षेत्र में न्यायालय स्थापित कर सकता था। बाद में न्यायालय में भी अत्याचार फैल गया, तथा कैथोलिक धर्म में सुधार की परम आवश्यकता महसूस की गई। जिसके फलस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की आवश्यकता महसूस की गई। इस आन्दोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। धर्म सुधार आन्दोलन ने जिस प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन को जन्म दिया उसके फलस्वरूप एक शताब्दी से अधिक समय तक धार्मिक संघर्षों का जोर रहा। अन्त में 1548 ई० में बेस्टफालिया के सन्धि द्वारा यूरोप के धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना तो और भी काफी समय के बाद हुई।

10.3.5 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का कई देशों में प्रचार- प्रसार

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के प्रचार प्रसार में कई देशों के विचारों तथा सुधारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अन्तर्गत निम्न देश इस प्रकार हैं।

स्विटजरलैण्ड

स्विटजरलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार जिंक्ली ने किया। उसका जन्म 1484 ई० में स्विटजरलैण्ड के एक गाँव में हुआ था। उसने विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया था। उस पर मानववाद का गहरा प्रभाव था। 1519 ई० में वह न्यूरिथ का विशप था। लूथर की तरह उसने भी पोप और चर्च के क्षमा पत्रों का विरोध किया। 1525 ई० में उसने नवीन चर्च की स्थापना की। उसके धार्मिक विचार लूथर से भिन्न थे। वह मानवता का पुजारी था। उसने लोगों को दबावपूर्ण प्रोटेस्टेन्ट धर्म मानने के लिए बाध्य हो। लेकिन उसने चर्च का संगठन जनतन्त्रात्मक रूप से किया। जबकि लूथर के चर्च का संगठन उच्च तथा धनी वर्गों पर आधारित था। लूथर रहस्यवादी था। जबकि जिंक्ली मानवतावादी था।

डेनमार्क और नार्वे

इन राज्यों में लूथरवाद का प्रसार वहाँ के सम्राट फ्रेडरिक के प्रयास से हुआ था। वह राजसत्ता में पोप और चर्च के हस्तक्षेप का विरोधी था। अतः उसने प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन को स्वीकार किया और जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट धर्म प्रचारको को अपने राज्य में निमन्त्रित किया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म

प्रचारको के आमन्त्रित करने पर प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रचारको ने डेनमार्क और नार्वे में अलग अलग संघों की स्थापना के माध्यम से लोगों को प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के बारे में बताया। लोगों ने भी चर्च तथा पोप के निरंकुशता को समाप्त करने के लिए लोगों ने इन विद्वानों तथा धार्मिक सम्मेलनों का प्रबल समर्थन किया तथा डेनमार्क और नार्वे में यह आन्दोलन पूरी तरह सफल रहा।

स्वीडन:-

1583 ई0 में गस्तावस वासा के नेतृत्व में डेनमार्क से मुक्त होकर एक स्वतन्त्र राज्य (स्वीडन) की स्थापना हुई। स्वीडन में अपने विरोधी कैथोलिक धर्म को समाप्त करने के लिए उसने प्रोटेस्टेन्ट धर्म स्वीकार कर लिया और जर्मनी से लूथरवादी धर्म प्रचारको स्वीडन बुलाया। स्वीडन में कैथोलिक धर्म के सुधार की बात किया गया। तथा प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के सिद्धान्त से लोगों को परिचित कराया। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार में लोगों का समर्थन बहुत भारी था। तथा लोगों ने कैथोलिक धर्म को मानने के बजाय प्रोटेस्टेन्ट धर्म को माना।

इंग्लैण्ड:-

इस समय इंग्लैण्ड में सम्राट हेनरी अष्टम या हेनरी की रानी केथरिन थी। सम्राट हेनरी तलाक देना चाहते थे। तलाक देने के लिए हेनरी अष्टम ने पोप तथा चर्च की सत्ता को समाप्त कर दिया। क्योंकि चर्च तथा पोप की सत्ता किसी और को तलाक देने की अनुमति नहीं देता है। लेकिन वह प्रोटेस्टेन्ट धर्म का भी प्रसार प्रचार नहीं कर रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र षष्ठम के काल में प्रोटेस्टेन्ट धर्म स्वीकार कर लिया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा कैथोलिक धर्म संघर्ष बना रहा और अन्ततः एलिजाबेथ ने चर्च की स्थापना की। जो उदार प्रोटेस्टेन्ट धर्म का रूप था, आम जनसहमति थी, चर्च के नियमों तथा कानूनों में परिवर्तन था। चर्च के अधिकारी तथा पादरी भी आम जनता को ध्यान में रखकर कार्य कर रहे थे। ताकी प्रोटेस्टेन्ट धर्म में आपसी संघर्ष न हो।

काल्विन (फ्रांस):-

प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सबसे प्रभावशाली नेता काल्विन था। उसे प्रोटेस्टेन्ट धर्म का पोप कहा जाता है। उसका जन्म फ्रांस के एक नगर में 1509 ई0 में हुआ था। परन्तु ज्विंगली के दिवंगत होने के पश्चात काल्विन स्वित्जरलैण्ड में बस गया। उसने फ्रांस में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार किया। परन्तु कुछ समय पश्चात फ्रांस के राजा ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अतः वह परेशान होकर स्वित्जरलैण्ड चला गया। 1536 ई0 में दि इन्स्टीट्यूट्स आफ क्रिश्चियन रिलीजन पुस्तक की रचना की। जेनेवा में प्रमुख उपदेशको की नियुक्ति की नीदरलैण्ड तथा स्काटलैण्ड में उसके उपदेशों से प्रभाव के कारण प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन सफल रहा। उस समय लूथरवाद दुर्बल हो रहा था, तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म को शक्ति दी।

10.3.6 यूरोप में धर्म सुधार के प्रचार प्रसार और परिणाम:

1517 ई० में जर्मनी में मार्टिन लूथर ने चर्च में सुधार की माँग की थी। चर्च और पोप तथा अधिकारियों ने इस माँग का विरोध किया। जिसकी वजह से लूथर को दण्ड देने का प्रावधान भी किया गया। लेकिन लूथर को जनसमर्थन प्राप्त था। जनता लूथर के विचारों से परिचित थी। लूथर का सिद्धान्त लोगों को पसन्द थी। इसी कारण लूथर के शिक्षाओं का प्रचार प्रसार हो रहा था। लूथर को प्रबुद्ध वर्ग मानता था। वह आर्थिक सिद्धान्तों में सम्पत्ति अर्जन के स्रोतों का जिक्र किया है। जिसकी वजह से मध्यम वर्ग तभी उसे बहुत मानता था। अन्ततः 1555 ई० में आग्सवर्ग की सन्धि के द्वारा जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को मान्यता प्राप्त हो गई। चर्च के कर्मकाण्डों पर तंज कसा गया। तथा ईश्वर की आस्था में विश्वास रखा गया। चर्च में विवाह की अनुमति नहीं दी जाती थी। जिससे भ्रष्टाचार पर लगाम लगाई जा सके तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म को राष्ट्रीय स्वरूप दिया जा सके।

10.3.7 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम और महत्त्व:

1-राष्ट्रीयता तथा निरंकुशता पर अधिक बल दिया जाने लगा। राष्ट्रीय चर्चों का निर्माण किया जाने लगा। राष्ट्रीयता को काफी बल दिया जाने लगा।

2-कैथोलिक धर्म में विरोध पैदा होने लगा। रोमन चर्च के स्थान पर अनेक देशों में प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई।

3-धर्मनिरपेक्षता की भावना विकसित हुई।

4-पोप के दैवी अधिकार कम होने लगे तथा सम्राट के दैवी अधिकार स्थापित होने लगे।

5-कैथोलिक धर्म ब्याज और लाभ का प्रबल विरोधी था। लेकिन लूथर ने ब्याज और लाभ को प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे व्यापार विकसित हो गया। तथा पूँजीवाद का उदय हुआ।

6-प्रोटेस्टेन्ट धर्म में कला का विकास अवरूद्ध हो गया था। कैथोलिक भवनों तथा ईमारतों को विनष्ट कर दिया गया था।

7-प्रोटेस्टेन्ट ने कैथोलिक धर्म के विश्वविद्यालयों को विनष्ट करना चाहा। अतः जनता में शिक्षा का प्रचार प्रसार बाधित हो रहा था। लूथर और काल्विन शिक्षा के लिए प्रयत्न किया। जो मात्र मध्यम वर्ग तक ही रह गया।

8-भौतिकवाद की उत्पत्ति हुई। धार्मिक उथल पुथल के परिणाम स्वरूप चर्च की उपेक्षा की गई धर्मशास्त्र की उपेक्षा की गई, लौकिकता लोगों की रुचि का विषय बन गया।

9-धार्मिक उत्पीड़न तथा धार्मिक युद्धों की भीषण वेदना ने यूरोप वासियों को झकझोर कर रख दिया। फलतः प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई।

10-चर्च की सत्ता समाप्त हो गई। इसके अन्तर्गत कई सम्प्रदायों का अभ्युदय हो रहा था।

11-पारिवारिक जीवन पर प्रभाव पड़ा। अब विवाह एक संविदा माने जाने लगा। जिसमें तलाक लिया जा सकता था। इसके लिए वैवाहिक न्यायालय स्थापित किए गये।

12-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रोटेस्टेन्ट राज्य और राजा आपस में सहयोग करने लगे।

16 वीं शताब्दी में यूरोप में जो धार्मिक उथल पुथल हुई। उसका मूल कारण भौतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियाँ थीं। हजारों वर्षों से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आक्रान्त करने वाले कैथोलिक चर्च का स्वरूप बदलना अनिवार्य हो गया था। आर्थिक परिस्थितियों ने समाज के समक्ष नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं। मध्यम वर्ग अस्तित्व में आ गया नगरी का महत्त्व बढ़ गया। सामन्तवाद पतनोन्मुख हो चला था। मनुष्य में वैचारिक शक्ति पनप उठी थी। पढ़ना लिखना सुलभ हो गया था। वैज्ञानिक प्रगति का सूत्रपात हो गया था। ऐसी स्थिति में चर्च की सत्ता जो विकृत हो चुकी थी। अस्वीकार करना असम्भव था। इसलिए नवीन स्वार्थी पे नवीन आन्दोलन का जन्म हुआ।

सेबाइन के शब्दों में- “प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम स्वरूप सामाजिक विडम्बनाओं का खात्मा हुआ। मठों, मन्दिरों तथा चर्च में नई नियुक्तियाँ हुईं, रोमन चर्च के ऊपर जो आरोप लगाये गये थे वे निराधार साबित हुआ। मानवीय सभ्यता का पालन करने के लिए लोग आपस में प्रतिबद्ध हो गये। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम स्वरूप समाज में धर्मसुधार आन्दोलन से जुड़े सभी संस्थाओं को समाप्त कर दिया गया। तथा नई संस्थाओं की स्थापना की गई।”

अभ्यास प्रश्न

1-प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सबसे प्रभावशाली नेता कौन था?

(अ) काल्विन (ब) विस्मार्क (स) फ्लूरेलिटीज (द) होपकिन्स

2-धर्म सुधार आन्दोलन को रोकने तथा उसको समाप्त करने प्रतिक्रिया स्वरूप कौन सा आन्दोलन हुआ।

(अ) किसान आन्दोलन (ब) केवेलियर आन्दोलन

(स) मजदूर आन्दोलन (द) प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन

3-मार्टिन लूथर ने अपनी रचनाएँ किस भाषा में लिखा?

- (अ) लैटिन (ब) तुर्की (स) फारसी (द) हिन्दी

4-ट्रेन्ट काउन्सिल का आयोजन कब हुआ था।

- (अ) 1545 (ब) 1547 (स) 1546 (द) 1548

5-जेसुइट संघ द्वारा किस संस्था की स्थापना की गई।

- (अ) The Vorateri of divine love (ब) The Vorai of nation love
(स) The Vorateri of Soul love (द) The Voratari of Inter nari onal

love

10.5 सारांश:

धर्मसुधार आन्दोलन के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन का श्री गणेश हुआ। पोप पाल तृतीय ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। कैथोलिक चर्च और पोप शाही में सुधार के लिए कई संस्थाओं का गठन किया गया। कैथोलिक चर्च भी अपनी खोई प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहता था। इस धर्म को मानने वालों में लूथर, काल्विन, जिवेगली आदि का नाम आता है। चर्च में पवित्र सेवा भावना की स्थापना हुई। वह पुनः शक्तिशाली बन सका। 100 वर्ष पश्चात भी प्रोटेस्टेन्ट धर्म कठिनता से अपने को बालटिक सागर के तटों पर सुरक्षित रख पाया।

10.6 शब्दावली:

पुनरुत्थान-	पुनःउत्थान
लौकिक-	जो दिखायी दे
आक्रांत-	अपराजित (जिस पर आक्रमण किया गया हो)
स्वामित्व-	किसी विषय पर अधिकार होना

10.7 अभ्यास प्रश्न के उत्तर:

१. (अ) काल्विन, २. (द) प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन,, ३. (अ) लैटिन ४. (अ) 1545, ५. (अ) The Vorateri of divine love

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1-सिंह, रघुवीर, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2012.

2-वर्मा, एस0आर0, मध्य कालीन विश्व का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2003.

3-शर्मा, प्रभुदत्त, पाश्चात् राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002

10.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

- 1- रघुवीर सिंह- मध्यकालीन विश्व का इतिहास
- 2- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-प्रो0ए0वी0 लाल
- 3- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न:

- 1- धर्मसुधार आन्दोलन से आप क्या समझते है विवेचना कीजिए।
- 2- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन की विवेचना कीजिए?
- 3- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर के योगदान की विवेचना कीजिए।
- 4- यूरोप में धर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम बताइए?
- 5- प्रतिधर्म सुधार आन्दोलन की सफलता के कारण बताइए?

इकाई -11 : मैकियावेली

इकाई की संरचना

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 11.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार
- 11.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली
- 11.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
- 11.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त
- 11.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण
- 11.9 इतिहास और परिवर्तन
- 11.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
- 11.11 शासन सम्बन्धी विचार
 - 11.11.1 राज तंत्र
 - 11.11.2 गण तंत्र
- 11.12 राज्य का विस्तार
- 11.13 सर्वशाक्तिमान विधायक की अवधारणा
- 11.14 विधि की अवधारणा
- 11.15 सेना का राष्ट्रीयकरण
- 11.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा
- 11.17 अपने युग के शिशु के रूप में मैकियावेली
- 11.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में
- 11.19 सारांश
- 11.20 शब्दावली
- 11.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.24 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इसकी पूर्व वाली इकाई में बताया जा चुका है कि मध्ययुग की व्यवस्था तथा उसके मूल्यों को समाप्त करने तथा आधुनिक काल का शिलान्यास करने का पूनर्जागरण के बहुआयामी आन्दोलन ने किया था। पूनर्जागरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप यूरोप के जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन आने लगे। साथ ही इटली की सामाजिक और राजनैतिक जीवन भी मैकियावेली के विचार क्षेत्र को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको मैकियावेली के राजनीतिक विचारों को जानने और समझने में सहायता मिलेगी, और आप यह जान सकेंगे कि देश काल और परिस्थिति किस प्रकार से विचार को प्रभावित करती है। साथ ही जानेंगे कि मैकियावेली ने राजनीतिक उद्देश्य को सिद्धि के लिए किस हद तक नैतिक मानदण्डों की अवहेलना करने तक की भी इजाजत देता है।

अन्ततः आप को यह जानने को मिलने कि मैकियावेली अपने चिन्तन में किस हद तक मध्यकालीन मान्यताओं से अलग हुआ और राजनीति में धर्मनिरपेक्ष को शामिल करने की वकालत की।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य है

- 1 मैकियावेली के राजनीतिक और सामाजिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है।
- 2 इटली की दुर्दशा और उसके लिए माप और चर्च को उत्तरदायी मानना।
- 3 आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को

11.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मैकियावेली 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ऐसे समय में अपने विचारों को प्रस्तुत करता है जब एक ओर मध्ययुगीन व्यवस्था का अन्त और दूसरी ओर नव जागरण काल का उदय हो रहा था। हम जानते हैं कि मध्ययुग के चिन्तन में धर्म, ईश्वर, परलोक पोप को सत्ता सर्वभौग ईसाई समाज, जैसे प्रश्नों का बोलबाला था। तात्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था सामन्तवादी प्रथा पर टिकी हुई थी। नगरों का स्वरूप भी स्वायत्तशासी था। सामन्तों के आपसी युद्धों के कारण समाज में स्थिरता और शान्ति का अभाव था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक पश्चिमी यूरोप के देशों में निरकुश राजतंत्रीय शासन का अभ्युदय हो गया था। क्योंकि सर्वग मध्ययुगीन संस्थाओं का अधोपतन हो रहा था। निरकुश राजाओं ने चर्चा के पदाधिकारियों को अपने कानूनी नियंत्रण में ले लिया था। इसी साथ इस अवधारणा का भी विकास हुआ कि राजा ही राज्य में सम्प्रभु है जो समस्त राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्रोत है।

इन विध्वंसकारी परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मैकियावेली के राजनीतिक सिद्धान्त में अत्यन्त स्पष्टता से होती है। मैकियावेली का राजनैतिक चिन्तन सोलहवीं शताब्दी का दर्पण है जिसमें तत्कालीन समाज की व्यवस्था तथा उसमें आये विध्वंसकारी परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अपने युग की उभरती राजनीतिक प्रवृत्तियों को मैकियावेली ने समझा तथा उन नवीन प्रवृत्तियों को अपनी राजनीतिक चिन्तन में समा लिया। उसके विचार 16वीं शताब्दी में उभरती नवीन प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित है।

11.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार

मैकियावेली के काल में इटली की भयंकर दुर्दशा थी। इटली तब पाँच राज्यों नेपल्स, मिलन, वेनिस, फ्लोरेन्स तथा केन्द्र में पोप द्वारा शासित राज्य में विभाजित था। इटली के इन राज्यों की आन्तरिक एवं बाह्य स्थिति शोचनीय थी। स्पेन, जर्मनी और फ्रांस के शासकों का इटली पर समय-समय पर आक्रमण करना, इन राज्यों की आपसी कटुता जिसके लिए विदेशी ताकतों को इटली के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया जाना, इत्यादि कारणों से इटली की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त बुरी थी। मैकियावेली इटली की ऐसी दुर्दशा के लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी मानता है। वह इस बात से दुःखी था कि जब कि यूरोप के अन्य देशों में राष्ट्रीय एकीकरण हो गया किन्तु इटली का एकीकरण नहीं हो रहा है। इस समस्या के लिए वह पोप की नीतियों को जिम्मेदार मानता था। उसका मानना था कि न चर्च न तो स्वयं इतना शक्तिशाली है कि पूरे इटली का एकीकरण कर सके और न वह किसी अन्य सत्ता को ऐसा करने का अवसर देती है। इसलिए इटली किसी एक प्रमुख के अधीन सुदृढ़ राज्य नहीं बन सकता है। सारांश यह है कि तब इटली में ऐसा वातावरण बन चुका था जहाँ व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं था न न्यास का और न कानून का। इटली के इस प्रकार के पतित जन जीवन एवं भ्रष्ट राजनीतिक जीवन को दृष्टिगत रखकर मैकियावेली अपने विचारों का प्रतिपादन करता है और यह कामना भी करता है कि देश का कोई राजनेता उसके ग्रन्थ 'प्रिंस' का अध्ययन कर देश को सुदृढ़ राज्य बनायेगा।

11.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली

आधुनिक काल में मैकियावेली ऐसी पहला विचारक था जिसने मध्ययुग में प्रचलित निगमात्मक पद्धति का परित्याग किया। उसने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयास किया। समकालीन घटनाओं का तटस्थ दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए उन घटनाओं को प्राचीन इतिहास की घटनाओं के साथ जोड़ते हुए उसने अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन

क्रिया। मैकियावेली की धारणा थी। कि मनुष्य स्वभाव सदा और सर्वत्र एक जैसा ही है। अतः वर्तमान अथवा भविष्य की समस्याओं को समझने के लिए भूतकाल के इतिहास का सहारा लेना चाहिए। ऐसा करते समय हमें यह समझने का अवसर मिलता है कि प्राचीन काल में अमुक परिस्थितियों में कैसी नीतियों का पालन किया गया जिनसे क्या सफलता मिली या असफलता मिली थी। उसकी मान्यता थी कि उन परिणामों के प्रकाश में हम अपनी समकालीन घटनाओं का विवेचन कर अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इसी कारण मैकियावेली को आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने वाला पहला विचारक माना जाता है।

11.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली की मान्यता है कि मनुष्य “सामान्यतः कृतहन, स्वार्थी सनकी, धोखेबाज, कायर और लोभी होता है। मनुष्य मात्र का नैसर्गिक गुण उसकी अहंवादी प्रवृत्ति है। अहंवाद एक सार्वभौम मानवीय सत्य है। अपने अहम की रक्षा के लिए मनुष्य दूसरों से उग्रता के साथ प्रतिस्पर्ध करता है। अपने अहम की रक्षार्थ, अर्थात् अपने जीवन अपनी सम्पत्ति तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह औरों से संघर्ष करता है।

यह दृष्टिकोण काल्विन तथा हॉक्स आदि विचारकों से काफी मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाइयों के मनुष्य के पापी होने के समकालीन सिद्धान्त का भी मैकियावेली पर प्रभाव पड़ा। मैकियावेली यह मान कर चलता है कि मनुष्य का अहम तथा उसकी स्वार्थ प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रेरणादायी शक्तियाँ हैं जो उसे आगे बढ़ने के लिए विवश करती हैं। मनुष्य आनन्द चाहता है। और कष्ट तथा दुख से बचने की बराबर कोशिश करता रहता है। मनुष्य कृतधन कायर व लालची होता है। वह अच्छा बनने की तभी कोई कोशिश करता है जब ऐसा करने में उसे कोई लाभ प्रतीत हो। मैकियावेली का कहना था कि भय मानव जीवन को प्रेम से भी अधिक प्रभावित करता है। इसलिए राजा को प्रजा वत्सल नहीं बरन् ऐसा बनना चाहिए कि लोग उससे बारबार डरते रहें। जब तक वे डरेंगे तभी तक राजा से प्रेम करेंगे और उसके आदेश मानेंगे। परन्तु भय घृणा और अपमान के बीच अत्यन्त सुस्पष्ट रेखा खींचते हुए उसका कहना था कि शासक को चाहिए कि वह अपने कार्यों से प्रजा को भयभीत तो रखे लेकिन ऐसा न कर बैठे कि राज्य का कोई वर्ग उससे घृणा करने लगे तो उसकी मान हानि का प्रयत्न करें।

मानव स्वभाव के विषय में मैकियावेली के उपरोक्त विचार इटली की तत्कालीन स्थिति से प्रभावित हुए थे। परन्तु मैकियावेली के विचारों से अनेक विरोधात्मक प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

11.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त

मैकियावेली ही आधुनिक काल का ऐसा विचारक है जिसने राजनीति को धर्म और नैतिकता के सर्वथा पृथक् किया है। मैकियावेली के अनुसार, यदि शासक को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यदि अनैतिक साधनों का प्रयोग करना पड़े तो ऐसा करना वांछित है सत्ता प्राप्ति के लिए यदि शासक को हत्या धोखाधड़ी वचन भंग अथवा क्रूरता इत्यादि साधनों का प्रयोग करना पड़े तो शासक को ऐसा करना नहीं हिचकिचाना चाहिए। एक शासक की सफलता का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होता कि उसने नैतिकता का धार्मिकता का मार्ग अपनाया और जिससे अपनी सत्ता को खो दिया। इससे उसकी असफलता सिद्ध होगी। किन्तु यदि शासक हत्या इत्यादि का सहारा लेकर भी अपने राज्य की रक्षा कर पाता है तो इतिहास उस शासक की सराहना करेगा। नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों का अध्ययन करने से स्पष्ट होगा कि वह नागरिकों के लिए एक प्रकार की नैतिकता का तथा शासकों के लिए दूसरे प्रकार की नैतिकता का मापदण्ड निर्धारित करता है। मैकियावेली का नैतिकता सम्बन्धी

दोहरा मापदण्ड है- व्यक्तियों की नैतिकता और शासकों की नैतिकता व्यक्ति के लिए वह नैतिकता को आवश्यक मानता है। किन्तु शासकों के लिए नैतिकता की आवश्यकता नहीं मानता शासकों के लिए उसका मापदण्ड राजनीतिक सफलता है भले ही वह साधन कितने ही अनैतिक क्यों न हों। उसकी मान्यता है कि शासक नैतिकता से ऊपर होता है, नैतिकता के नियमों से शासक बंधा नहीं होता। उसका कथन है कि शासक के लिए विश्वास को निभाना बहुत ही प्रशंसनीय है किन्तु राज्य की सत्ता को बनाये रखने के लिए विश्वासघात और छल अत्यन्त आवश्यक है।

11.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण

धर्म के प्रति भी मैकियावेली का दृष्टिकोण नैतिकता के समान ही है। वह राजनीति को धर्म से पृथक करता है। प्रिंस की अपेक्षा डिस्कोर्सज में मैकियावेली धर्म को राज्य की स्थिरता के लिए उपयोगी तत्व माना है। मैकियावेली धर्म को राज्य की सुव्यवस्था के साधन के रूप में स्वीकार करता है। धर्म के महत्व को स्वीकार करते हुए मैकियावेली डिस्कोर्सज में लिखता है जो राजा तथा गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते हैं, उन्हें धार्मिक संस्कारों की शुद्धता को बनाये रखना चाहिए और उनके प्रति उचित अद्वाभाव रखना चाहिए क्योंकि धर्म हानि होते हुए देखने से बढ़कर किसी देश के विनाश का और कोई लक्षण नहीं होता। इस हद तक मैकियावेली धर्म के महत्व को स्वीकार अवश्य करता है किन्तु जब धर्म राजनीतिक सत्ता के मार्ग में बाधक हो, तब ऐसे धर्म का परित्याग करने का वह समर्थन करता है। स्पष्ट है कि मैकियावेली धर्म और राजनीति के बीच एक विभाजक रेखा निर्धारित करता है।

11.9 इतिहास और परिवर्तन

इतिहास के सम्बन्ध में मत प्रकट करते हुए मैकियावेली परिवर्तन के सिद्धान्त का निरूपण किया है। इतिहास में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। मनुष्य इतना लोभी और वासनामय है कि उसकी इच्छाएं लगातार बढ़ते ही जाती हैं। इनका बढ़ना ही परिवर्तनों का कारण है। इस प्रकार के परिवर्तनों की क्रमबद्ध कथा ही इतिहास है। चूँकि परिवर्तनों का मूल कारण वासनाएँ हैं और इतिहास इन्हीं परिवर्तनों का विवरण है अतः मानव जाति के कृत्यों का इतिहास गौरवमय या उज्ज्वल नहीं है। अपनी बुराईयों के कारण ही मानव जाति दिन प्रति दिन अधिकाधिक अधः पतन के र्गत में गिरती जा रही है। इतिहास की गति मानव जाति के उस अंतिम विनाश और प्रलय की ओर ही इंगित करती है जिसकी ओर वह बढ़ती जा रही है। अतः मैकियावेली इतिहास को मानव जाति के छल कपट और स्वार्थों का लेखा जोखा मानता है। इतिहास चक्रवत् घूमता है। एक अच्छी चीज आती है कालान्तर में वह भ्रष्ट हो जाती है तो उसका स्थान दूसरी वस्तु ले लेती है। इस प्रकार इतिहास का चक्र घुमता रहता है। अरस्तु ने भी लगभग ऐसी ही बात कही थी। उसने राज्यों का जो वर्गीकरण किया था उसमें बतलाया था कि राजतंत्र के बाद अभिजात्यतंत्र और अभिजात्य तंग के भ्रष्ट होने के बाद प्रजातन्त्र और फिर राजतंत्र आता है। फिर भी मैकियावेली ने अरस्तु का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार एक आलोचक के शब्दों में उसने बिना कृतज्ञता प्रकट किये चोरी की है।

11.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली राज्य को कृत्रिम संस्था मानता है। मैकियावेली की राज्य की धारणा उसकी मनुष्य सम्बन्धी धारणा से जुड़ी हुई है। मैकियावेली के अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। तथा उसमें वस्तुओं के संग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। इसी कारण मनुष्यों में प्रतिस्पर्धा रहती है जो समाज में अशान्ति और अव्यवस्था का कारण होती है। मैकियावेली की मान्यता है कि समाज में अशान्ति और अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए राज्य की स्थापना

मनुष्यों के द्वारा की गई है। वह कहता है कि राज्य मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए स्थापित की गयी मानव कृत संस्था है। राज्य आवश्यकता की उपज है नैसर्गिक नहीं मैकियावेली का यह भी मत है कि अन्य सामाजिक संगठनों की तुलना में राज्य एक उच्च संस्था है। मैकियावेली की राज्य की धारणा की विवेचना करते समय उसकी इस दुर्बलता को भी ध्यान में रखना होगा कि उसने सम्प्रभुता जैसी राज्य की शक्ति का कहीं वर्णन नहीं किया है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उसने जिस तरह से वर्णन किया है उससे केवल इतना ही संकेत मिलता है कि वह सम्प्रभुता की शक्ति को राज्य में निहित मानता है। सम्प्रभुता की वह कहीं व्याख्या नहीं करता। सम्प्रभुता की व्याख्या न करते हुए भी वह राज्य की शक्ति को स्वीकार करता है जिसका प्रयोग राजतंत्र में राजा के द्वारा अथवा गणतंत्र में प्रजा के द्वारा किया जाता है।

11.11 शासन सम्बन्धी विचार

अरस्तू और सिरसों की भाँति मैकियावेली भी सरकारों को शुद्ध अशुद्ध इन दो भागों में बाँटता है। शुद्ध सरकार के प्रकार है राजतंत्र कुलीनतंत्र और गणतंत्र निरकुशतंत्र, धनिकतंत्र और लोकतंत्र क्रमशः इनके विकृत रूप है। स्पष्ट है कि मैकियावेली भी अरस्तू का अनुसरण करते हुए सरकारों को शुद्ध और विकृत मानकर उनके छह प्रकारों को मानता है। सिरसो की भाँति मैकियावेली भी स्वीकार करता है कि “मिश्रित संविधान” श्रेष्ठ होता है। शासन के 6 प्रकारों को स्वीकार करते हुए भी वह केवल राजतंत्र और गणतंत्र की तथा डिसकोर्सेज में गणतंत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। राजतंत्र और गणतंत्र के सम्बन्ध में मैकियावेली के क्या विचार हैं उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

11.11.1 राज तंत्र

राजतंत्र व्यवस्था की मैकियावेली प्रिंसिपेलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। मैकियावेली ने राजतंत्र के दो स्वरूपों को माना है। पहले प्रकार का वह राजतंत्र है जिसमें कोई राजा दूसरे राज्य को परास्त कर उस पर अपना शासन स्थापित करता है। दूसरा कोटि का राजतंत्र वंशानुगत राजतंत्र है जिसमें अपने पैतृक अधिकार के कारण कोई उत्तराधिकारी राज्य की सत्ता प्राप्त करता है। राजतंत्र का समर्थन मैकियावेली ने तत्कालीन इटली की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है। उसके मतानुसार इटली की राजनीतिक अवस्था को सुचारू बनाने के लिए राजतंत्र का समर्थन किया है। मूल रूप से तथा साधारण परिस्थितियों में वह गणतंत्रीय शासन को अच्छा मानता है।

11.11.2 गण तंत्र

मैकियावेली डिसकोर्सेज में वह स्वीकार करता है कि गणतंत्र श्रेष्ठ कोटी का शासन है क्योंकि इस व्यवस्था में अनेक गुण को देखता है। गणतंत्र में जनता की राजनीतिक जीवन में भागीदारी होती है, तथा विधि के माध्यम से शासन संचालित होता है। वह मानता है कि कानून द्वारा शासित राज्य स्थायी होता है। राज्य में स्थायित्व के लिए वह बल के प्रयोग का समर्थक है फिर भी यदि बल का संयत रूप से प्रयोग किया जाये तो वह उचित है। मैकियावेली व्यक्ति की अनेक स्वतंत्रताओं का समर्थन डिसकोर्सेज में करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की स्वतंत्रता शासकों को चुनने की स्वतंत्रता, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा शासन में सार्वजनिक हित के सुधारों को प्रस्तावित करने की नागरिकों की स्वतंत्रता इत्यादि स्वतंत्रताओं का वह समर्थक है। मैकियावेली यह भी मानता है कि नागरिकों की शासन के कार्यों में भागीदारी होनी चाहिए। उसने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जिस शासन में अधिकांश लोग भागीदार होते हैं वह शासन स्थायी होता है। वह वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा जनता द्वारा चुने हुए राजतंत्र को अच्छा मानता है गणतंत्रीय शासन की अपेक्षा नागरिकों का भ्रष्टाचार रहित मत अधिक प्रभावशाली

होता है इन विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होगा कि भले ही प्रिंस में मैकियावेली के प्रति पादित विचार कितने ही निरकुंशवादी एवं सनकी क्यों न हो डिसकोर्सेज में उसने गणतंत्र एवं उदारवादी शासन का समर्थन किया है।

11.12 राज्य का विस्तार

राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बतलाते हुए मैकियावेली ने बतलाया कि मनुष्य का स्वभाव पारे की भाँति होता है। वह बारबार बढ़ते रहना चाहता है। यदि वैभव और व्यवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव चंचल होता है वह स्थिर नहीं रह सकता अतः ऐसी कोई वस्तु शाश्वत या दीर्घजीवी नहीं हो सकती जो स्थिर रहे। अतः प्रिंस तथा डिसकोर्सेज में मैकियावेली ने यह समझाने की चेष्टा की कि राज्य में अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता है। एक ही राजा के छत्र के नीचे शासितों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। ऐसा उस समय तो बराबर ही होना चाहिए जब केन्द्रीय राजसत्ता को अपनी ही देश के किसी भूभाग को अपने अन्तर्गत लाना हो। उपरोक्त बात मैकियावेली ने इटली की दशा को देखते हुए कहीं थी। राजा को साम, दाम दण्ड और भेद की चारों नीतियों को काम में लाना चाहिए। उसे यदि आवश्यकता पड़े तो सेना का प्रयोग करने से भी नहीं चूकना चाहिए। शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के भूमि भाग को बढ़ाते रहना चाहिए।

11.13 सर्वशक्तिमान विधायक की अवधारणा

आधुनिक भाषा में हम जिसे शासक कहते हैं मैकियावेली उस शासक को विधि दाता के नाम से सम्बोधित करता है। विधि दाता अर्थात् विधायक, पर मैकियावेली की अपूर्व श्रद्धा है। उसका विश्वास है कि किसी सफल राज्य की स्थापना केवल एक व्यक्ति केवल एक सर्वशक्तिमान विधायक द्वारा की जा सकती है। उसकी मान्यतानुसार विधि दाता सर्वशक्तिमान है। विधि दाता द्वारा स्थापित राज्य तथा कानूनों के निर्माण से नागरिकों का चरित्र भी निर्धारित होता है। जैसे विधि दाता के कानून होंगे वैसा ही चरित्र उसके राज्य के सदस्यों का होगा। विधायक की बुद्धिमत्ता और दूरदृष्टि के सहारे समाज की रक्षा और विकास संभव है। जिस तरह राज्य के संचालन हेतु उस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते उसी प्रकार समाज रचना और समाज के विकास कार्य में भी विधि दाता पर किसी प्रकार की सीमाएँ नहीं हैं। विधि दाता यदि अपने कार्य में दक्ष है तो वह समाज व्यवस्था की रचना और उसके उत्थान के लिए सब कुछ कर सकता है। ऐसा करने में उस पर कोई बन्धन नहीं है। वह पुराने संविधान को बदल सकता है राज्य की पुनर्रचना कर सकता है, आबादी मनचाहे तरीके से स्थानान्तरित कर सकता है नैतिकता के नये मापदंड स्थापित कर सकता है, और शासनतंत्र को परिवर्तित कर नई पद्धतियों की व्यवस्था कर सकता है। मैकियावेली के विधि दाता की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन विचारों में सम्प्रभु की झलक है। आधुनिक काल में हम सम्प्रभुता की जिस धारणा की चर्चा करते हैं मैकियावेली सम्प्रभुता की उस प्रकार की औपचारिक परिभाषा तो प्रस्तुत नहीं कर सका फिर भी उसने राज्यों की सर्वोच्च कानूनी शक्ति के लक्षणों का वर्णन सर्वशक्तिमान विधि दाता की अवधारणा के रूप में किया है। मैकियावेली की इस कमी को हॉब्स ने अपनी सम्प्रभुता की धारणा द्वारा पूरा किया है, मैकियावेली की इस कमी को हॉब्स ने अपनी सम्प्रभुता की धारणा द्वारा पूरा किया है, मैकियावेली ने सर्वशक्तिमान विधायक के जिन लक्षणों का वर्णन किया है हॉब्स उन्हीं लक्षणों के आधार पर सम्प्रभुता की विधिवत धारणा प्रस्तुत करता है।

11.14 विधि की अवधारणा

मैकियावेली विधानमण्डल को सर्वशक्तिमान मानता है। उसकी इस अवधारणा में विधि की अवधारणा भी सन्निहित है। मैकियावेली ने बतलाया है कि लोग विधि के आदेशों को भय के कारण मानते हैं। मैकियावेली की विधि की परिभाषा बहुत सीमित थी। वह केवल नागरिक विधि के अस्तित्व को ही स्वीकार करता था। उसका कहना था कि विधियाँ शासक द्वारा बनायी जाती हैं अतः उनका स्रोत शासक है। शासक या राज्य की उत्पत्ति के पहले विधियाँ नहीं थीं। अराजकता और विधि व्यवस्था का अभाव पर्यायवाची शब्द है। अराजकता की अवस्था में समाज और राज्य के सारे अंग विशिखलित हो जाते हैं। विधि का कार्य इन्हीं विशिखलित अंगों के बीच सामंजस्य और समन्वय की स्थापना करना है। मध्य युग के विभिन्न लेखकों की भांति मैकियावेली ने विधि को प्राकृतिक, ईश्वरीय परम्परागत आदि वर्गों में विभक्त नहीं किया। नागरिक विधि की अवधारणा को बतलाने के बाद उसने आगे और कुछ नहीं लिखा। उसका विधि और विधानमण्डल सम्बन्धी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल सम्बन्धी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल मानता है।

11.15 सेना का राष्ट्रीयकरण

सेनाओं के सम्बन्ध में भी मैकियावेली के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उसके समय में तीन प्रकार की सेनाएँ हुआ करती थीं।

1. राष्ट्रीय सेनाएँ
2. राज्यिक सेनाएँ
3. किराये पर लड़ने वाली सेनाएँ

समकालीन इटली में जितनी विदेशी फौज लड़ने जाती थी, वे सब राष्ट्रीय सेनाएँ होती थीं। ये सेनाएँ बहुधा स्पेन, फ्रांस और जर्मनी की होती थीं। इनका मुकाबला इटली की छोटी-छोटी रियासतों की सेनाओं को करना पड़ता था। इन सेनाओं में फूट भी रहती थी। इनके अलावा कुछ सेनाएँ किराये पर भी लड़ा करती थीं। इटली की सामरिक पराजयों के कारणों का निदान करते हुए मैकियावेली ने रियासती सेनाओं और किराये पर लड़ने वाली सेनाओं के बहुत से दोष गिनाये हैं। उसका कहना था कि ऐसी सेनाएँ दबू, कायर, लालची, और महत्वाकांक्षी होती हैं। इसकी प्रेरणा देने वाला लक्ष्य राष्ट्र की सेवा भाव नहीं बल्कि धन होता है। अतएव इस प्रकार की सेनाओं पर भरोसा करके इटली राष्ट्र राज्यों का सामना नहीं कर सकता। यदि इटली को स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तो उसे भी फ्रांस आदि की भांति राष्ट्रीय सेनाओं का संघटन करना चाहिए और किराये तथा अन्य प्रकार की सेनाओं पर निर्भर रहना चाहिए।

11.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा

आधुनिक युग में मैकियावेली ही ऐसा विचारक था जिसने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु आलोचक ने इस सम्बन्ध में बड़े परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। एलन का कहना है कि मैकियावेली ने यह नहीं बतलाया कि राष्ट्र राज्य में कौन कौन से अंग होते हैं। विचारों की अस्पष्टता मैकियावेली की एक बहुत बड़ी त्रुटि है। एलन के मत के विपरित हरनशाँ का कहना है कि वस्तुतः राष्ट्र राज्य का जनक मैकियावेली ही था। यह बात इस अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि मैकियावेली ने ही सबसे पहले राष्ट्र राज्य की रूपरेखा दी। चाहे वह रूप रेखा अस्पष्ट ही क्यों न थी।

11.17 अपने युग के शिशु के रूप में मैकियावेली

मैकियावेली को प्रो. डर्निंग ने अपने युग का शिशु कहा है। मैकियावेली जिस युग में पैदा हुआ था वह युग पुनर्जागरण का था जिस काल की प्रवृत्तियों का प्रभाव मैकियावेली के चिन्तन पर पड़ा था। 14 शताब्दी से 16 वीं

शताब्दी का काल था जिस काल के विचारों ने मध्ययुगीन मान्यताओं को छोड़कर एक बार फिर से यूनानी मान्यताओं को स्वीकार करना आरम्भ किया। यूनानी चिन्तन के पुनः प्रसार के कारण मध्ययुगीन व्यवस्था टूटने लगी और मध्ययुगीन चिन्तन बिखरने लगा तथा नवीन बौद्धिक सांस्कृतिक और राजनीतिक मूल्यों का प्रभाव यूरोप में दिखाई पड़ने लगा। यह काल प्रबद्धता और बन्धनमुक्ति का काल था। यूनानी चिन्तन के पुनः आविर्भाव के साथ ही मनुष्य समाज, प्रकृति, ईश्वर, कला साहित्य और राजनीति को देखने की नयी कसौटियाँ नये मापदण्डों का आविर्भाव हुआ। समाज की अपेक्षा अब व्यक्ति को महत्व दिया जाने लगा। मानव आबादी दृष्टिकोण के विकास के कारण अब माने जाने लगा कि मनुष्य ही सभी चीजों की कसौटी है। चर्च के नियंत्रण के विरुद्ध भी स्वतंत्रता की भावना का उदय होने लगा। यूरोपीय जगत में पूनर्जागरण की परिणामस्वरूप जिन नये विचारों का और दृष्टिकोण का जन्म हो रहा था। मैक्रियावेली उन विचारों से प्रभावित था। ये नवीन प्रवृत्तियाँ मैक्रियावेली के चिन्तन में प्रकट हुईं। इसलिए उसे अपने युग के शिशु के रूप में मान्यता दी जाती है। मैक्रियावेली अनेक भाँति से अपने युग का प्रतिनिधि विचारक था। यह उसके दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य स्वभाव का चित्रण, अध्ययन की ऐतिहासिक प्रणाली को चुनना, चर्च तथा पोप की सत्ता का खुला विरोध, राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक करना, राष्ट्रीय राज्य की महत्ता को स्वीकार करना, सर्वशक्तिमान विधिदाता की अवधारणा का प्रतिपादन करना राष्ट्रीय सेना का विचार तथा सामन्तवादी वर्ग को राष्ट्रीय एकता में बाधा मानकर उस पर राजा के अंकुश को लगाना इत्यादि उसके ऐसे विचार थे जिन पर अपने युग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पुनर्जागरण युग जो वैचारिक अथवा बौद्धिक प्रवृत्तियाँ थी, मैक्रियावेली के विचारों में उन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए उसे अपने युग का शिशु कहा गया है।

11.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में

राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैक्रियावेली को पहला आधुनिक विचारक अथवा आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक कहा गया है। इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

1. मैक्रियावेली के पहले राजनीति का अध्ययन अनुभवमूल नहीं था। मध्ययुग के प्रायः सभी लेखक स्वयं सिद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर उस आधार पर अपने राजनीतिक विचारों की व्यवस्थाएँ निर्मित करते हुए दिखायी पड़ते हैं। इसकी तुलना में मैक्रियावेली मध्ययुग की अध्ययन पद्धति को छोड़कर पर्यवेक्षणीय ऐतिहासिक एवं अनुभवमूलक पद्धति का प्रयोग करता है। आधुनिक काल में इस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने वाला मैक्रियावेली पहला विचारक माना जाता है।

2. मैक्रियावेली की आधुनिक विचारक मानने के समर्थन में यह कहा जाता है कि उसने राजनीति और नैतिकता को पृथक किया है। मैक्रियावेली की मान्यता है कि राजनीति का एक स्वतंत्र दायरा है। राजनीति का दायरा सत्ता है। राजनीति का लक्ष्य सत्ता को प्राप्त करना सत्ता प्राप्त कर उसे दृढ़ बनाना तथा सत्ता का विस्तार करना है। इसकी तुलना में नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के निजी व्यवहार के नैतिक पक्षों से जुड़े निर्णयों से रहता है। इस आधार पर मैक्रियावेली इस विचार का प्रतिपादन करता है कि राजनीति के उद्देश्य एवं साधन नैतिकता के उद्देश्यों एवं साधनों से सर्वथा पृथक हैं। राजनीति के क्षेत्र में संलग्न व्यक्तियों, शासकों और राजनीतिज्ञों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे राजनीति में नैतिकता के साधनों का प्रयोग करें। मैक्रियावेली के लिए साधनों का नैतिक - अनैतिक होना निरर्थक मापदण्ड है। राजनीति को नैतिक और धर्म से पृथक करने के पीछे मैक्रियावेली का विचार था कि वह राजनीति को मध्ययुगीन बंधनों से मुक्त कर दे। मैक्रियावेली का यह प्रयास भी उसकी आधुनिक मानसिकता का परिचायक है।

3. मैकियावेली ने प्रिंस से अपेक्षा की कि कोई देशभक्त राजा इटली को राष्ट्रीय राज्य के रूप में संगठित करेगा। मेडीसी परिवार के शासक लॉरजो को सम्बोधित करते हुए उसने लिखा था, देखिए इटली की भूमि उस ध्वज के नीचे खड़े होने की बिनती कर रही है जो उसे विजय दिला सके यह मातृभूमि आपके घराने की ओर इस आशा से देख रही है। यदि आप उन आदर्शों का प्रयोग करेंगे जिनकी चर्चा मैंने प्रिंस में की है तो यह कार्य आपके लिए तनिक भी कठिन नहीं होगा। वे साधन दयावान एवं उचित है। जो मातृभूमि का उद्धार करें। मैकियावेली ने राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय सेना की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। राष्ट्रीय एकता का विचार भी मैकियावेली की आधुनिकता का द्योतक है।

4. आधुनिक राज्य की धारणा का प्रतिपादक आधुनिक काल की राजनीतिक व्यवस्था राज्य की धारणा पर आधारित है। मैकियावेली को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने राज्य की धारणा को सर्वप्रथम अर्थ प्रदान किया। राज्य का आधुनिक अर्थ ऐसी राजनीतिक सम्प्रभु शक्ति है। जिसमें अपने नागरिकों और क्षेत्रों पर एकाधिकार है तथा जो शक्ति अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी सर्वोच्च एवं निर्बाध है। राज्य की धारणा का इस प्रकार का अर्थ मैकियावेली के ग्रंथों द्वारा ही प्रदान किया गया है। राज्य से जुड़ी हुई सम्प्रभुता की धारणा के लक्षणों की व्याख्या भी मैकियावेली द्वारा सर्वप्रथम की गयी है। राज्य और उसकी सम्प्रभु शक्ति के महत्व को पहिचानने वाले विचारकों में मैकियावेली आधुनिक काल का अग्रणी विचारक था।

5. व्यक्ति के आत्महित पर बल मैकियावेली का आधुनिक काल के उन विचारकों में प्रथम स्थान है जिन्होंने व्यक्ति के आत्महित अथवा स्वार्थ को राजनीति का केन्द्र बनाया। मैकियावेली मानता है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी अथवा अहंवादी है इस तथ्य को शासक को पहिचानना चाहिए तथा शासन की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए जिससे कि व्यक्ति के आत्म हित को आघात न लगे।

अभ्यास प्रश्न के उत्तर में उपरोक्त का अध्ययन कर लिखिए

प्रश्न 1 दाँ प्रिंस नामक ग्रन्थ की रचना किसने की ?

प्रश्न 2 मैकियावेली का जन्म किस सन् में हुआ था?

प्रश्न 3 मैकियावेली ने किस अध्ययन प्रणाली को अपनाया था ?

प्रश्न 4 डिस्कोर्सेज में मैकियावेली किस व्यवस्था का समर्थन करता है ?

प्रश्न 5 मैकियावेली राज्य कोसंस्था मानता है।

प्रश्न 6 राजतंत्र व्यवस्था को मैकियावेली के नाम से सम्बोधित करता है।

11.19 सारांश

उक्त ईकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होंगे कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चिंतन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आपने देखा कि मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है। मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण इसलिए प्रस्तुत करता है क्योंकि उसने इटली की दुर्दशा को देखा और उसके लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी माना। वह इटली का एकीकरण करना चाहता है लेकिन चर्च व पोप

को उस कार्य लिए अक्षम मानता है। मैकियावेली ने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के प्रयास किया। साथ ही मैकियावेली ने धर्म और नैतिकता का राजनीति से विच्छेद कर अपने विचारों को मध्ययुगीन विचारधारा से सर्वथा भिन्न बना दिया उसने राज्य की रक्षा के लिए नैतिकता तथा धर्म की धारणाओं को ताक पर रख दिया सिसरो की भाँति मैकियावेली भी मिश्रित संविधान को श्रेष्ठ मानता है और गणतन्त्र शासन को श्रेष्ठ मानता है अन्त में मैकियावेली ही इटली में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने वाला पहला विचारक था।

11.20 शब्दावली

गणतन्त्र:- वह शासन प्रणाली जिसमें सत्ता का अन्तिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है। ताकि उसका प्रयोग जन हित को बढ़ावा देने के लिए किया जाए।

आधुनिकीकरण:- वह प्रक्रिया जिसमें कोई समाज परंपरागत मूल्यों और संस्थाओं से आगे बठकर आधुनिक युग के अनुरूप जीवन पद्धति अपना लेता है।

सामन्तवाद:- मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित वह राजनीतिक व्यवस्था जिसके अन्तर्गत राज्य शक्ति स्थानीय जमींदारों मनसबदारों, इत्यादी में बंटी रहती थी। और अपना पर उत्तराधिकार के रूप आधारित थी।

राष्ट्रीयता:- वह स्थिति जिसमें कोई व्यक्ति किसी विशेष राष्ट्र राज्य का सदस्य माना जाता है, चाहे वह स्वयं उस राज्य में जन्मा हो, या उस राज्य से सम्बन्ध रखने वाले परिवार से।

11.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मेहता जीवन- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन
2. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक
3. जैन पुखराज- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

11.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सूद जे0पी0- राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

11.24 निबंधात्मक प्रश्न

1. धर्म व नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों की विवेचना कीजिए ?
2. मैकियावेली आधुनिक युग का प्रथम विचारक क्यों माना जाता है ?
3. मैकियावेली सही अर्थों में अपने युग का शिशु था। समीक्षा कीजिए।
4. मैकियावेली के राज्य और सरकार के सम्बन्ध में विचारों की विवेचना कीजिए।

इकाई-12 :जीन बोदाँ- (1530-1596)

इकाई की संरचना

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 उद्देश्य
- 12.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ
- 12.4 अध्ययन पद्धति
- 12.5 राज्य सम्बन्धी विचार
- 12.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
- 12.7 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार
- 12.7.1 संप्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार
- 12.8 जीन बोदाँ का राज्य एवं शासन के सम्बन्ध में विचार
- 12.9 जीन बोदाँ का सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
- 12.10 जीन बोदाँ का क्रान्ति सम्बन्धी विचार
- 12.11 जीन बोदाँ का राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार
- 12.12 जीन बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना
- 12.13 सारांश
- 12.14 शब्दावली
- 12.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 12.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.18 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक जीन बोदाँ का जन्म सन् 1530 में हुआ एवं बोदाँ का स्वर्गवास सन् 1596 में हो गया। बोदाँ के जीवन काल में फ्रांस गृहकलह एवं धर्मयुद्धों में फँसा हुआ था। सन् 1562 से सन् 1598 तक फ्रांस में 9 धर्मयुद्ध हुए थे। बोदाँ के विचार भी अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित थे। बोदाँ के अध्ययन एवं ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था। उसने राजनीति, न्यायशास्त्र, इतिहास, मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म जैसे विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किए तथा कृतियाँ लिखीं। बोदाँ अपने समय का सर्वाधिक मौलिक विचारक था। वह आधुनिक भी था और अनेक बातों में मध्ययुगीन भी। बोदाँ ने राजनीति के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

12.2 उद्देश्य-

बोदाँ का उद्देश्य फ्रांस में एकता की पुनर्स्थापना थी। उसने राजनीति के सभी पक्षों से फ्रांस की एकता पर विचार किया जो कि उसकी सार्वभौमिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उसके विचार रूढ़िवादी होते हुए भी पुनरूत्थान की भावना से ओत-प्रोत थे। उसके सिद्धान्तों में एकता और संगठन का प्रत्यक्ष सूत्रपात दिखाई देता है। उसने स्पष्ट रूप से फ्रांस के राजतंत्र का समर्थन किया क्योंकि उसका यह मानना था कि केवल राजतंत्र ही फ्रांस को विनष्ट होने से बचा सकता है और यह कार्य राजा की सर्वोच्चता द्वारा ही हो सकता है। निश्चित रूप से सम्प्रभुता के सिद्धान्त प्रतिपादित करने का श्रेय बोदाँ को ही है।

12.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ

1. रेसपॉन्स (Response)
2. डेमीनोमैनी (Demenomanie)
3. हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres)
4. यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum)
5. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक (Six Livers De-La-Republicue)

12.4 बोदाँ की अध्ययन पद्धति-

बोदाँ का राजनीतिक विचार उसकी पुस्तक 'The Six Books on the Republic or State' से जान सकते हैं तो उसका दूसरा ग्रन्थ 'A Method for the Easy Understanding of History' भी महत्वपूर्ण है। उसमें उस पद्धति का विवरण है जिसका प्रयोग उसने अपने राजनीतिक विकल्प में किया और जिसे बोदाँ नवीन समझता था। यह पद्धति भी दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण है। बोदाँ के अनुसार कानून के वास्तविक स्वरूप तथा मूल को समझने के लिये न्यायशास्त्री को इतिहासकर से सहायता लेनी चाहिये और विभिन्न देशों की कानून प्रणालियों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार उसे दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण करना चाहिए। बोदाँ के अनुसार मैकियावेली की अध्ययन पद्धति में दर्शन की सर्वथा उपेक्षा के कारण ही शायद वह नीतिशास्त्र तथा राजनीति में विच्छेद किया, क्योंकि उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से अनुभव प्रधान थी; उसे दर्शन द्वारा परिष्कृत नहीं किया गया था। दूसरी ओर बोदाँ ने प्लेटो तथा मोर सरीखे स्वप्नदृष्टाओं (Utopians) की आलोचना इसलिये की कि क्योंकि उनका दर्शन अयथार्थवादी था क्योंकि उसका आधार ऐतिहासिक तथ्य नहीं था। बोदाँ की धारणा थी कि आदर्श पद्धति में दर्शन और इतिहास दोनों का प्रयोग होना चाहिए। दर्शन इतिहास के तथ्यों के अर्थ प्रदान करता है तथा इतिहास दार्शनिक धारणाओं के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है। “तथ्य ठोस बनाते हैं और विवेक सारगर्भित।” अपनी राजनीतिक मान्यताओं का इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित करके बोदाँ ने अरस्तू की पद्धति को अपनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोदाँ के सामने अपने कार्य का चित्र अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। परन्तु जैसा कि सैबाइन का कहना है, बोदाँ में उस कार्य के सम्पन्न करने की पूर्ण क्षमता न थी; उसके राजनीतिक दर्शन में काफी प्रवंचना पाई जाती है। उसके पास कोई स्पष्ट प्रणाली न थी जिसके द्वारा वह अपनी ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता। बोदाँ का अपनी कृतियों में मुख्य ध्येय इतिहास के लिए सामान्य दर्शन की खोज करना नहीं था, बल्कि केवल उसे सरलतापूर्वक समझने की एक पद्धति का पता लगाना था इसका परिणाम यह हुआ कि उसके ग्रन्थों में पाई जाने वाली अतुल ऐतिहासिक सामग्री में कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। परन्तु यह तो हमें मानना ही चाहिये कि कानून तथा राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिये, बोदाँ का एक बड़ा गुण था। उसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि तथा प्राकृतिक कानून में उसके विश्वास ने उसे मैकियावेली के नैतिक उपरामवाद (Moral Indifferentism) से बचा लिया। बोदाँ तथा मैकियावेली और बोदाँ तथा हॉब्स में यह एक आधारभूत अन्तर है।

अब हम बोदाँ के उस राजनीतिक दर्शन पर आते हैं जो उसकी कृति 'Books Concerning the State' में मिलता है। कई बातों में उसमें राज्य के मूल स्वरूप तथा राजनीतिक आज्ञापालन के विषय में हमें मौलिक विचार मिलते हैं।

परन्तु वे पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हैं। सबसे पहले हम अगली इकाई खण्ड में उसके राज्य के मूल तथा सामाजिक आधार पर विवरण देंगे, फिर उसके संप्रभुता के सिद्धान्त तथा अन्य विषयों का उल्लेख करेंगे और अन्त में यह देखेंगे कि राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका क्या स्थान है।

12.5 जीन बोदाँ का राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य के सम्बन्ध में बोदाँ के नवीन सिद्धान्त तथा नवीन मूल्यों को भली प्रकार समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि बोदाँ किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य को लेकर अपनी रचनायें कीं। ज्ञात रहे कि प्रोटेस्टेण्टों तथा कैथोलिकों के बीच धार्मिक संघर्ष ने राज्य की एकता तथा शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने और जन-कल्याण की अभिवृद्धि करने की उसकी क्षमता को बहुत घटा दिया। इस लिये बोदाँ राज्य को धार्मिक विवादों से अलग रखना और यह सिद्ध करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है जो उसके समस्त नागरिकों को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी दिखाना चाहता था कि राज्य का समुचित कार्य सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि करना है, न कि अपने अनुसार सच्चे धर्म को कायम रखना। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने उस सिद्धान्त को जो कि राज्य को एक दैविक संस्था समझता है और उस सिद्धान्त का जो कि शासन की जन-इच्छा के ऊपर आधारित करता है, खण्डन करना पड़ा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी तथा स्कॉटिश काल्विनवादी अन्तःकरण के नाम पर राज्य की शक्ति की अवज्ञा करते थे और व्यक्ति को राज्य से कहीं अधिक महत्ता देते थे। राजनीतिक शक्ति के प्रति काल्विनवादियों का यह दृष्टिकोण बोदाँ के उद्देश्य से ताल नहीं खा सकता था। बोदाँ का उद्देश्य राज्य के प्राधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की रक्षा करना नहीं। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति बोदाँ ने राज्य की यह परिभाषा देकर की कि “राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसके ऊपर सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक का शासन है। यह परिभाषा ‘सिक्स बुक्स कन्सर्निंग दि रिपब्लिक के लैटिन अनुवाद में जिसे ‘डि रिपब्लिक लिब्रीसिक्स’ या केवल ‘डि रिपब्लिक’ के नाम से ही जानी जाती है में दी गयी है।

उपरोक्त परिभाषा से प्रथमतया जो दर्शित होता है वह यह है कि बोदाँ राज्य को परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का समुदाय बतलाता है, व्यक्तियों का नहीं। व्यक्ति का सम्बन्ध राज्य से परिवार तथा मजदूर संघ सरीखे अन्य समूहों की सदस्यता द्वारा है। बोदाँ के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति का व्यक्ति के नाते अधिक महत्व नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि अरस्तू का अनुकरण करते हुए बोदाँ राज्य को परिवारों का समुदाय बतलाता है। किन्तु उसे वह परिवार का स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं मानता जैसा कि महान यूनानी दार्शनिक मानता था, उसके अनुसार राज्य शक्ति की उपज है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो सूत्र व्यक्तियों को परिवार, व्यापार संघ अथवा धार्मिक संघ जैसे समुदायों में बाँधता है वह उससे कहीं भिन्न है जो कि व्यक्तियों को राज्य के सदस्यों के रूप में एकबद्ध करता है। कुटुम्ब इत्यादि समुदायों में इस सम्बन्ध का आधार रक्त, मित्रता अथवा पारस्परिक समझौता हो सकता है किन्तु राज्य में यह बन्धन शक्ति का है।

ऐसा लगता है कि बोदाँ का यह मानना था कि वह एक परिवार जिससे मानव जाति का प्रारम्भ हुआ आगे चलकर प्राकृतिक कारणों से कई परिवारों में विभक्त हो गया। समुचित स्थानों पर उन्होंने अपने घर बसा लिये। सामान्य लाभ और हित के लिए एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक होती है, इसी प्रवृत्ति के कारण बहुत से

परिवार एक ऐसे स्थान पर बस गये जहाँ उन्होंने जल, रक्षा इत्यादि के दृष्टिकोण से दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझा। ऐसे अच्छे स्थानों की संख्या सीमित थी। इसलिए परिवार उन पर अधिकार जमाने के लिए आपस में लड़ने लगे। उस संघर्ष में सबल की विजय हुई, निर्बल परास्त हो गये। विजेताओं ने पराजितों पर अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित करना चाहा और उस प्रक्रिया में वे स्वयं उन सरदारों की अधीनता में आ गये जिन्होंने कि लड़ाई में उनका नेतृत्व किया। इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। मानव इतिहास में इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि शक्ति को राज्य के जन्म का मुख्य आधार समझने में सत्य का काफी अंश है। राज्य के विकास में शक्ति चाहे एकमात्र या मुख्य साधन न रही हो, किन्तु एक महत्वपूर्ण साधन वह अवश्य रही है। सामाजिक शक्तियों का बोदाँ एक तीक्ष्ण विश्लेषणकर्ता था।

बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा में तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन होता है। सर्वोच्च शक्ति राज्य का सार है, यह राज्य को अन्य समुदायों से अलग करती है। इसे खो देने पर राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। राज्य की इस सर्वोच्च शक्ति को बोदाँ सम्प्रभुता कह कर पुकारता है। सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन को बोदाँ की सबसे बड़ी देन समझी जाती है। उसके मत का सार है कि कानूनों को बनाने तथा उन्हें लागू करने की राज्य की शक्ति ही सम्प्रभुता है।

चौथी बात यह है कि बोदाँ के अनुसार राज्य के निर्देशन में विवेक का भी बड़ा हाथ होता है। यह एक महत्वपूर्ण विचार है। उसका अर्थ यह है कि राज्य में सर्वोच्च शासन अधिकार को जो चीज न्यायसंगत बनाती है वह है उसका विवेकसम्मत होना। राज्य और लुटेरों के एक गिरोह में भेद करने वाली इसके अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं है। विवेक के कानून से बोदाँ का अर्थ कदाचित प्रकृति के कानून से था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि वह राज्य का मूल शक्ति में देखता था किन्तु उसके अनुसार शक्ति स्वयं अपना औचित्य नहीं है। राज्य बन जाने के पश्चात् शक्ति उसका आधारभूत गुण नहीं रह जाता। अपने आपको न्यायसंगत बनाने के लिए सम्प्रभु को विवेक तथा नैतिक नियन्त्रण के अधीन रहना चाहिए। इस प्रकार बोदाँ ने उस रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न किया जो कि दैविक अधिकार सिद्धान्त के तिरस्कार से उत्पन्न हो गया था।

12.6 जीन बोदाँ का नागरिकता सम्बन्धी विचार-

बोदाँ की नागरिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों में स्पष्ट आधुनिक तत्व मिलते हैं। आरम्भ में ही हमें बोदाँ की प्रणाली में एक ऐसी कठिनाई मिलती है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। उसके लिये राज्य का प्रारम्भिक तत्व परिवार है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति राज्य में अपनी भूमिका आधारभूत सामाजिक समुदायों की अपनी सदस्यता द्वारा अदा करता है। इस कठिनाई को बोदाँ यह कहकर दूर करता है कि परिवार का प्रधान नागरिक का परिधान केवल तभी धारण करता है जबकि वह घरेलू कर्तव्यों को छोड़ता है और सार्वजनिक कार्यों को करने के लिये अन्य परिवारों के प्रधानों से मिलने के लिए घर के बाहर निकलता है जो चीज उसे नागरिक बनाती है वह उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं है जो कि प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिकता की धारणा से सामान्यतया सम्बद्ध थे और जो आज भी इस शब्द के अर्थ का एक भाग है, बल्कि वह है उसका राज्य की सम्प्रभुता की अधीनता स्वीकार करना। उसके अनुसार नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभुशक्ति के अधीन है। नागरिकता की इस प्रचलित परिभाषा में कि 'नागरिकता राज्य के प्रति शक्ति है' बोदाँ के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

12.7 संप्रभुता (Sovereignty) सम्बन्धी विचार -

सम्प्रभुता का सिद्धान्त जो कि उसके राजनीतिक दर्शन का सबसे अधिक आधारभूत अंग तथा आधुनिक राजनीतिक विचार को उसकी मौलिक देन है। उससे पूर्व किसी भी राजनीतिक विचारक ने सम्प्रभुता की धारणा का प्रतिपादन नहीं किया। अरस्तु ने जिस सर्वोच्च शक्ति का उल्लेख किया है, उसे बोदाँ द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के विचार के अनुरूप समझा जा सकता है, वह कानून द्वारा परिमित थी जिसका स्रोत विवेक है। मध्य युग की परिस्थितियाँ इस धारणा के विकास के लिये अनुकूल न थीं। सम्राट की शक्ति एक ओर तो सामन्त सरदारों के अधिकारों द्वारा और दूसरी ओर पोप के श्रेष्ठतर शक्ति के दावों द्वारा सीमित थी। 16वीं शताब्दी में स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई थी। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस सरीखे राष्ट्र-राज्यों के राजाओं ने अभूतपूर्व एकबद्धता तथा केन्द्रीकरण प्राप्त कर लिया और अपने आपको पोप के नियन्त्रण से मुक्त कर लिया था। निःसन्देह यह सत्य है कि पवित्र रोमन सम्राट का अस्तित्व उस समय था और वह साम्राज्य के ऊपर नाममात्र का अधिकार जताता था। परन्तु बोदाँ के लिये उसका कोई महत्व न था उसके लिये फ्रांस का राजा हेनरी तृतीय ही सब कुछ था। अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बोदाँ उस प्रवृत्ति का सैद्धान्तिक औचित्य सिद्ध कर रहा था जो कि पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र प्रधान हो उठी थी। फ्रांस, ब्रिटेन तथा स्पेन के राजा बोदाँ के मुख से यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए होंगे कि 'समस्त व्यक्तियों तथा समस्त विषयों' पर उनका नियन्त्रण करने का प्रयत्न सम्प्रभुता के उन अदेय अधिकारों का ही प्रयोग था जो कि प्रत्येक राज्य में स्वाभाविक रूप से शामिल रहते हैं।

बोदाँ के अनुसार सम्प्रभुता एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थायी शक्ति है। वह नागरिक तथा प्रजाजन के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कानून की कोई सीमायें नहीं हैं। इन शब्दों में बोदाँ का क्या तात्पर्य था, वह समझना आवश्यक है। यह कहकर कि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले समस्त नागरिकों तथा प्रजाजन पर निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति रखता है। बोदाँ दो उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम, वह पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट सरीखी किसी भी बाह्य सत्ता के राज्य के लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार करने के दावे को निश्चित रूप से ठुकराता था। यह सम्प्रभुता का बाह्य स्वरूप था। दूसरे, उसने सामन्त सरदारों, नगरों तथा निगमों के किसी भी अदेय अधिकार को मानने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार वे सब साधारण नागरिकों के सदृश राजा की शक्ति के अधीन थे। उन्हें ऐसे अधिकार देना, जिनसे राजा भी उन्हें वंचित न कर सके, राज्य की सम्प्रभुता की निरपेक्षता को कम करना था। इसे हम सम्प्रभुता का आन्तरिक स्वरूप कह सकते हैं।

सम्प्रभुता को स्थायी बताकर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय-विशेष से सीमित नहीं है। उसके अनुसार वह राजा जो कि अपने जीवन-पर्यन्त निरंकुश शक्तियों का उपभोग करता है, बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ताधारी है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह ईश्वर को छोड़कर किसी को भी अपने से बड़ा नहीं समझता।

अन्तिम बात यह है कि बोदाँ के अनुसार 'सम्प्रभुता पर कानून की कोई सीमायें नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह जो कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है स्वयं उन कानूनों से बाधित नहीं होता जिन्हें वह जनता के लिये बनाता है, वह कानून के ऊपर होता है। यदि शासक कानूनों से बाधित है तो फिर वह निरंकुश और सर्वोच्च कहाँ रहा? सचमुच निरंकुश तथा सर्वोच्च होने के लिये उसे कानूनों के ऊपर होना चाहिये। परन्तु बोदाँ एक क्षण के लिये भी यह नहीं सोचता कि राजा की सम्प्रभुता समस्त कानूनों से ऊपर है। वह केवल अपने बनाये हुए कानूनों के ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों के नहीं। 'समस्त शासक दैविक कानून, प्राकृतिक कानून तथा इनसे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य कानून से बाधित है। उसके यह मानने से कि सम्प्रभुता दैविक तथा प्राकृतिक कानून द्वारा सीमित है बोदाँ के सिद्धान्त में एक ऐसा तत्व आ जाता है जो उसे हॉब्स से एकदम

भिन्न कर देता है, जिसका सिद्धान्त अन्य बातों में उसके बहुत निकट है। इससे प्रकट है कि वह अब भी 'उस महान मध्यकालीन परम्परा के निकट था जो कि राज्य तथा उसके कानूनों को न्यूनाधिक उस पूर्ण न्याय, शुभ, तथा सत्य के प्रतिबिम्ब के रूप में देखती थी जो कि प्रभु की नैतिक व्यवस्था में अभिव्यक्त होते हैं।

उपरोक्त जो भी कहा गया है उससे हम सम्प्रभुता की एक दूसरी विशेषता पर पहुँचते हैं। वह है नागरिकों की व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से कानून बनाने की शक्ति जिसके लिये किसी श्रेष्ठतर, हीनतर तथा समान श्रेणी वाले की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। सम्प्रभुता ही कानूनों का एकमात्र स्रोत है जिसके द्वारा समाज के व्यापार, शासित तथा विनियमित होते हैं। बोर्दाँ के सिद्धान्त का यह एक आवश्यक तत्व है कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह होना चाहिये जो कि उसकी विधायनी क्रियाओं के ऊपर पूर्ण अधिकार रखता हो। अपने विधि-निर्माण के अधिकार के प्रयोग करने में प्रभुसत्ताधारी शासक को संसद सरीखे हीनतर अभिकरण के परामर्श को मानना आवश्यक नहीं है, उसके ऊपर कोई ऐसी उच्चतर शक्ति नहीं है जिसकी अनुमति उसके लिये आवश्यक हो या जो उसके बनाये हुये कानूनों को रद्द कर सके। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अमुक राज्य में सम्प्रभुता का निर्माण कहाँ है तो बोर्दाँ के अनुसार हमें यह पता लगाना चाहिये कि उसमें विधि-निर्माण करने की अन्तिम शक्ति कहाँ है।

बोर्दाँ के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विषय में भ्रान्त धारणा से बचने के लिये हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि बोर्दाँ के अनुसार सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग विवेक के अनुसार होना चाहिए। बोर्दाँ- लुटेरों के एक गिरोह की निरंकुशता तथा सम्प्रभुता के बीच बड़ा भेद करता है। अपने शासन-कार्य के लिये शासक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु किसी मानवी शक्ति के प्रति नहीं। प्राकृतिक या दैविक उच्चतर कानून का हॉब्स की कृतियों में कोई स्थान नहीं है। राज्य का प्रधान होने के नाते प्रभुसत्ताधारी में अन्य गुण होते हैं, जैसे कि युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, न्याय-रक्षकों को नियुक्त करने, मुद्रा बनाने, अपराधियों को क्षमा प्रदान करने तथा कर लगाने के अधिकार।

इस प्रकार बोर्दाँ की सम्प्रभुता कोई अमूर्त अथवा अगम्य चीज नहीं रह जाती। यह एक साकार चीज है जिसकी परिभाषा की जा सकती है और जिसे व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है। यह राज्य को समाज को शासित करने वाले कानूनों को बनाने की वैधानिक क्षमता है जो प्रत्येक राज्य में रहती है। यह सम्पूर्ण समाज में सामूहिक रूप से वर्तमान रह सकती है और उसी के द्वारा इसका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्य पूर्णरूपेण लोकतन्त्री होगा अथवा इसका स्वामित्व एक व्यक्ति में हो सकता है और वह वंशानुगत रूपसे उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो सकती है। ऐसी दशा में राज्य वंशानुगत राजतन्त्र हो जायेगा। किन्तु राज्य चाहे राजतन्त्री हो, कुलीनतन्त्र हो या लोकतन्त्री हो, उसमें प्रभुसत्ता जरूर होगी जो समस्त कानूनों का स्रोत है और जो स्वयं अपने बनाये हुये कानूनों से बाध्य नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार उन कानूनों को बदल सकती है, उन्हें रद्द कर सकती है। यह सर्वोच्च सत्ता अविभाज्य और अदेय है। हथियाने (Prescription) का नियम भी उस पर लागू नहीं होता। समाज की इच्छा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होने के नाते यह अविभाज्य है, एक राज्य में दो या अधिक प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकते। यह अदेय है क्योंकि इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है। अप्रयोग द्वारा यह भी नष्ट नहीं होती।

यह निरपेक्ष तथा सर्वोच्च शक्ति राज्य में स्वभावतः पाई जाती है। यह समाज की अपने हितों के लिए अपने सदस्यों के ऊपर अपनी इच्छा का प्रयोग करने की शक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसे ईश्वर ने अपनी इच्छा की पूर्ति

के लिये मनुष्य को दिया है। सारांश यह है कि सम्प्रभुता मूल रूप से मानव इच्छा की अभिव्यंजना है। समाज के बाहर इसका कोई स्रोत नहीं है।

12.7.1 सम्प्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार-

1. ईश्वरीय कानून की सर्वोच्चता-

बोदाँ इस बात के ऊपर बहुत जोर देता है कि सम्प्रभुता निरंकुश तथा अपरिमित है फिर भी वह मानता है कि उसकी कुछ सीमायें भी हैं। बोदाँ स्वीकार करता है कि सर्वोपरि कानून ऐसा है जिसके अधीन समस्त शासक होते हैं। वह है ईश्वरीय कानून प्राकृतिक कानून को इसी का एक अंग कहा जा सकता है। यह कानून सदाचार के कुछ अपरिवर्तनीय मापदण्ड निर्धारित करता है, जिनके अनुसार शासक को सदैव चलना चाहिए। इन्हीं मापदण्डों का अनुसरण करना एक राजा की शक्ति को वैध बनाता है। ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा लगाई गई सम्प्रभुता के ऊपर सीमाओं का यही सच्च अर्थ है। किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वयं शासक को है, उसे शासक के ऊपर लागू करने के समुचित साधन नागरिकों के पास नहीं है। इसलिये ऐसे कानून द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का कोई वैधानिक या राजनीतिक महत्त्व नहीं है। वे नैतिक हैं और इसीलिये स्वेच्छापूर्ण लगाए हुए हैं। स्वेच्छापूर्ण लगाये हुये प्रतिबन्धों को पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह स्वीकार कर लेने से कि सम्प्रभुता ईश्वरीय कानून या प्राकृतिक कानून के अधीन है उसके निरंकुश तथा अपरिमित होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो कि बोदाँ के विचार में उसका सबसे प्रमुख तत्व है।

किन्तु यथार्थ जगत में अधिकतर शासक ऐसे नहीं होते जैसे कि होने चाहिए। उनके बनाये हुए कानून सदैव उस उच्चतर ईश्वरीय कानून के अनुकूल नहीं होते जो कि विश्व में प्रत्येक चीज के ऊपर नियन्त्रण रखता है और जो मनुष्य को शुभाशुभ का ज्ञान प्रदान करता है। तब ऐसी स्थिति में जबकि शासक द्वारा बनाये हुए कानून और प्राकृतिक कानून में संघर्ष हो तो क्या होगा? क्या न्यायरक्षक को सम्प्रभु द्वारा बनाये गये कानून को लागू करने से इन्कार कर देना चाहिए? क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करनी चाहिए। बोदाँ ने इन प्रश्नों का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया, उसने ऐसी स्थितियों को केवल लघुतम सीमाओं के अन्दर बन्द कर दिया है किन्तु ऐसा करने से विडम्बना तो दूर नहीं हो जाती, वह तो बनी ही रहती है। “कानून सम्प्रभु की इच्छा है और साथ ही साथ शाश्वत न्याय की अभिव्यंजना भी, तथापि दोनों में संघर्ष हो सकता है।

2. सांविधानिक कानून की प्रधानता

बोदाँ का कहना है कि राजा को राज्य के सांविधानिक कानून के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्रांस के राजा सिंहासन के उत्तराधिकार के कानून को नहीं बदल सकते थे जो कि सैलिक कानून (Salic Law) के अधीन था। वह कानून यह था कि ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलना चाहिए। पुत्रियां उत्तराधिकार से सर्वथा वंचित थीं। राजसत्ता के ऊपर इस प्रतिबन्ध के औचित्य को सिद्ध करना पहले प्रतिबन्ध से कहीं अधिक कठिन है। बोदाँ ने इस प्रतिबन्ध को इसलिये स्वीकार कर लिया क्योंकि उस युग में प्रचलित कानूनी मत यह था कि राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें राजसत्ताधारी नहीं बदल सकता। स्वभाव से तथा कानूनी शिक्षा-दीक्षा के कारण वह संविधानवादी था, इसलिए वह राज्य की प्राचीन संस्थाओं को बनाये रखना चाहता था। परन्तु यदि शासक सचमुच सर्वोच्च है, यदि राजनीतिक समाज का शासक तथा प्रजा के सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं हो सकता तो समझ में नहीं आता कि शासक को उन

कानूनों को बदलने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए जिनके बनाने में उसका कोई हाथ न था। आगे चलकर हॉब्स ने ऐसा तर्क किया है इसके विपरीत, यदि राज्य एक ऐसा राजनीतिक समाज है जिसका अपना संविधान है और जिसके अपने कानून हैं जिन्हें शासक नहीं बदल सकता तो राजसत्ता तथा राजा को हमें एकरूप नहीं समझना चाहिए जैसा कि बोदाँ समझता था। इस प्रकार सांविधानिक कानूनों के इस बाध्यकारी स्वभाव को स्वीकार करने के बोदाँ के सिद्धान्त में एक दूसरी कठिनाई उत्पन्न हो गई।

3. निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता-

सम्प्रभुता के ऊपर तीसरा प्रतिबन्ध है निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता। बोदाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र समझता था, उसका विश्वास था कि शासक सम्पत्ति को उसके स्वामी की इच्छा के बिना नहीं छू सकता। तात्पर्य यह है कि साधारण समय में बिना सहमति के राजा को प्रजा के ऊपर प्रत्यक्ष कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। एक ओर तो यह मानना कि राजा को मनमाने कानून बनाने का अधिकार है और दूसरी ओर यह कहना कि उसकी कर लगाने की शक्ति बहुत सीमित है, ये दोनों धारणायें एक दूसरे के साथ संगतिबद्ध नहीं हो सकती। यह कहना कि शासक की कर लगाने की शक्ति सीमित है, स्वयं अपना ही विरोध करना है। इस सम्बन्ध में हमें बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा को याद रखना चाहिये कि राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है। जिन इकाइयों से मिलकर राज्य बना है वे अपनी सम्पत्ति सहित परिवार है। इस प्रकार बोदाँ की प्रणाली में सम्पत्ति के अधिकार एक आधारभूत महत्व रखते हैं। यही कारण है कि बोदाँ सम्पत्ति को सम्प्रभुता के ऊपर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध समझता है।

यह स्वीकार करने से निजी सम्पत्ति का अधिकार आधुनिक कानून तथा प्राकृतिक कानून शासक की निरपेक्ष शक्ति को सीमित करते हैं। एक आधारभूत प्रश्न खड़ा होता है, यदि शासक इन सीमाओं का उल्लंघन करे तो क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करने का अधिकार है? उस युग के इस प्रमुख प्रश्न का बोदाँ ने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्रोह को उचित नहीं समझता था। शायद उसका विचार यह था कि जैसे जैसे सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे वे प्राकृतिक कानून के अधिकाधिक अनुकूल होते जायेंगे जो कि उनके अनुसार कोई जटिल और कठोर विधि नहीं थी बल्कि अत्यन्त लचीली थी, नागरिकों का विद्रोह करना आवश्यक नहीं।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला और उसका विश्लेषण करने वाला बोदाँ सर्वप्रथम राजनीतिक दार्शनिक था। इसलिए यदि उसकी इस आधारभूत धारणा की विवेचना में कुछ असंगतियाँ आ गई हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उसका यह आग्रह ठीक ही है कि सम्प्रभुता को निरंकुश तथा अपरिमित होना चाहिए, परन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि यदि राज्य के उद्देश्य को समुचित रूप से पूरा करना है तो राजसत्ता के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगने चाहिये। दूसरे शब्दों में, उसके विचार की प्रवृत्ति यह थी कि राज्य की निरंकुश राजसत्ता तथा राज्य के प्रधान की सीमित शक्तियों में और प्रभुसत्ताधारी क्राउन (Crown) रूपी संस्था में तथा उसे वहन करने वाले सीमित शक्तियों वाले राजा में भेद है। वह इस महत्वपूर्ण विभेद पर इसलिए नहीं पहुँच सका क्योंकि राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासन की प्रभुसत्ता को एकरूप मान लेने में उसने बहुत जल्दबाजी से काम लिया।

12.8 राज्य एवं सरकार सम्बन्धी विचार

राज्य तथा सरकार में बोदाँ विभेद करता है। उसका विचार था कि इस विभेद के न करने के कारण ही अरस्तु तथा अन्य विचारकों के सिद्धान्तों में कुछ दोष आ गये हैं। उसने कहा कि राज्य तथा सरकार दोनों के कई रूप हैं। राज्य का रूप सम्प्रभुता के निवास स्थान से निर्धारित होता है। सरकार का रूप इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि सम्प्रभुता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि किसी राज्य में सम्प्रभुता एक व्यक्ति में है तो वह राजतन्त्र है यदि वह कुछ व्यक्तियों में है तो वह कुलीनतन्त्र एक व्यक्ति में है तो वह समस्त जनसाधारण में है तो वह लोकतन्त्र है। सम्प्रभुता को राज्य के विभिन्न तत्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता, इसलिये बोदाँ मिश्रित राज्य की धारणा को स्वीकार नहीं करता। उसका यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि सरकार का रूप राज्य के रूप के ऊपर निर्भर नहीं करता। एक राजतन्त्री राज्य में एक कुलीनतन्त्री अथवा लोकतन्त्री सरकार का होना नितान्त सम्भव है। कुलीनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद एक छोटे से वर्ग के सदस्यों का ही प्रदान किये जाते हैं और सर्वसाधारण को उनमें वंचित रखा जाता है। जनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद बिना वर्गगत भेदभाव के गुण के आधार पर प्रदान किये जाते हैं। इस कसौटी के अनुसार ब्रिटेन की सरकार गत शताब्दी के मध्य तक कुलीनतन्त्री थी और आज वह जनतन्त्री है। संसद द्वारा प्रभुत्व प्राप्त करने से पूर्व इंग्लैण्ड एक राजतन्त्री राज्य था, आज वह जनतन्त्री है।

राज्य के तीन रूपों राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र में से बोदाँ राजतन्त्र को, विशेष रूप से फ्रांसीसी ढर्रे के राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ समझता था। क्योंकि उसके अनुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिकों अथवा समस्त नागरिकों को सौंप देने से अराजकता आ जाने तथा प्रजा के नष्ट हो जाने का भय है। राजतन्त्र के इस मूल्यांकन को समझने के लिये हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बोदाँ ने यह 16वीं शताब्दी के फ्रांस की परिस्थितियों में अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये थे।

12.9 सहिष्णुता सम्बन्धी विचार

‘सहिष्णुता’ ; वह विचार है जिसके लिए बोदाँ सुविख्यात है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रचार उस समय किया जबकि धार्मिक दमन अपनी चरम सीमा पर था और कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। परन्तु सहिष्णुता को उसने एक नीति के रूप में अपनाया, सिद्धान्त के रूप में नहीं। एक ऐसे राज्य में, जहाँ की कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों की बड़ी-बड़ी संख्यायें हों, सरकार की ओर से सम्पूर्ण समाज पर एक ही धर्म को लादने का परिणाम घातक होगा, उसमें गृह-युद्ध छिड़ेगा और राज्य दुर्बल हो जायेगा। इस संकट से बचने के लिये यही उचित है कि राज्य धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं को सहन करें। परन्तु बोदाँ राज्य में नागरिकों को सहन करने के लिये तैयार नहीं, क्योंकि उसके मतानुसार वे अच्छे नागरिक बन ही नहीं सकते। वह यह भी चाहता है कि राज्य नये-नये सम्प्रदायों को न पनपने दें क्योंकि उनसे सामाजिक अव्यवस्था फैल सकती है। इस प्रकार बोदाँ की सहिष्णुता पर बहुत सी सीमायें थीं। जहाँ धार्मिक दमन में सफलता मिलने की बड़ी आशा है, वहाँ वह उसकी अनुमति दे देता है।

12.10 क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अपनी कृतियों में क्रान्ति के विषय में भी बोदाँ विचार व्यक्त करते हैं जो कि अरस्तु के प्रभाव का संकेत करता है। किन्तु वह उससे काफी आगे जाता है। बोदाँ का आरम्भ बिन्दु यह विश्वास है कि मानव प्राणियों की भाँति राज्यों में परिवर्तन होते हैं। वे बढ़ते हैं, परिपक्व होते हैं, क्षीण होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। ये परिवर्तन अपरिहार्य हैं। इसलिये एक बुद्धिमान शासक को उन्हें केवल नियमित करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें रोकने का नहीं। ये परिवर्तन

धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्वक हो सकते हैं अथवा अकस्मात् और हिंसात्मक हो सकते हैं। उनका प्रभाव कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर पड़ सकता है या उससे भी आगे चलकर सम्प्रभुता के निवास स्थान को ही बदल सकता है। बोदों के अनुसार केवल उसी परिवर्तन को क्रान्ति कहा जा सकता है जिसके द्वारा राज्य का स्वरूप ही बदल जाता है जैसे कि राजतन्त्र का कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र हो जाना या उसके विपरीत हो जाना। क्रान्तियों के वह तीन प्रकार के कारण बतलाता है- दैविक, प्राकृतिक तथा मानवीय। दैविक कारण सदा अदृश्य तथा अज्ञात रहते हैं। प्राकृतिक कारणों का जिनमें कि नक्षत्रों का प्रभाव भी सम्मिलित है हम पता लगा सकते हैं। किन्तु मानवीय कारणों के विश्लेषण में ही बोदों ने राजनीतिक चातुर्य का परिचय दिया है। इनकी रोकथाम के प्रसंग में उसने शासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है। उसने इस बात के बड़े मूल्यवान सुझाव दिये हैं कि नागरिकों के साथ सम्बन्ध में, अंगरक्षकों की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय में तथा अन्य बहुत सी बातों में शासक को कैसा आचरण करना चाहिए। वाद-विवाद की असीम स्वतन्त्रता तथा शस्त्र रखने का अधिकार उसे पसन्द नहीं। इसी प्रसंग में वह भौतिक परिवेश तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उपरोक्त के जनता की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर प्रभाव के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। क्रान्तियों के कारणों के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि बोदों कोई समतावादी नहीं था, तथापि धनसम्बन्धी गहरी विषमताओं को वह राज्य के अन्दर विद्रोह का एक प्रमुख कारण समझता था। बोदों ने यह भी कहा कि शासक को कानून में बहुत जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े परिवर्तन नहीं करने चाहिये क्योंकि कानून में अत्यधिक हेर-फेर करने से क्रान्ति हो सकती है। बोदों के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी करते हुए मैक्सी ने कहा कि वह वास्तव में अनेक आधुनिक विचारकों से कहीं अधिक आधुनिक था।

12.11 राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार

इकाई के अन्तिम पड़ाव पर बोदों के एक अन्य महत्वपूर्ण विचार का उल्लेख करेंगे। वह विषय है: प्रजा को दिये हुए वचन तथा सन्धियों का शासक को कहाँ तक पालन करना चाहिए? इस विषय का महत्व इसलिए है क्योंकि राजनीति तथा नीति के पारस्परिक सम्बन्ध पर इसका प्रभाव पड़ता है।

बोदों का कहना है कि शासक अपनी ली हुई शपथ तथा किये गये वादों से बाध्य नहीं है क्योंकि राजसत्ता को शपथ तथा वचन से परिमित नहीं किया जा सकता। परन्तु संविदा (ब्वदजतंबज) की बात दूसरी है। संविदा दो पक्षों के मध्य एक समझौता है और वह दोनों के लिये बाध्यकारी है। प्राकृतिक कानून का यह एक आदेश है कि संविदा का पालन होना चाहिए। इसलिये शासक को संविदा का पालन करना चाहिए। कानून राजसत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है किन्तु संविदा नहीं। इसी प्रकार वह मैकियावेली की इस धारणा का विरोध करता है कि शासक को दूसरे शासकों के साथ की हुई सन्धियों के पालन करने की आवश्यकता नहीं, यदि वे उसके हितों के विरुद्ध हों। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में शासकों के आचरण को संयत रखने की आवश्यकता को वह स्वीकार करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि मैकियावेली राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करने का आग्रह करता था तो बोदों उन दोनों को मिलाने के लिए उतना ही संकल्पबद्ध था।

12.12 बोदों तथा मैकियावेली आधुनिकता के अग्रदूत-एक तुलना

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मैकियावेली व बोदों दोनों को ही आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु बोदों ने मैकियावेली के अनेक विचारों को विकसित किया, इस कारण वह उससे अधिक आधुनिक माना जाना चाहिए।

मैकियावेली ने मध्य युग की अनेक मान्यताओं और परम्पराओं का खण्डन किया। उसने राजनीति को व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया। आधुनिक युग की अनेक मान्यताएँ व सिद्धान्त आज भी उसकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं जैसे आधुनिक अध्ययन पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को नैतिकता से अलग करना आदि। इसी कारण डनिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि “यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भकर्ता है उसी प्रकार ठीक है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करने वाला है। परन्तु यह भी ठीक ही है कि मैकियावेली के युग में बीज-रूप में जो विचार उत्पन्न हुए उनका विकास बोदों के ही युग में हो पाया। आधुनिकता के सम्बन्ध में दोनों की स्थिति निम्न आधार पर स्पष्ट हो जाती है:-

1. अध्ययन पद्धति- मैकियावेली ने धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया और मध्यकालीन इतिहास के माध्यम से अपने परिणामों को पुष्ट करने का प्रयास किया। मगर उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया बल्कि अपनी धारणाओं को पुष्ट करने के लिए इतिहास से विभिन्न प्रमाण खोजने का प्रयास किया: मैकियावेली द्वारा राज्य के सम्बन्ध में अनेक ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया गया जो शासन के संचालन से ही सम्बन्धित थे, वे राज्य के मौलिक सिद्धान्तों की श्रेणी में नहीं आते। बोदों ने इस स्थिति में सुधार किया। उसने ऐतिहासिक पद्धति को व्यापक रूप में अपनाया। साथ ही साथ उसने विधि-शास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का भी श्री गणेश किया। परिणामस्वरूप उसकी पद्धति अधिक वैज्ञानिक बन गयी।

2. प्रभुसत्ता- मैकियावेली का राज्य तो प्रभुता सम्पन्न है कि वह प्रभुता का स्पष्ट विवेचन नहीं करता। किन्तु बोदों ऐसा प्रथम विचारक था जिसने राज्य का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता की धारणा पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। प्रभुसत्ता की परिभाषा द्वारा उसने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक धारणा प्रदान की। जार्ज केटलीन का मत है कि आधुनिक युग में ‘सम्प्रभुता’ (Sovereignty) का प्रयोग सबसे पहले बोदों ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में किया। प्रभुता-सम्पन्न शासक के बारे में बतलाते हुए उसने प्रभुसत्ता के तत्वों का भी वर्णन किया है। प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा भी बोदों को मैकियावेली से अधिक आधुनिक बना देती है।

3. राज्य- मैकियावेली ने राज्य का कोई दर्शन प्रस्तुत नहीं किया, उसने राज्य के मौलिक तत्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। किन्तु बोदों ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना का एक विकसित चित्र प्रस्तुत किया। इस प्रकार मध्यकाल के सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को राजनैतिक मानचित्र पर लाने का श्रेय बोदों को ही है। इसके साथ ही सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी मौलिक देन है।

4. नागरिकता- मैकियावेली नागरिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त नहीं करता। जबकि इस आधुनिक धारणा पर बोदों अपने स्पष्ट विचार व्यक्त करते हुए कहता है कि नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभु शक्ति के अधीन है। यह धारणा भी बोदों को मैकियावेली की तुलना में अधिक आधुनिक बनाती है।

5. नैतिकता और राजनीति- मैकियावेली ने राजनीति का नैतिकता से पृथक्करण किया। उसने राज्य को धर्म और नैतिकता दोनों से ही ऊपर उठाया। यह भी कहा जा सकता है कि उसने नैतिकता की भावना को तो लगभग त्याग ही दिया। बोदों ने इस क्षेत्र में अधिक तर्क संगत मार्ग अपनाया। उसने भी राजनीति को धर्म से पृथक् किया मगर धर्म और नैतिकता को व्यक्तियों अथवा राज्य के लिए एक विजातीय वस्तु नहीं बनने दिया। उसने राज्य को धर्म का संरक्षक भी बनाये रखा और धार्मिक सहिष्णुता का आधुनिक विचार भी प्रदान किया। इस प्रकार बोदों ने मैकियावेली की अति और त्रुटि में सुधार किया। बोदों ने मध्य मार्ग अपनाया जिसमें उसे यह विश्वास था कि यह सच्चाई है।

6. भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव- प्लेटो और अरस्तु ने राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को स्वीकार तो किया था परन्तु इस पर विस्तार से विचार नहीं किया। परन्तु इस सन्दर्भ में बोदाँ ने विस्तार से प्रकाश डाला। प्रो० डनिंग के अनुसार भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का वर्णन सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक है और इसमें बोदाँ मौलिकता का दावा कर सकता है। मैकियावेली ने इस विषय में वर्णन तक नहीं किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बोदाँ ने मैकियावेली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावेली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था। किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावेली के समान मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त न रख सका जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास दिखायी देता है।

अभ्यास प्रश्न

1. बोदाँ का जन्म किस देश में हुआ था?
 - a. फ्रांस
 - b. ब्रिटेन
 - c. जर्मनी
 - d. भारत
2. बोदाँ अपने विचारों में मध्यकालीन तो नहीं रहा, किन्तु आधुनिक भी नहीं हो पाया। किसका कथन है-
 - a. लास्की
 - b. सेबाइन
 - c. मैकाइवर
 - d. गार्नर
3. निम्न में से कौन सा ग्रन्थ बोदाँ द्वारा लिखित है-
 - a. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक
 - b. यूनिवर्स नेचर थियेड्रम
 - c. हेप्टाप्लोमर्स
 - d. उपरोक्त सभी
4. निम्न में से बोदाँ द्वारा लिखित ग्रन्थ कौन सा है-
 - A. रेसपॉन्स
 - b. डेमीनोमैनी
 - c. उपरोक्त दोनों
 - d. उपरोक्त दोनों नहीं
5. 'संप्रभुता' के सिद्धान्त का जनक कौन है-
 - a. हॉब्स
 - b. मैकियावेली
 - c. बोदाँ
 - d. लॉक

12.13 सारांश

निष्कर्ष: हम कह सकते हैं कि यद्यपि बोदाँ का दर्शन भले ही प्रथम श्रेणी की कोई दार्शनिक संरचना नहीं थी किन्तु उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित किया था। बोदाँ ने मैकियावेली के अधूरे कार्य को पूरा किया। मैकियावेली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और उनके विकास को करते समय उसने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावेली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावेली के समान मध्यकालीन प्रभाव से मुक्त न रख सका, जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास भी दिखाई देता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बोदाँ का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन प्राकृति विधि के सिद्धान्त पर आधारित था।

12.14 शब्दावली

1. सम्प्रभुता- सम्प्रभुता राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यही वह कसौटी है जिसके द्वारा राज्य एवं अन्यान्य समुदायों के बीच भेद प्रकट होता है। सम्प्रभुता का तात्पर्य राज्य की उस

सर्वोच्च शक्ति से है जो आदेश दे सकती है और उनका पालन करा सकती है। सम्प्रभुता के दो पहलू होते हैं- आंतरिक और बाह्य। आंतरिक रूप से राज्य सर्वोच्च होता है और बाह्य रूप से स्वतंत्र। राज्य के अन्दर निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति एवं समुदाय के लिये आवश्यक है कि वह राज्य के आदेशों को शिरोधार्य करें। राज्य अपने से बाहर किसी शक्ति के आश्रित नहीं होता है।

2. नागरिकता- व्यक्ति तथा राज्य के बीच वैधिक सम्बन्ध जिसके आधार पर व्यक्ति की राज्य के प्रति निष्ठा होती है तथा राज्य व्यक्ति की रक्षा करता है। इस सम्बन्ध का निर्धारण राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत होता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त होती है।

3. क्रान्ति- अंग्रेजी का ‘रेवोल्यूशन’ शब्द लैटिन के ‘रेवोलूशियो’ से बना है जिसका अर्थ है सर्वाधिक प्रत्यावर्तन या नवीकरण। राजनीतिक इतिहास के क्षेत्र में ‘रेवोल्यूशन’ शब्द को बल प्रयोग द्वारा राजनीतिक निर्णय की स्थितियों पर अधिकार करने के लिये और समाज की संरचना में आधारभूत परिवर्तन करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। ‘विप्लव’ और ‘विद्रोह’, ‘क्रान्ति’ से मिलते जुलते शब्द हैं जिनका तात्पर्य प्रायः असफल क्रान्ति से है।

12.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. b 3. d 4. c 5. c

12.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच० सेबाइन
2. पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग
3. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू० टी० जोन्स
4. पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा० प्रभुदत्त शर्मा
5. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ०पी० गाबा

12.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति-कोश- डा० सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त
2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर०एम० भगत

12.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. बोदाँ के प्रभुसत्ता सिद्धान्त को विकसित कीजिए और उसका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. बोदाँ का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के प्रति योगदानों का उल्लेख करिए।
3. राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक युग के आविर्भाव की सूचना मैकियावेली नहीं बल्कि बोदाँ देता है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं।

इकाई-13 : ग्रोशियस

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 ग्रोशियस का जीवन-परिचय
- 13.4 ग्रोशियस की रचनाएँ
 - 13.4.1 ग्रोशियस के राजनीतिक विचार
 - 13.4.2 ग्रोशियस के कानून सम्बन्धी विचार
 - 13.4.3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार
 - 13.4.4 प्रभुता सम्बन्धी विचार
 - 13.4.5 राजनीति विज्ञान में ग्रोशियस की भूमिका
 - 13.4.6 ग्रोशियस की देन और उसका महत्त्व
- 13.5 सारांश
- 13.6 शब्दावली
- 13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 13.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.10 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना:

हागो ग्रीशियस एक क्रिश्चियन परिवार से विलांग करने वाला व्यक्ति था 1883 में उसका जन्म हुआ। वह बचपन से प्रतिभाशाली व्यक्ति था। ग्रीशियस ने अपने अनुभव के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण से ही अराजक स्थिति का प्रतिकार किया। ग्रीशियस ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर सभी देशों की नीतियाँ होनी चाहिए।

अरस्तू की भाँति ग्रीशियस ने भी मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना है। उसने प्राकृतिक विवेक को तर्क और बुद्धि का परिणाम माना है। प्रकृति के अनुसार यह देखा जाता है कि नैतिक अक्षमता या नैतिक उच्चता के आधार पर प्रकृति का स्वामी किसी कार्य को स्वीकार या अस्वीकार करता है। ग्रीशियस ने सम्प्रभुता के विषय में कहा है कि मैंने परिस्थित को देखकर यह विचार प्रकट किया कि युद्ध जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। युद्ध पर नियंत्रण तो किया जा सकता है परन्तु पूर्ण रूप से बचा नहीं जा सकता है। ग्रीशियस ने निरंकुश राजा के अधिकार शक्ति का पोषण किया, निरंकुश राजसत्ता को प्रोत्साहित तो किया साथ ही साथ वैध शासन के बारे में भी अपने विचार प्रकट किये। ग्रीशियस का यह भी कहना है कि समाज सामूहिक प्रवृत्ति का परिणाम है, इसी आधार पर उसने सामाजिक समझौते सिद्धान्त का समर्थन किया। मनुष्य इसलिए ईश्वर की आज्ञा से नहीं बल्कि अपनी इच्छा से यह अनुभव किया कि राजनीतिक समाज स्वयं संगठित हुआ है।

13.2 उद्देश्य:

- प्राकृतिक कानून को जान सकेंगे।
- ग्रीशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार जान सकेंगे।
- ग्रीशियस के प्रभुता सम्बन्धी विचार जान सकेंगे।
- ग्रीशियस के कानून तथा प्रभुता सम्बन्धी विचार में क्या तारतम्यता है जान सकेंगे।

13.2 ग्रोशियस का जीवन परिचय (1583-1645)

ग्रोशियस का जन्म 1583 ई0 में हालैण्ड में डेफ्ट नामक नगर में वान गुट परिवार में हुआ। ग्रोशियस के बचपन का नाम हुइग्वान गुट था। यह ग्रोशियस का क्रिश्चियन नाम था। ग्रोशियस बचपन से ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था। ग्रोशियस बचपन के 8 वर्ष में ही लैटिन भाषा में पद्य की रचना करके लोगों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया। ग्रोशियस 11 वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास कर लिया। ग्रोशियस 16 वर्ष की अवस्था में डॉक्टर आफ लॉ की उपाधि प्राप्त की। 21 वर्ष की अवस्था में एल0एल0डी की उपाधि प्राप्त की। ग्रोशियस अपने आप में बहुत विद्वान व्यक्ति था।

ग्रोशियस ने कालत का पेशा अपनाया। कुछ समय पश्चात राटरडम का अंगरक्षक नियुक्त किया गया। परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं और वह दो सम्प्रदायों के मध्य फँस गया और ग्रोशियस पर राजद्रोह का आरोप लगाकर आजीवन कारावास की सजा दे दी गई। ग्रोशियस अपनी धर्मपत्नी के वीरता और चतुराई के कारण जेल से भाग निकला। जेल से निकलने के बाद अपने महान ग्रन्थ -----की रचना की।

ग्रोशियस पर परिस्थितियों का प्रभाव:

ग्रोशियस की रचनाओं और उसके राजनीतिक विचार पर वहाँ की तात्कालिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। 1590 ई0 मेरियाना ने अपने ग्रन्थ कम त्महममज त्महपे प्देजपजनजपवदम की रचना करके समाज में हाहाकार मचा दिया। उसने लिखा की प्रभुसत्ता जनता में निहित है, और जनता निरकुंश शासक की हत्या तक कर सकता है। उस समय की निरकुंश गन पाउडर षडयंत्र तथा चतुर्थ हेनरी की हत्या तथा जनसाधारण का व्यवहार इन सबका ग्रोशियस पर बुरा प्रभाव पड़ा। उसने देखा की समस्त वातावरण में चारो तरफ अशान्ति और अराजकता का वातावरण था। प्रत्येक राजा अपनी सीमाओं के विस्तार के लिए छल, बल, द्वेष, कपट आदि तरीके अपनाते थे। युद्धों के बर्बरता की कोई चाह नहीं थी। इसलिए ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा मानववादी दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जिसकी वजह से उसे प्रतिभाशाली विद्वान भी माना जाता है। ग्रोशियस पर तत्कालीन युद्धों और अराजक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ा। उसने देखा कि समस्त यूरोप में अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई है प्रत्येक राज्य अपनी सीमाओं का विस्तार करने अपने व्यापार को बढ़ाने एवं अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए छल, बल के तरीकों का प्रयोग करने को तैयार था। शासक लोग सन्धियाँ करते और तोड़ देते थे। युद्धों में बर्बरता की थाह न थी। ग्रोशियस के जीवनकाल में फ्रांस में गृह युद्ध हुये। हालैण्ड में धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हुये जिनमें से एक के परिणामस्वरूप उसका सुखी जीवन बर्बाद हो गया तथा जर्मनी में 30 वर्षीय युद्ध (1618-1648) चला। ग्रोशियस के चारो ओर एक युद्ध शिविर लगा हुआ था जिसमें सर्वाधिक कठिनाई तटस्थ एवं छोटे राज्यों की थी जो स्वयं को बड़े राष्ट्रों के आक्रमण से बचाने में असमर्थता अनुभव करते थे।

13.3 ग्रोशियस की रचनाएँ

ग्रोशियस की विलक्षण प्रतिभा ने उसके जिन ग्रन्थों को जन्म दिया वे मुख्यतः कानून से प्रभावित थे जो इस प्रकार है।

- 1- De Jure Praeidea (1604)
- 2- Mare Liberum (1609)
- 3- De Jere Belliac Pacis (1625)

प्रथम पुस्तक में ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का विवेचन किया है परन्तु इसमें वर्णित सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या और प्रकृति एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पूर्ण विवेचन उसने अपने ग्रन्थ 'डी जुरे बेलीएक पेसीस' में किया। जिसके आधार पर ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र के संस्थापक का सम्मान प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थ 'मेयर लायबेरम' में उसने व्यापारिक एवं सामुद्रिक स्वतंत्रता का समर्थन किया।

ग्रोशियस ने राजनीतिक सिद्धान्त के तीन अंग स्थापित किए हैं।

- 1- Jus Naturalae of Natural Laws
- 2- Jus Gentium or International Law
- 3- Sovereignty

13.3.1 ग्रोशियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार:

प्राकृतिक कानून समारात्मक कानून से भिन्न है। प्राकृतिक कानून अपनी नैतिक प्रमाणिकता के लिए ऐसी किसी सत्ता पर निर्भर नहीं है। प्राकृतिक कानून सकारात्मक कानून को परखने की कसौटी प्रस्तुत करता है। ग्रोशियस ने कहा कि मनुष्य के तर्क और बुद्धि का परिणाम है कि कानून का प्रादुर्भाव हुआ समाज में सत्ता को बनाये रखने के लिए कानून का होना परम आवश्यक है। ग्रोशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था। इसलिए उसने प्राकृतिक कानून का समर्थन किया। ग्रोशियस ने कहा कि प्राकृतिक कानून विवेक की अभिव्यञ्जना है। कई ऐसे राजनीतिक विचारक थे जो प्राकृतिक कानून को ईश्वरीय कानून मानते थे। प्राकृतिक विधि विवेकयुक्त स्वभाव से जुड़ा हुआ है। नैतिकता उच्चता और नैतिकता निम्नता इसी आधार पर प्रकृति का स्वामी स्वीकार किया जाता है। ग्रोशियस ने अपने विचार ग्रन्थ में लिखा है कि अगर ईश्वर न होता तो तब भी प्राकृतिक विधि का वही असर होता क्योंकि प्रकृति शाश्वत है और वह परिवर्तनशील है। लेकिन बिना प्रकृति के व्यक्ति सामाजिक प्राणी के रूप में जीवन नहीं जी सकता है। ग्रोशियस ने कहा है कि ईश्वरीय नियम से किसी भी दशा में प्राकृतिक नियम हीन नहीं होती है।

ग्रोशियस के शब्दों में "जिस प्रकार यह ईश्वर नहीं कह सकता है कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर यह नहीं कह सकता है कि जो चीज गलत है उसे गलत न कहे।"

ग्रोशियस ने कहा है कि प्राकृतिक विधियों में ईश्वर परिवर्तन नहीं कर सकता है। क्योंकि प्राकृतिक विधियाँ अपरिवर्तनशील होती हैं। ग्रोशियस ने कहा कि जब कई राज्यों के सकारात्मक कानून आपस में टकराते हैं तो तब प्राकृतिक कानून का शरण लेकर उचित अनुचित का निर्णय किया जा सकता है। वास्तव में ग्रोशियस द्वारा स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक संबंधों को विनियमित करने के लिए प्राकृतिक कानून को जो एक नवीन एवं धर्मनिरपेक्ष मापदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है उसका बड़ा महत्व है। ग्रोशियस के समय की अराजकतापूर्ण स्थिति का

अन्त करने के लिए प्राकृतिक कानून की इस धारणा ने इसमें महान योगदान दिया। प्राकृतिक विधि ने ही आगे चलकर राज्यों की सकारात्मक विधि को जन्म दिया।

ग्रोशियस ने कहा की प्राकृतिक कानून विश्वव्यापी है। ग्रोशियस ने प्राकृतिक नियमों को समझने के लिए तीन नियम बताये है।

- 1-प्राकृतिक नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा दूसरो को विदित होते है।
- 2-बड़े-बड़े विद्वानों के मस्तिष्कों के विचार सामान्य समझौते के द्वारा लोगो के समक्ष आते है।
- 3-श्रेष्ठ पुरुषों के कार्य प्रकृति के नियमों का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकरण कर सकते है।

विधियों का वर्गीकरण:

ग्रोशियस ने दो प्रकार के प्राकृतिक कानून का जिक्र किया है।

- (क)राजनीतिक समाज से पूर्व प्रकृति की आदिम दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून एवं
 - (ख)समाज के निर्माण के बाद एवं राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक कानून
- कानून दो प्रकार के होते है-

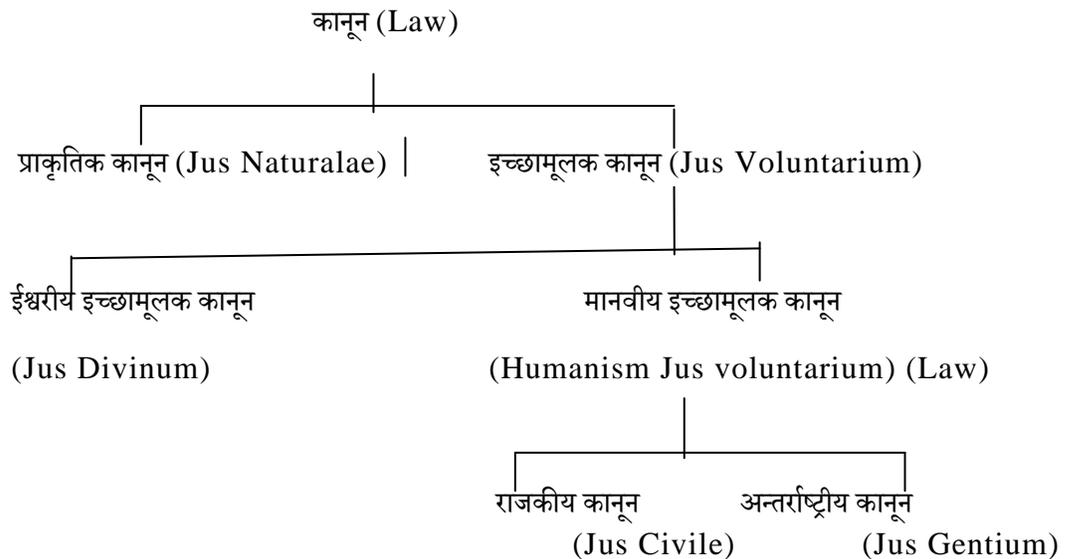
1-प्राकृतिक कानून

2-इच्छा मूलक कानून

प्राकृतिक कानून:- प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित है।

ईच्छामूलक कानून:- ईच्छा पर आधारित होता है।

ग्रोशियस के अनुसार कानून का वर्गीकरण:



13.3.2 ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार:

ग्रोशियस ने अपनी प्रमुख पुस्तक "The Law of War and Peace" में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्णन किया। एक देश से दूसरे देश से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए जिस तरह नियम कानून और व्यवहार किया जाता है। उसका जिक्र किया गया है। एक सम्य राष्ट्र के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाता है। और उसका प्रमुख उद्देश्य मानव की मूल इच्छा है।

डनिंग ने लिखा है कि, "समस्त राष्ट्रों के व्यवहार ने इस बात को स्वीकार किया है कि समस्त राष्ट्रों के व्यवहार में इस बात को स्वीकार किया कि यह बात माना जाय जो सत्य साक्ष्य के द्वारा प्रमाणित हो तथा इस सामग्री में उन बातों को सम्मिलित किया जाए जो निरन्तर प्रयोग तथा विद्वानों के द्वारा प्रमाणित किए गये हो। ऐसा उद्देश्य हो जो समस्त राष्ट्रों के कल्याण के लिए हो।

ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इच्छा मूलक कानून माना है। ग्रोशियस का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने का ध्येय मेरा यह है कि यूरोप के तत्कालीन नवोदित राज्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निरूपण करना था। जो धार्मिक अधिकार क्षेत्र पर आश्रित न हो तथा बल्कि न्याय निर्णय पर तथा सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो तथा उन्हीं पर आधारित हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में निरन्तर चली आने वाली प्रमाणित प्रथाओं से नियम और कानून पुष्ट हो, विद्वानों के साक्ष्य से प्रमाणित होने वाले नियम बनाये जाए जो सभी समाज तथा सभी राष्ट्र के लिए कल्याण कामना के भाव होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहना चाहिए। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण सामाजिक आधार और सामाजिक जीवन को ध्यान में रखकर बनाना चाहिए। जिससे एक देश का दूसरे देश से व्यवहारों का सुचारु रूप से नियमन किया जा सके। प्राकृतिक कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आधारशिला है। मानव समाज तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक दूसरे के आधार है। प्राकृतिक कानून का उल्लंघन तो नहीं किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया जा सकता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन पर राष्ट्र को भारी नुकसान होता है। और उस राष्ट्र की छवि विश्व पटल पर खराब हो जाती है। और अन्तर्राष्ट्रीय तिथि का उल्लंघन करने वाला राष्ट्र कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रों का विश्वास खो बैठेगा। मनुष्य के अधिकारों की रक्षा के लिए मानवीय आधार पर किसी कुख्यात राष्ट्र का हस्तक्षेप करना परमआवश्यक है।

ग्रोशियस ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार में यह भी बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के सम्बन्ध में न्याय, युद्ध के लक्षण कारण एवं युद्ध संचालन के तथा जन-धन पर युद्ध के प्रभाव प्रसार के अधिकार उन्नत जातियों तथा अन्य जातियों के साथ सम्बन्ध पर दासत्व पर विचार प्रकट किया गया। ग्रोशियस ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए श्रने छनदजपमउ शब्द प्रयोग किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग उन नियमों और कानूनों के लिए किया जाता है। जो रोमन लोगों और विदेशियों पर भी सरल तरीके से लागू किए जाते हैं। ग्रोशियस ने जेन्टियम का अर्थ रीतियों और परम्पराओं से लिया जाता है। 16वीं शताब्दी में सुआरेज और जेन्टाइल जैसे लेखकों के प्रभाव में इस शब्द का प्रभाव और रीति रिवाज और परम्पराओं से लिया जाने लगा है। जिससे सभी देशों के प्रति आचरण का विनिमय किया जाता है। ग्रोशियस ने जबसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जिक्र किया तब से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में चार चाँद लग गया।

मैक्सी के शब्दों में, "ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक कहा जाने लगा।"

13.3.3 ग्रोशियस के प्रभुता सम्बन्धी विचार:

ग्रोशियस को प्रारम्भ में सम्प्रभुता से कोई लगाव नहीं था। लेकिन ग्रोशियस के समय हालैण्ड की स्थिति अच्छी नहीं थी। ग्रोशियस उस बुरी स्थिति से प्रभावित होकर इस विषय पर अपने विचार दिये। क्योंकि उस समय हालैण्ड में युद्ध जैसी स्थिति थी। ग्रोशियस ने कहा है कि युद्ध जीवन के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। जिस पर नियंत्रण लगाया जाता है। किन्तु उसमें सदैव बचा नहीं जा सकता है। युद्ध को किसी भी तरह से प्राकृतिक कानून के आधार पर उचित एवं न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य जीवन की रक्षा करना होता है। ग्रोशियस ने कहा कि युद्ध में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक कानून के साथ-साथ प्रभुता सम्बन्धी विचारों का मेल भी स्पष्ट होता है। क्योंकि प्रकृति ने सभी प्राणी को आत्मरक्षा एवं स्वयं सहायता के लिए आत्मरक्षा की पर्याप्त शक्ति प्रदान की। सदविवेक और समाज का स्वभाव शक्ति के समस्त प्रयोग का निषेध नहीं करते हैं। बल्कि शक्ति प्रयोग से इन्कार भी करते हैं। जो समाज के प्रतिकूल है।

ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को राज्य का शासन करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति बतलाया। उसने कहा कि- ‘‘प्रभुत्व शक्ति उसमें ही निहित है जिसके कार्यों पर न तो किसी दूसरी सत्ता का नियंत्रण है और न ही जिसकी इच्छा का कोई और ही विरोध कर सके। राज्य में शासन करने की यह नैतिक क्षमता है।’’

ग्रोशियस जनता की प्रभुता का घोर विरोधी है। जनता एक बार स्वेच्छा से अपनी शासन प्रणाली चुनने की अधिकारिणी है पर बाद में शासक पर उनका कोई नियंत्रण नहीं रहता तब जनता पूर्णरूप से अपने प्रभु के अधीन हो जाती है और प्रभुता को प्रभु से वापस नहीं लिया जा सकता, फिर जनता शासन सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती। ग्रोशियस प्रभुसत्ता और जनता के हितों के बीच कोई पारस्परिक संबंध में नहीं मानता। प्रभु की इच्छा सर्वोच्च है। यदि प्रभु अपनी प्रजा को राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित भी कर देता है तो भी उसके विरुद्ध कोई विद्रोह अनुचित है। शासक को प्रभुसत्ता हस्तान्तरित करने के बाद प्रजा स्थायी रूप से उसकी वशीभूत हो जाती है। राजा के लिए आवश्यक नहीं है कि वह प्रजाहित की दृष्टि से ही शासन करें। उसे प्रजा पर वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसा कि व्यक्ति का अपनी निजी सम्पत्ति पर होता है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त से स्पष्ट ही राजा का निरंकुश अधिकार शक्ति का पोषण होता है। उसका मन्तव्य यही है कि प्रजा को राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है उसे राजा के अत्याचारों को मौन होकर सह लेना चाहिए। यदि राजा के आदेश ईश्वरीय अथवा प्राकृतिक नियमों को भंग करने वालों हो तो प्रजा को इन आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए, पर साथ ही विद्रोह भी नहीं करना चाहिए। इस स्थिति में प्रजा का कर्तव्य यही है कि वह आज्ञा भंग के दुष्परिणामों को चुपचाप सह ले। ग्रोशियस राजा को मानवीय इच्छाओं एवं राजकीय कानूनों से सर्वदा स्वतंत्र एवं मुक्त मानता है व राजा पर प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ ही स्वीकार करता है उसके अनुसार इस कानून की व्यवस्था का पालन होना चाहिए।

इस बात का निर्णय कैसे हो कि शक्ति समाज के अनुकूल है कि नहीं। राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार किसे दिया जाए। ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित किया। ग्रोशियस ने यह भी कहा कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तभी न्यायोचित और विधिसम्मत होगा। जब उसका निर्णय करने वाला व्यक्ति और निकाय स्वयं प्रभुता से सम्पन्न हो। वह स्वयं युद्ध के नियमों का पालन और दायित्व को संभाल ले। प्रभुसत्ता केवल राष्ट्र राज्य की विशेषता नहीं है। ग्रोशियस के अनुसार राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राज्य की प्रभुसत्ता को अपनी स्वतन्त्र इच्छा और तर्कबुद्धि पर आधारित मानते हुए स्वीकार करता है। उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में केवल प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक तर्कबुद्धि पर आधारित होना चाहिए।

13.3.4 राजनीति विज्ञान में ग्रीशियस की भूमिका:

राजनीति विज्ञान में ग्रीशियस ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, ग्रीशियस ने अपने रचनाओं के माध्यम से मनुष्य के विवेकशील प्रकृति के विस्तृत निरूपण का प्रयत्न किया। ग्रीशियस ने अपनी रचनाओं के माध्यम से विचार परम्परा नैतिक दर्शन को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचाया। ग्रीशियस ने प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा प्रभुसत्ता जैसे कानून को प्राकृतिक कानून तर्क बुद्धि पर जोड़ दिया। इसलिए कुछ विद्वान ग्रीशियस को प्राकृतिक कानून का अग्रदूत कहा। ग्रीशियस ने न्यायोचितता के आधार पर ही सम्पत्ति के अधिकार को भी समाहित किया।

ग्रीशियस की पुस्तक "Law of war and Peace" पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था। वह उसे सुधार युग तथा पुनर्जागरण से संसार के अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। ग्रीशियस का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त हाब्स के अग्रगामी सिद्ध हुआ। जिनके आधार पर लेवियाथन का ढाँचा निर्मित हुआ। ग्रीशियस ऐसा पहला राजनीतिक विचारक था। जिसने राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली।

13.3.6 ग्रीशियस की देन और उसका महत्त्व:

ग्रीशियस की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिपादन करके राज्यों को एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्तव्यों एवं सम्बन्धों पर समुचित प्रभाव डालना है। इसीलिए उसे 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है परन्तु इस क्षेत्र में उसकी मौलिक देन नहीं है। उसका ग्रन्थ 'लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था और वह उसे पुनर्जागरण एवं सुधार युग से संसार की अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। वास्तव में ग्रीशियस का महत्त्व इस बात में है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नवीन व्यवस्था प्रदान की। वह इस क्षेत्र में स्पष्टता और निश्चितता लाया। डनिंग के अनुसार, "राजनीति विज्ञान को ग्रीशियस की महानतम निश्चित देन यह है कि उसने अधिकारों और कर्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जिसे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था।" ग्रीशियस के सम्प्रभुता संबंधी विचार हाब्स के अग्रगामी सिद्ध हुये। जिनके आधार पर उसने लेवियाथन का ढाँचा निर्मित किया। ग्रीशियस ने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली।

१. अभ्यास प्रश्न ग्रीशियस की पुस्तक का क्या नाम है?

- (i) Mare Liberum (ii) Sourity (iii) Devirty (iv) Majority of Life

2- ग्रीशियस की प्रसिद्ध पुस्तक का क्या नाम है?

- (i) Tolration of Kind (ii) Sourd of Nation
(iii) The Law of war and peace (iv) Jus Juntium

3- ग्रीशियस ने कानून को कितने भागों में विभाजित किया?

- (i) 4 (ii) 2
(iii) 1 (iv) 6

- 4- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए ग्रीशियस ने किस शब्द का प्रयोग किया?
- (i) Jus Jentium (ii) Law Juntim
- (iii) Jus Civile (iv) Pure Juntium
- 5- ग्रीशियस राज्य के उत्पत्ति में किस विचार की नींव डाली?
- i. दैवीय सिद्धान्त ii. ऐतिहासिक सिद्धान्त
- iii. विकासात्मक iv. सामाजिक अनुबन्ध

13.4 सारांश:

अरस्तू की भांति ग्रीशियस ने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना और समाज की सत्ता बनाये रखने के लिए अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। साथ ही उसने मानव को तर्कशील बुद्धिमान प्राणी मानते हुये मानव समाज को मानव बुद्धि की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति बतलाया तथा यह तर्क पेश किया कि जब समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है तो संभवतः कानून भी बुद्धि से ही प्रतिभूत होते हैं। जहाँ भी सामाजिक जीवन है वहाँ बुद्धि पर आधारित कानून का होना स्वाभाविक है क्योंकि ग्रीशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था अतः उसने अपने चिन्तन में प्राकृतिक कानूनों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया।

ग्रीशियस का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिपादन में है। इसीलिए ग्रीशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक माना जाता है। ग्रीशियस की पुस्तक Law of war and Peace में उसने बुद्धि का सार पीढ़ियों से जुड़ा हुआ है। इसलिए वह सुधार के युग में संसार के अभूतपूर्व पहलुओं से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक की ग्रीशियस ने राजा को कानूनों तथा नियमों से मुक्त माना है। वही दूसरी तरफ उसने यह भी कहा कि राजा प्राकृतिक कानून ईश्वरीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ भी है। ग्रीशियस के नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण से जुड़ा हुआ है। विद्वानों के मस्तिष्क के विचार सामान्य समझौता लोगों के समक्ष है। तथा नियमों के व्यक्तिकरण को किया जा सकता है। मानव अधिकारों के रक्षा के लिए मानवीय आधार पर राज्यों का हस्तक्षेप परम आवश्यक है। वही पर ग्रीशियस ने प्राकृतिक विधि को अपरिवर्तनशील बताया। उसने यह भी कहा है कि भगवान कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, प्राकृतिक नियम से ईश्वरीय नियम को कमतर आका जाता है। प्राकृतिक नियम तथा ईश्वरीय नियमों से अधिक विवेक सम्मत है। इस विचार को ग्रीशियस ने सर टामस एक्वीनास से ग्रहण किया है।

13.5 शब्दावली:

विधि-	कानून
इच्छामूलक-	इच्छा पर आधारित
कामाना-	इच्छा
पृथक-	अलग

13.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. i , 2. iii , 3. i , 4. ii , 5. iv.

13.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- डॉ० गणेश प्रसाद, पश्चात राजनीतिक विचारक, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद
- 2- प्रो० ए०वी० लाल, पश्चात राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो जयपुर, 2014
- 3- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- डॉ० प्रभुदत्त शर्मा
- 4- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- ओ०पी० गावा
- 5- पाश्चात्य राजनीतिक विचार- सुषमा गर्ग

13.8 सहायक सामग्री:

- 1 पाश्चात्य राजनीतिक विचार- प्रो०ए०वी० लाल
- 2 पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन- ओ०पी० गावा
- 3 मध्यकालीन विचारक- रघुवीर सिंह

13.9 निबन्धात्मक प्रश्न:

- 1- ग्रीस के प्रभुता सम्बन्धी विचार की विवेचना कीजिए।
- 2- ग्रीस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक क्यों कहा जाता है?
- 3- ग्रीस के मानवीय दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
- 4- ग्रीस ने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की विवेचना किस प्रकार किया है।

इकाई 14 :टॉमस हॉब्स

इकाई की संरचना

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 उद्देश्य
- 14.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ
- 14.4 मानव स्वभाव
- 14.5 प्राकृतिक अवस्था
- 14.6 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम
- 14.7 आत्मरक्षा की प्रकृति
- 14.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति
- 14.9 प्रभुसत्ता
- 14.10 नागरिक कानून
- 14.11 राज्य और चर्च
- 14.12 व्यक्तिवाद
- 14.13 आलोचना
- 14.14 सारांश
- 14.15 शब्दावली
- 14.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 14.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.19 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई के पूर्व की इकाई १० में हमने बोदा के राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया है जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि बोदा का दर्शन भले ही प्रथम श्रेणी की कोई दार्शनिक संरचना नहीं थी किन्तु उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित किया था। बोदा ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया। मैकियावली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और उनके विकास को करते समय उसने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदा मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था किन्तु यह भी ठीक है कि बोदा अपने आपको मैकियावली के समान मध्यकालीन प्रभाव से मुक्त न रख सका, जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास भी दिखाई देता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बोदा का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन प्राकृति विधि के सिद्धान्त पर आधारित था।

अब हम इस इकाई ११ में हाब्स की राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमें हम यह देखेंगे कि किस प्रकार से हाब्स ने राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत दिया है जिसमें उसने राज्य को एक साधन के रूप में स्थापित किया और उसे उपयोगिता के स्तर पर ले गया।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम -

1. हाब्स की राजनीतिक विचारों के बारे में जान सकेंगे।
2. राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत के बारे में जान सकेंगे।
3. व्यक्तिवादी विचार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे।
4. हाब्स के प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक अधिकार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे।

14.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ

हाब्स का नाम राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी विचारकों में प्रमुखता से लिया जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन सर्वप्रथम सोफिस्ट विचारकों ने किया था। हाब्स का जन्म 5 अप्रैल सन् 1588 को इंग्लैण्ड के माजम्बरी नगर में हुआ था। इंग्लैण्ड की ग्रहयुद्ध जनित स्थिति से डरकर वह फ्रान्स चला गया। यही पर उसने 'लेवियाथन' की रचना की। हाब्स के विचारों को स्वागत इंग्लैण्ड में 1650 में पुनः राजतन्त्र की स्थापना के बाद किया जाने लगा। क्योंकि हाब्स अपनी लेखनी में अराजक स्थिति से निबटने के लिए राजतंत्र का समर्थन करता है। 1679 में उसका निधन हो गया। हाब्स के द्वारा निम्नलिखित पुस्तकों की रचना गई है ----

Decive – 1642, De- corpora – 1642, Leviathan – 1651, Elements of Law – 1650,

14.4. मानव स्वभाव

- राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिवादन के क्रम में हाब्स सर्वप्रथम मानव स्वभाव का चित्रण करता है। चूँकि गृहयुद्ध जनित और अराजक स्थिति को देखकर हाब्स ने मानव स्वभाव के बुरे पक्ष का ही एहसास किया। इसलिए उसने मनुष्य को स्वभाव से असामाजिक प्राणी माना है। हाब्स मानता है मनुष्य अपनी दृष्टि और उसकी जरूरतों के अनुसार वस्तुओं को अच्छा या बुरा कहता है। मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार स्वार्थ से प्रेरित होता है उसी से वह संचालित होता है। हाब्स के अनुसार प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों और बुद्धि में समान बनाया है। इसलिए किसी एक वस्तु की मांग कोई एक करता है तो उसी प्रकार के अन्य भी करते हैं। चूँकि वस्तुओं की संख्या सीमित है संघर्ष प्रारम्भ होता है। परिणामस्वरूप कभी न रूकने वाला संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इन झगड़ों के पीछे हाब्स तीन प्रमुख कारण मानता है-

1- प्रतिस्पर्द्धा 2- पारस्परिक अविश्वास 3- वेभव

हाब्स के अनुसार चूँकि मनुष्य स्वार्थी है। इसलिए पारस्परिक संबंधों के सहयोग को कोई स्थान नहीं है। यदि है तो वह उसी सीमा तक जहाँ तक वह स्वार्थ सिद्धि सहायक है।

14.5 प्राकृतिक अवस्था

मानव स्वभाव के चित्रण के उपरान्त हाब्स प्राकृतिक अवस्था की विवेचना करता है और वह कहता है कि प्राकृतिक अवस्था पूर्व सामाजिक अवस्था है। जिसमें जीवन में सहयोग न होकर हिंसा प्रधान है। यह अवस्था जिसकी लाठी उसकी भैंस की है जिसमें अपने हितों की सिद्धि के लिए बल प्रयोग में विश्वास करते हैं। इस प्रकार से यह अवस्था प्रत्येक का प्रत्येक के विरुद्ध युद्ध की अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में सभी के पास अपनी रक्षा के लिए अपनी चालाकि और शक्ति है। जो कि सभी में समान है। इसलिए इस अवस्था में संघर्ष भयावह होता है। जहाँ किसी की कोई सम्पत्ति नहीं होती, न ही इस असुरक्षित वातावरण में कोई उद्योग धन्धे संभव हैं। इस प्रकार हाब्स की प्राकृतिक अवस्था की तीन प्रमुख विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं -

1- नैतिकता का अभाव

2- न्याय, अन्याय की धारणा का अभाव

3- अनवरत संघर्ष की अवस्था होने के कारण सम्पत्ति का अभाव।

यहाँ एक तथ्य यह स्पष्ट करना नितांत आवश्यक है कि हॉब्स इस प्रकार के किसी प्राकृतिक अवस्था के ऐतिहासिक का दावा नहीं करता है। उसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि राजशक्ति के अभाव में लोगों के जीवन में इसी प्रकार की असुरक्षा और समाज में संघर्ष की स्थिति बनी रह सकती है इसलिए ऐसा अराजक और हिंसक स्थिति (जो कि ग्रहयुद्ध जनित वातावरण में दिखाई देता है) के निरक्षण के लिए एवं शक्तिशाली राजसत्ता का होना आवश्यक है।

14.6 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

हॉब्स अपने समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिदान के क्रम में जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करता है उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ भी प्राप्त करने का समान प्राकृतिक अधिकार देता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक के विरुद्ध प्रत्येक के मूह का कारण प्राकृतिक अधिकार ही होता है। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति सुरक्षित जीवन जीने की लालसा रखते हुए, बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते हैं। इन प्राकृतिक नियमों को हॉब्स शान्ति की धाराएं कहता है। हॉब्स ने प्राकृतिक नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है- “यह वह नियम है जो विवके द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य प्रतिबंधित हैं जो उसके जीवन के लिए विनाशप्रद हैं और जिनके द्वारा उनको उन कार्यों को करने से कोई प्रतिबंध नहीं है, जो जीवन की रक्षा में सहयोग देते हैं।” इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था में अनवरत संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं तो, प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अवस्था के इस संघर्ष और अराजकता की स्थिति से उनकी रक्षा करते हैं। हॉब्स ने कुल 19 प्राकृतिक नियमों का उल्लेख किया है। जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

14.7 आत्मरक्षा की प्रकृति

चूँकि हॉब्स अपने राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करता है। और वह प्राकृतिक अवस्था ऐसी है जिसमें प्रत्येक के विरुद्ध युद्ध जैसी है। ऐसी स्थिति में हॉब्स के सामने सर्वप्रमुख प्रश्न आत्मरक्षा का है। जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि हॉब्स ऐसी किसी प्राकृतिक अवस्था का ऐतिहासिक दावा तो नहीं करता है परन्तु यह स्पष्ट है कि उसके ऐसा कहने का तात्पर्य यह कि गृहयुद्ध जनित अवस्था या राज्यहीन व्यवस्था होने पर आत्मरक्षा का सवाल सर्वप्रमुख प्रश्न के रूप में सामने आता है। इसीलिए हॉब्स ने आत्मरक्षा के सवाल पर विस्तार चर्चा की है। इसी क्रम में हॉब्स कहता है कि मनुष्य की मूलप्रकृति उसकी सुरक्षा की इच्छा है जिसके लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। तथा जो तथ्य इसमें सहायक होता है उसे वह अच्छा और जो सहायक नहीं होता है उसे बुरा कहता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि मनुष्य अनवरत सुरक्षा की जरूरत महसूस करता है। इसी लिए वह अन्य सभी उपलब्धियाँ अर्जित करना चाहता है जिससे वह अपने सुरक्षा संबंधी चिन्ताओं का निराकरण कर सके। इसलिए किसी मनुष्य के लिए अन्य मनुष्यों का वहीं तक महत्व है जहाँ तक वह उसकी सुरक्षा संबंधी विषयों को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

हॉब्स मानव स्वभाव के दो पक्षों अभिलाषा और विवके की विस्तार से चर्चा करता है और कहता है कि अभिलाषा के कारण कोई मनुष्य सभी वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है, जिसकी चाहत अन्य लोग रखते हैं। चूँकि सभी शक्ति और बुद्धिमत्ता में समान है। इसलिए संघर्ष शुरू हो जाता है। जबकि विवेक के कारण मनुष्य आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को महत्व देता है, जिससे वह शान्ति स्थापना पर बचन देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ संकीर्ण अभिलाषा संघर्ष को बढ़ाती है वही विवेकपूर्ण स्वार्थ शान्ति स्थापना के लिए आधार तैयार करने का कार्य करता है।

हॉब्स कहता है कि चूँकि समाज में लोग विवेक के नियमों के अनुसार कार्य नहीं करते हैं वरन् वे क्षणिक उद्वेगों से प्रेरित होकर आचरण करते हैं इसलिए मनुष्य अपने उद्वेगों को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं होता है। इसलिए हॉब्स कहता है कि एक ऐसी सर्वशक्तिशाली, प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता की आवश्यकता है जो मनुष्य को विवेक के अनुरूप आचरण करने के लिए विवश कर सकें परन्तु ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि शासन प्रभवशाली हो, क्योंकि प्रभावशाली शक्ति सम्पन्न शासन पर ही सुरक्षा निर्भर करती है।

14.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति

हॉब्स मानता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी और संघर्षशील है। वह स्वभाव से शांतिपूर्ण रहने वाला नहीं है। इसलिए एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो उसे विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कर सके तथा उल्लंघन पर दण्ड भी दे सके। हॉब्स मानता है कि ऐसी सत्ता केवल राज्य में ही संभव है जो सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है और सभी को विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कर सकती है। तथा इसका उल्लंघन करने वाले को दण्डित भी कर सकती है। अन्ततः हॉब्स यह कहता है कि यह राज्य अपने अस्तित्व में सामाजिक समझौते के फलस्वरूप आता है।

यह समझौता सभी व्यक्तियों के बीच इस प्रकार से होता है कि जैसे हर एक व्यक्ति ने हर एक व्यक्ति से कहा हो कि ‘‘मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के समूह को अपना शासन, स्वयं कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार को किसी तरह (इस विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह) समर्पित कर दो।

इस प्रकार सम्पूर्ण समुदाय एक व्यक्ति या समूह में संयुक्त हो जाता है सत्ता प्रयोग के संदर्भ में, इसे हाब्स राज्य (commonwealth) या लैटिन में सिविटस (Civitas) कहते हैं। हाब्स के अनुसार यही वह लेवियावन या महान देवता है जो हमें शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार के समझौते से उत्पन्न सम्राट या प्रभुसत्ता (सर्वोच्चसत्ता) समझौते में कोई वचन नहीं देती है जिसका परिणाम यह होता है कि शासन व्यवस्था खराब होने के बाद भी जनमानस को शासन के विरुद्ध बोलने या विद्रोह का अधिकार नहीं होता है। क्योंकि यही शासन है जो शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता है। जिसके विरुद्ध जाने का मतलब है प्राकृतिक अशान्त व्यवस्था में जाना।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:-

- 1- हॉब्स का यह समझौता सिद्धान्त सामाजिक और राजनीतिक दोनों है यह सामाजिक इसलिए है कि सभी लोग अपने व्यक्तिगत मनोवृत्त को त्यागकर एक साथ सामाजिक बन्धन को स्वीकार करते हैं जबकि राजनीतिक इसलिए है कि इसके फलस्वरूप सर्वशक्तिमान राजसत्ता की उत्पत्ति होती है।
- 2- इस समझौते में सम्प्रभु शामिल नहीं है। इसलिए यह सरकारी समझौता नहीं है क्योंकि यह समझौता तो व्यक्तियों के मध्य होता है।

3- सम्प्रभु की सत्ता असीमित है अभर्यादित है क्योंकि वह समझौते अंग नहीं है वरन समझौते का परिणाम है वह किसी प्रकार की शर्तों से बधा नहीं है इसलिए वह निरंकुश भी है।

4- एक बार समझौता हो जाने पर उससे अलग होने का अधिकार किसी को नहीं है। इस समझौते के बाद किसी भी व्यक्ति के कोई अधिकार व स्वतंत्रता नहीं होती है क्योंकि समझौते के समय सभी ने अपने अधिकार और स्वतंत्रता का त्याग किया है। इसलिए उन्हें निरंकुश सत्ता के विरुद्ध किसी प्रकार के दावे को रखने का कोई अधिकार नहीं है।

5- सम्प्रभुता विभाजित नहीं है। क्योंकि यह समझौते का परिणाम है वह सम्प्रभु चाहे एक व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह।

7- चूँकि सम्प्रभुता अभर्यादित, अविभाज्य है। इसीलिए वह विधियों का स्रोत भी है। उसका आदेश ही कानून है। किसी भी विशेष पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार सम्प्रभुसत्ता को ही है। युद्ध की घोषणा और सन्धि करने का अधिकार केवल इसी को है।

यद्यपि हॉब्स ने सम्प्रभुसत्ता को अमर्यादित और निरंकुश सत्ता सम्पन्न बताया। जिसके विरुद्ध जाने का अधिकार जनमानस को नहीं है परन्तु कुछ स्थितियों में हॉब्स ने राजा के आदेश की अवहेलना करने का अधिकार प्रदान करता है। हॉब्स कहता है कि यदि राजा व्यक्ति को अपने आपको मारने, घायल करने या जीवन रक्षक उपमाओं को प्रयोग करने का आदेश दे तो ऐसी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार है। क्योंकि शासन को जनमानस सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार से हॉब्स अपने राज्य के सिद्धान्त की चरमव्याख्या में व्यक्तिवादी हो जाता और राज्य को उपयोगिता के स्तर पर ले जाता है जो कि कृतिम संख्या है, जिसे जनता ने अपनी आत्म रक्षा के लिए बनाया है।

14.9 प्रभुसत्ता

हॉब्स के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है उसके समझौते वादी सिद्धान्त को समग्रता में समझने का प्रयास किया जाए। यहाँ यह पुनः बताना आवश्यक है कि चूँकि समझौते सिद्धान्त में जिस अराजक प्राकृतिक अवस्था की कल्पना हॉब्स करता है। उससे निजात पाने के लिए सभी ने एक दूसरे से किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अपने ऊपर शासन करने की सत्ता सौंप दी। इसके फलस्वरूप सम्प्रभुसत्ता की उत्पत्ति होती है जो स्वयं समझौते का अंग न होने के कारण किसी प्रकार से मर्यादित नहीं है। उस पर किसी प्रकार को कोई बन्धन नहीं है इस प्रकार से स्पष्ट है कि हॉब्स सम्प्रभुसत्ता का प्रबन्ध समर्थक था उसका सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक पूर्णतः निरंकुश है। उस पर किसी भी प्रकार की कोई मर्यादा नहीं है। उसने उन सभी मर्यादाओं को समाप्त कर दिया जिसे बोंदा ने सम्प्रभुता पर आरोपित किये थे।

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्रोत है। क्योंकि वही शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। क्योंकि ऐसी सत्ता समझौते के दौरान लोगों ने उसे दी है। सम्प्रभुता निरपेक्ष है उसे जनसाधारण पर असीमिति अधिकार प्राप्त है जो किसी भी मानवीय शक्ति से मर्यादित नहीं है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह प्राकृतिक कानूनों के भी अधीन नहीं क्योंकि वे तो कानून न होकर विवेक के आदेश हैं।

हॉब्स ने अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त शक्ति के विभाजन तथा नियंत्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं पदान किया है क्योंकि वह मानता है कि सभी सत्ता का स्रोत स्वयं सम्प्रभु है तो सत्ता का विभाजन कैसे।

हॉब्स ने, बौदा द्वारा सम्प्रभुता पर सम्पत्ति संबंधी अधिकार का बंधन अस्वीकार किया क्योंकि सम्पत्ति का सृजनहार भी वह सम्प्रभुता को ही मानता है क्योंकि बिना शांति और सुरक्षा के सम्पत्ति का सृजन संभव नहीं है। इसलिए संपत्ति के संबंध में कानून निर्माण का अधिकार भी सम्प्रभु को ही है।

इसके आगे हॉब्स कहता है कि सम्प्रभु के अधिकार बदले नहीं जा सकते (अपरिवर्तनीय) किसी को दिये नहीं जा सकते (अदेय) इनका विभाजन नहीं किया जा सकता (अभिभाज्य) है। ऐसा करना सम्प्रभुता को नष्ट करना होता है जिसका परिणाम होगा पुनः असुरक्षा का वातावरण जो कोई भी नहीं चाहेगा। अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हॉब्स के सम्प्रभुता के सिद्धान्त में विरोधामास है। वह यह कि एक तरफ तो वह सम्प्रभुता को अभिभाज्य, अमर्यादित और हस्तान्तरणीय बताता है तो दूसरी तरफ वह जनमानस को सम्प्रभु के ऐसे आदेश का उल्लंघन करने की शक्ति प्रदान करता है जो उसकी आत्मरक्षा के विपरित है। साथ ही यह भी दुविधा है कि यह निर्णय कौन करेगा कि अब ऐसी स्थिति आ गई है। जब विरोध किया जा सकता है।

बौदा की भाँति हॉब्स ने भी सम्प्रभुता के निवास के आधार पर ही शासन प्रणाली का वर्गीकरण किया है।

प्रभुसत्ता का निवास	शासन का स्वरूप
एक व्यक्ति में	राजतंत्र
कुछ व्यक्तियों में	कुलीनतंत्र
सब लोगों में	लोकतंत्र

हॉब्स कहता है कि मिश्रित एवं सीमित शासन प्रणाली की बात करना व्यर्थ है क्योंकि प्रभुसत्ता अभिभाज्य अपरिवर्तनीय और उद्देश्य है।

यहाँ पर यदि हम हॉब्स और बोदा के प्रभुसत्ता सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह पाते हैं कि बौदा ने अपने प्रभुसत्ता सिद्धान्त में प्रभुसत्ता पर कई प्रतिबंध आरोपित किये हैं। जैसे ईश्वरीय नियम, प्राकृतिक नियम और राज्य के मूलभूत नियम। परन्तु हॉब्स ने अपने सम्प्रभु पर ऐसे किसी प्रतिबंध को आरोपित नहीं किया है जो आरोपित किये भी है वह बंधन वैधानिक नहीं है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि बौदा के सम्प्रभु की तुलना में हॉब्स का सम्प्रभु अधिकार सम्पन्न है।

14.10 नागरिक कानून

हॉब्स कानून को सम्प्रभु का आदेश कहता है। और इन विधियों में को ही परम्परा या रीति प्रदान नहीं है, प्रधान है तो वह है सम्प्रभु की इच्छा। यही नहीं उस सम्प्रभु में अपनी इच्छा से निर्मित कानून को पालन करने की शक्ति भी निहित है। इसकी इच्छा से निर्मित किसी भी विधि को नैतिक मानदण्डों पर नहीं परखा जा सकता है। क्योंकि ये विधियाँ ही व्यवहार की मानदण्ड तय करती हैं।

हॉब्स ने विधि के दो प्रकार स्वीकार किये हैं

1- वितरणात्मक या निषेधात्मक:- इसके अंतर्गत नागरिकों के वैधानिक या अवैधानिक कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

2- अज्ञात्मक या दण्डात्मक:- इसके अंतर्गत एक तरफ निर्देश होते हैं जिनका पालन अनिवार्य होता है जिनके उल्लंघन की दशा में दण्ड का प्रावधान भी होता है।

हॉब्स प्राकृतिक विधि और विधि में अन्तर भी करता है। वह कहता है कि विधि तो सम्प्रभु का आदेश है सम्प्रभु ही ऐसी विधियों का स्रोत भी है। और व्याख्याकार भी है। जबकि प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है। इसके पीछे कोई दण्डात्मक शक्ति नहीं होती जबकि विधि के पीछे दण्डात्मक शक्ति होती है जिसका पालन न किया जाने की स्थिति में उल्लंघनकर्ता, उल्लंघन कही मात्रा तक दण्ड का पात्र होगा।

यहाँ एक सवाल उठता है कि यदि सम्प्रभु का आदेश ही कानून है जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता यह आज के लोकतान्त्रिक युग में कहाँ तक सम्भव है। इसका उत्तर शायद नहीं ही होगा। क्योंकि किसी भी लोकतान्त्रिक देश में अन्तिम सत्ता में निहित होती है। जिसे नियतकान्त्रिक चुनाव के आधार पर प्रभुसत्ता के परियोग करने वाले को बदलने का अधिकार प्राप्त होता है।

इसके साथ ही हॉब्स सम्प्रभु के उन आदेशों की अवहेलना करने का अधिकार जनता को प्रदान करता है। जो उसकी आत्मरक्षा के विरुद्ध हो।

इसके आगे हॉब्स सम्प्रभु को अधिक कानूनों के निर्माण न करने की बात करता है। क्योंकि इससे उनके अनुपालन को सुनिश्चित करने में अनेकानेक समस्या उत्पन्न होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तरफ कानून को सम्प्रभु का आदेश मानता है, जिसे सम्प्रभु सद्बिवेक की अभिव्यक्ति कहता तो दूसरी तरफ आत्मरक्षा हेतु तलवार उठाने तक की अनुमति जनता को देता है। इस प्रकार हॉब्स का सम्प्रभुता सिद्धान्त में निरपेक्षता का पुट जितना दिखाई देता है, उतना ही नहीं। हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त में जो निरंकुशता दिखाई देती है वह भी उपयोगिता के कारण है और उपयोगिता है आत्मरक्षा जनमानस। इस प्रकार हॉब्स के इस निरंकुश प्रभुसत्ता में उदारवादी तत्व निहित प्रतीत होते हैं।

14.11 राज्य और चर्च

जैसा कि हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हॉब्स सर्वशक्तिशाली, प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य का समर्थन करता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि वह राज्य के समान्तर किसी भी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता जो राज्य सत्ता को चुनौती दे। जैसा कि तत्कालीन समय में उसने यह देखा कि पादरी और पोप के दावे ऐसे थे कि यदि उन्हें छुट दी जाती तो वे धार्मिक क्षेत्र से बाहर जाकर शासकों को पदच्युत करने की सत्ता भी अपने हाथ में केन्द्रित करना चाहते थे। इसलिए हॉब्स ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चर्च, राज्य के समकक्ष सत्ता न होकर उसके अधीन है। क्योंकि उस समय वह देख रहा था कि किस प्रकार से तत्कालीन पादरी और पोप ने समाज में अव्यवस्थाएं फैला रखी थीं।

इसलिए हॉब्स धार्मिक सत्ता को, राजसत्ता के अधीन मानता है राज्य में सम्प्रभु ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता भी है, विशेष उसकी अनुकम्पा से ही आध्यात्मिक सत्ता प्राप्त करते हैं। हॉब्स इसके आगे कहता है कि जब निर्णय का आधार बुद्धि न होकर आलौकिक अनुभूति हो तो समाज में अराजकता का वातावरण होता है। इसीलिए हॉब्स ने चर्च को अंधकार का राज्य कहा है।

हॉब्स कहता है कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति के प्रतिमय है। इसका फायदा आध्यात्मिक जगत उठाता है। अतः राज्य का दायित्व है कि अपने लोगों की इस भय की स्थिति से रक्षा करें। इस प्रकार हॉब्स ने चर्च को पूरी तरह से राजसत्ता के अधीन कर दिया है। यहाँ पर मार्सिलियों ऑफ पडुवा का जिक्र करना आवश्यक है कि इन्होंने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता को पृथक कर, चर्च को नागरिक शासन के अधीन करने की जिस प्रक्रिया

को आरम्भ किया था, हॉब्स ने उसे अंजाम तक पहुँचा दिया। अन्ततः हम कह सकते हैं कि हॉब्स ने आध्यात्मिक जगत को पूरी तरह से कानून और राज्य के अधीन कर दिया है।

14.12 व्यक्तिवाद

अभी तक हमने जितना अध्ययन किया है। उसको देखकर यह लगता है कि हॉब्स निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है। परन्तु जब इसके आगे हम देखते हैं कि क्यों वह निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो स्पष्ट होता है कि वह व्यक्तिवादी भी है क्योंकि ऐसा समर्थन वह व्यक्ति के लिए करता है उसकी सुरक्षा के लिए करता है। अर्थात् अपने सिद्धान्त प्रतिवादन में मूलरूप से वह व्यक्तिवादी है और इस व्यक्ति की सुरक्षा के लिए राज्य को उपयोगिता स्तर पर ले जाता है।

हॉब्स ने चिन्तन में व्यक्ति अलग-अलग हैं जिनके हितों में टकराहट भी है। इनमें सामंजस्य बैठाने के लिए राजसत्ता का उद्भव होता है, समझौते के फलस्वरूप वह हित है आत्मरक्षा के अधिकार। इस अधिकार की रक्षा के लिए वह व्यक्ति को राज्यसत्ता के विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है।

इस प्रकार जब हॉब्स राज्य को समझौते का परिणाम और कृत्रिम मानता है, जिसका दायित्व जनमानस की रक्षा करना है तो वह प्रबल व्यक्तिवादी हो जाता है। हॉब्स पहला विचारक है जिसने व्यक्ति के आत्मरक्षा के अधिकार को सर्वपरि महत्व दिया, और राज्य का दायित्व इस अधिकार की रक्षा करना माना, जो राज्य की उत्पत्ति का कारण और अस्तित्व का आधार है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आप में साध्य है और राज्य साधन।

14.13 आलोचना

हॉब्स एक ऐसा विचारक था जिसे अपने समय में समाज और सत्ता के सभी पक्षों के आलोचना का शिकार होना पड़ा। उसकी आलोचना निरंकुश राजतंत्रवादियों के साथ लोकतंत्रवादियों ने भी की। साथ ही धार्मिक चिन्तकों ने भी आलोचना की। क्लेरेडन ने तो हॉब्स की पुस्तक को जलाकर यहाँ तक कहा कि “मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।”

निम्न आधार पर हॉब्स की आलोचना की जाती है:-

1. हॉब्स के चिन्तन की एक प्रमुख आलोचना उसके द्वारा मानव स्वभाव के विकृत स्वरूप के चित्रण के कारण की जाती है। क्योंकि उसने मनुष्य को स्वार्थी और झगड़ालू कहा है। जबकि मनुष्य में दया, प्रेम, सहयोग, त्याग आदि सामाजिक गुण भी पाये जाते हैं।
2. हॉब्स का समझौता सिद्धान्त भी भ्रम उत्पन्न करता है। एक तरफ तो मनुष्य को झगड़ालू और स्वार्थी कहता था जिससे प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था हो जाती है, फिर विवेक लोगों को प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति के लिए समझौते के लिए तैयार करता है। फिर एक अन्य दुविधा कि समझौते में सम्प्रभु शामिल नहीं है जबकि सैद्धान्तिक दृष्टि से समझौता के लिए दो पक्ष होते हैं।
3. एक तरफ हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से निराकरण के लिए निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो दूसरी तरफ व्यक्ति को आत्मरक्षा के विरुद्ध किसी भी आदेश के विरुद्ध जाने का अधिकार भी देता है।

अभ्यास प्रश्न

१. हाब्स का हाब्स का किस सन में हुआ ?
२. हाब्स ने 'लेवियाथन' की रचना कहाँ पर की की।
३. Elements of Law पुस्तक की रचना किसने की ?

14.14 सारांश

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हाब्स ने राज्य के उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत के विपरीत, राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त दिया है जिसमें राज्य अब एक साधन के समान है जो व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए लोगों ने आपसी समझौते से बनाया है। जिसका यह संप्रभु समझौते में शामिल न होने के कारण सभी प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त है। लेकिन इसी के साथ हाब्स यह भी कहता है यदि राज्य व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के आदेश देता है जो उसके अस्तित्व के विपरीत है या उसे संकट में डालता है तो व्यक्ति को राज्य का विरोध भी करने का अधिकार है क्योंकि राज्य के निर्माण का उसका प्रमुख ध्येय आत्मरक्षा ही है। इस प्रकार से हाब्स व्यक्तिवादी विचारक के रूप में सामने उभरकर आता है।

14.15 शब्दावली

प्राकृतिक अवस्था - यह समाज हीन और राज्यहीन अवस्था है।

14.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. 1588 २. फ्रान्स ३. हाब्स

14.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन
2. पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग
3. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स
4. पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा
5. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

14.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त
2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

14.19 निबंधात्मक प्रश्न

1. हाब्स के राज्य के उत्पत्ति के सिद्धांत की विवेचना कीजिये।
2. हाब्स एक व्यक्तिवादी विचारक था। इस कथन की व्याख्या कीजिये।

इकाई 15 जॉन लॉक

इकाई की संरचना

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 उद्देश्य
- 15.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि
- 15.4 लॉक के सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
- 15.5 लॉक का अनुभववाद
- 15.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार
- 15.7 प्राकृतिक अवस्था का चित्रण
- 15.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त
- 15.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन
- 15.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार
- 15.11 सरकार के कार्य
- 15.12 व्यक्तिवाद
- 15.13 सम्पत्ति का अधिकार
- 15.14 लॉक के विचारों की आलोचना
- 15.15 सारांश
- 15.16 शब्दावली
- 15.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 15.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 15.20 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इसके पहली की इकाई में हम हॉब्स के समझौतावादी राजनीतिक विचारों का अध्ययन कर चुके हैं। आपने यह देखा कि हॉब्स के अनुसार राज्य किसी देवीय शक्ति से उत्पन्न न होकर के समजिक आपसी समझौते का परिणाम है। जिसे आत्मरक्षा के लिए बनाया गया है।

इस इकाई में हम समझौतावादी विचारक लॉक के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे। जिससे स्पष्ट होगा कि लॉक भी राज्य को समझौते का परिणाम मानता है। साथ ही यह भी देखेंगे कि हॉब्स के विपरीत लॉक ने मानव स्वभाव के सकारात्मक पक्षों पर बल दिया है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि

1. लॉक हॉब्स के विपरीत मानव के उदार पक्षों पर बल देता है।
2. आप जान सकेंगे कि लॉक उदारवादी प्रजातांत्रिक व्यवस्था का समर्थक है।
3. लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शान्ति, सदभावना पारस्परिक सहायता ओर संरक्षण की अवस्था बताया है।
4. सरकार का प्रमुख कार्य प्रत्येक सदस्य के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करना है।

15.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि

1642 ई0 में इंग्लैण्ड का गृह युद्ध इस कारण आरम्भ हुआ क्योंकि तत्कालीन राजा चार्ल्स प्रथम अपने शाही अधिकारों पर ब्रिटिश संसद के किसी भी प्रकार के अंकुश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। यह विवाद राजा की शक्तियों और संसद की शक्तियों के बीच था। चार्ल्स प्रथम की हत्या, राजतंत्र का पतन, कॉमवैल की अध्यक्षता में कामनवैलथ की स्थापना, आलिवर कामवैल का निरंकुश गणतंत्रीय शासन कॉमवैल का पतन तथा चार्ल्स द्वितीय को राजा बनाकर पुनः इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की स्थापना, जेम्स द्वितीय को राजा बनाकर उसके विरुद्ध पुनः जनक्रोश और विद्रोह तथा राजा जेम्स द्वितीय को विस्थापित कर उसके स्थान पर आरेन्ज के प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बिठाया जाना, ये इन 47 वर्षों की प्रमुख घटनाएँ थीं। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रान्ति के साथ प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड का राजा बनाए जाने की घटना के साथ राजा निरंकुश शक्तियों का अन्त तथा

संसद की शक्तियों का उदय हुआ। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के विधार्थियों के लिए याद रखने योग्य यह तथ्य है कि इस गृह युद्ध की घटनाओं में हॉब्स का झूकाव राजतन्त्र एवं निरंकुश शासनतन्त्र के पक्ष में था इसके विपरित, लॉक संसदीय दल के समर्थक के रूप में रक्तहीन क्रान्ति का समर्थन करता है। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रान्ति के जिन राजनीतिक दर्शन में आदर्शों की प्रस्थापना की थी। लॉक ने इन्हीं आदर्शों का प्रतिपादन अपने राजनीतिक दर्शन में किया है। ऐसा लगता है। मानों लॉक रक्तहीन क्रान्ति का समर्थन कर्ता दार्शनिक है। लॉक के राजनीतिक चिन्तन का सार यही है कि शासक की शक्तियाँ न्यास के समान है अतः शासन का कार्य समाज द्वारा सौंपी हुई सत्ता रूपी धरोहर की रक्षा करना है।

15.4 लॉक के सहिष्णुता सम्बन्धी विचार

लॉक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि राज्य अथवा किसी व्यक्ति/व्यक्ति समूह को दूसरे व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लॉक यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मानवीय ज्ञान न तो जन्मजात और न ही यह ईश्वरीय रहस्योदघाटन है। मानवीय ज्ञान मनुष्य के विचारों की उपज है जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क उस साफ सुधरी स्लेट के समान है जिस पर कुछ भी लिखा नहीं गया है। किन्तु अनुभव से उत्पन्न होने वाले विचारक था जो यह मानता था कि मनुष्य के विचार जन्मजात नहीं होते अनुभवों के साथ पैदा होते हैं। सत्ता को यह अधिकार कदापि नहीं हो सकता कि वह अपने विचारों को सही अथवा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानकर दूसरों के ऊपर अपने विचारों को थोपे। सत्ता को सहिष्णु होकर दूसरों के विचारों का दमन नहीं करना चाहिए। लॉक के धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि में ईसाई धर्म के विवाद थे जिनमें कुछ धार्मिक विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था। कि जो व्यक्ति धर्म की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, अथवा जो धर्म द्रोह का माप करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को राज्य द्वारा दंडित किया जाना चाहिए। लॉक के अनुसार राज्य की शक्ति का उद्देश्य लौकिक शक्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा सम्पत्ति की रक्षा करना, है न कि धर्म की स्थापना करना अथवा उसकी रक्षा करना राजा अपनी शक्ति को समाज के सदस्यों से प्राप्त करता है। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि लॉक के धर्म सम्बन्धी विचार उदारवादी हैं। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण लॉक को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादियों की अन्तिम पंक्ति में स्थान दिया जाता है।

15.5 लॉक का अनुभववाद

लॉक के विचारों का स्वरूप अनुभववादी है। वह ज्ञान का अनुभव जन्य मानता है। उसके ज्ञान सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वह मनुष्य के ज्ञान को जन्मजात नहीं मानता उसकी यह मान्यता है कि मानवीय मस्तिष्क में कोई जन्मजात प्रयत्न नहीं होते। जन्म के समय मानवीय मस्तिष्क साफ होता है जिस पर कुछ भी अंकित नहीं होता। मनुष्य को ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करता है जो उसमें चेतना एवं प्रतिबन्ध पैदा करते हैं। मस्तिष्क में उनके विश्लेषण की तुलना करने की तथा उनको एकीकृत करने की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विचारों की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में लॉक के मतानुसार मनुष्य के विचारों का जन्म अनुभवों से होता है। विचारों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता हाँ ये ज्ञान के साधन अवश्य है। ज्ञान का जन्म तब होता है जब मस्तिष्क द्वारा अनेक विचारों की तुलना करके सहमति अथवा इसके विपरित असहमति व्यक्त की जाती है। ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एक अनुभववादी विचारक माना जाता है।

15.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार

हॉक्स के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही स्वार्थी, झगड़ालू और आसामाजिक प्राणी है। किन्तु लॉक की मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी मान्यताएँ हॉक्स से सर्वथा भिन्न है वह मानता है कि मनुष्य में स्वाभाविक अच्छाई होती है। प्रकृति ने मनुष्य को एक महान गुण से विभूषित किया है और वह गुण है मनुष्य की विवेकशीलता मनुष्य में सहयोगी भवना होती है, वह सामाजिक प्राणी है। प्रकृति ने ही मनुष्य को शक्ति-प्रिय, नीति नियमों का आस्थावान तथा एकता और अच्छाई की चाह करने वाला प्राणी बनाया है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति से ही मनुष्यों में समानता होती है। प्राकृतिक अवस्था समानता की अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति एवं उसका क्षेत्राधिकार पारस्परिक होता है। तथा जिसमें किसी के पास दूसरे से अधिक शक्ति नहीं है। लॉक के मतानुसार मनुष्य की समानता शारीरिक अथवा मानसिक समानता नहीं है। अपितु वह नैतिक दृष्टि से दूसरे के समान होता है। मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के ये विचार उसके राजनीतिक विचारों के मूल में अवास्थित हैं।

15.7 प्राकृतिक अवस्था का चित्रण

हमें ज्ञात है कि हॉक्स ने प्राकृतिक अवस्था को एकाकी, दीन हीन कुत्सित, जंगली एवं क्षणिक बताया है। इसके विपरित लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शान्ति सदभावना, पारस्परिक सहायता और संरक्षण की अवस्था बताया है। सामाजिकता मनुष्य का वह मूल गुण है जिसके कारण वह प्राकृतिक अवस्था में अन्य सदस्यों के साथ रहता है एवं सहयोग करता था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में भ्रातृत्व भवना एवं न्याय की भवना थी। उस अवस्था में मनुष्य निश्चल था और इसीलिए सुखी था। प्राकृति ने उन्हें समानता और स्वतन्त्रता का आशीर्वाद प्रदान किया था। अतः कोई किसी की मर्जी पर निर्भर नहीं करता था। मनुष्य अपने जीवन का यापन एवं अपनी धन सम्पत्ति का उपयोग स्वेच्छानुसार करता था। मनुष्य में मैत्री न्याय और सदभावना के गुण थे। लॉक का कथन है कि “प्राकृतिक अवस्था को शासित करने वाला एक प्राकृतिक कानून है और उस कानून को हम विवेक कहते हैं।

प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करते हुए लॉक बताता है कि उस अवस्था में मनुष्य को कुछ नैसर्गिक अधिकार प्राप्त थे। लॉक की नैसर्गिक अधिकारों की धारणा का आशय यह है कि इन अधिकारों का निर्माता अथवा दाता राज्य नहीं है। यह अधिकार नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्य को कुछ जन्मजात अधिकार प्रदान किये हैं। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को प्रस्तुत करने में लॉक का स्पष्ट मन्तव्य यह स्थापित करना है कि राज्य उत्पत्ति के पूर्व भी

व्यक्तियों के अधिकार नैसर्गिक एवं राज्य से पूर्व है अतः राज्य की सत्ता इन अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकता। लॉक के राजदर्शन की यह मूल मान्यता है कि राज्य की स्थापना व्यक्ति सिर्फ इसलिए करते हैं जिससे कि राज्य उनके अधिकारों की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार इस अवस्था में प्राकृतिक विधि का शासन था जिसकी छत्रछाया में विवेक और समानता स्थापित थी तथा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों का स्वामी था। वह यह भी स्वीकार करता है कि दूसरे व्यक्ति के भी ऐसे ही प्राकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था। अतः प्राकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था अतः प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता थी, स्वच्छन्दता नहीं।

यदि प्राकृतिक अवस्था इतनी अच्छी थी तब प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि उस अवस्था में रहने वाले लोगों ने उसे छोड़ कर राज्य की स्थापना क्यों की ? लॉक ने इसका उत्तर दिया है कि प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक नियम की अपने हित के अनुसार व्याख्या करता था जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह व्यवस्था अथवा कानून का उल्लंघन करने वालों को दंडित कर सके। प्राकृतिक अवस्था में दो व्यक्तियों के महत्व विवादों का निपटारा वह व्यक्ति स्वयं अपनी धारणानुसार कर लेता था, जबकि सही न्यायपूर्ण अवस्था में ऐसे विवादों का निपटारा तीसरी निष्पक्ष न्यायिक सत्ता के द्वारा किया जाना आवश्यक है। किन्तु प्राकृतिक अवस्था में तीसरी निष्पक्ष सत्ता का अभाव था। लॉक के विचारानुसार प्राकृतिक अवस्था में तीन प्रमुख असुविधाएँ थीं।

1. प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक विधि की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं थी, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुकूल कानून को परिभाषित करता था।
2. प्राकृतिक विधि की स्पष्ट परिभाषा करने वाले किसी निष्पक्ष न्यायधीश का अभाव था।
3. ऐसी सत्ता का अभाव था जो प्रभावशाली रूप से उस विधि को लागू कर सके। क्योंकि प्राकृतिक कानून के क्रियान्वयन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति में निहित था इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने विवाद का स्वयं ही न्यायकर्ता बन जाता है। जिससे समाज का सहयोग टूटता है।

15.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त

सामाजिक संविदा:- प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं से मुक्ति पाने का मार्ग सामाजिक संविदा द्वारा प्राप्त होता है। लॉक के शब्दों में प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए मनुष्यों ने स्वेच्छा से समझौता किया जिससे कि वे एक समाज में सम्मिलित हो और संगठित हों ताकि उनका जीवन सुखी सुरक्षित और शान्तिपूर्ण हो जहाँ वे अपनी सम्पत्तियों का सुरक्षित रूप से आनन्द ले सकें।

लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के स्वरूप के बारे में विचारकों के भिन्न-2 मत हैं। कुछ लेखक मानते हैं कि समाज और शासक के बीच एक ही समझौता हुआ जिससे राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य की स्थापना की गयी। इसके विपरित कुछ लेखकों का मत है कि लॉक ने दो स्तर पर समझौतों के होने की कल्पना है। इनके मतानुसार पहला समझौता सामाजिक था जो प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्य के बीच पारस्परिक स्तर पर हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समाज की स्थापना हुई। लॉक के कथनानुसार मूल संविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक कानून की स्वयं दंड देने के प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करके ऐसा अधिकार सम्पूर्ण समाज

को प्रदान करता है। दूसरा समझौता राजनीतिक था जो समाज और शासक के बीच हुआ जिसके द्वारा सिविल शासन की स्थापना की गई। लॉक के लेखन में यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि उसने एक या दो समझौतों की कल्पना की है। किन्तु उसने मूल समझौता शब्दों का प्रयोग किया है जिससे यह संकेत मिलता है कि इसके अलावा भी कोई दूसरा समझौता हुआ हो। मूल संविदा के द्वारा प्राकृतिक अवस्था के लोग समाज की स्थापना करते हैं। दूसरा समझौता समाज के सदस्यों तथा शासक के बीच होता है। जिससे राज्य जैसी संस्था की स्थापना होती है। पहले समझौते के द्वारा व्यक्ति यह निर्धारित करते हैं कि वे अपने सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार समाज को प्रदान करते हैं। इस प्रकार समझौता कर लेने के बाद समाज के व्यक्ति शासक के साथ समझौता कर उसे शासन करने का अधिकार कुछ शर्तों के साथ प्रदान करते हैं। शासक का समझौता द्वारा निर्धारित यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करेगा। यदि शासक संविदा की शर्तों का उल्लंघन करे अथवा सार्वजनिक हित के विरुद्ध शासन करे तब समाज को यह अधिकार होगा कि उल्लंघनकर्ता को अपदस्थ कर उसके स्थान पर नये शासन को स्थापित करे।

15.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन

संविदा द्वारा शासन के निर्माण की लॉक की धारणा हॉब्स के विचारों से ठीक विपरीत है। हॉब्स के मतानुसार सम्प्रभु शासक संविदा से बंधा हुआ नहीं अपितु उसके बाहर एवं ऊपर है जिसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक सत्ता का स्वरूप निरंकुश हो जाता है तथा जिसका कभी प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत लॉक शासक को संविदा की शर्तों से प्रतिबंधित मानता है इस प्रकार लॉक सीमित शासन तन्त्र का समर्थन करता है। लॉक प्रजा को यह अधिकार देता है कि वह शासक का प्रतिरोध करे यदि शासक प्रजा के नैसर्गिक अधिकारों का अपहरण करने की कुचेष्टा करता है। हॉब्स का मत है कि प्रजा द्वारा संविदा के माध्यम से अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को केवल आत्म संरक्षण के अधिकार को अपने पास रखते हुए सम्प्रभु को समर्पित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् नागरिकों के केवल वे ही अधिकार रहते हैं जिन्हें सम्प्रभु द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके विपरीत लॉक के मतानुसार नागरिक द्वारा राजसत्ता को केवल एक अधिकार सौंपा जाता है और वह अधिकार है, प्राकृतिक कानून को स्वाहितानुसार लागू करने का अधिकार। ऐसी धारणाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि हॉब्स की संविदा की धारणा निरंकुशवाद का और लॉक की धारणा व्यक्तिवाद का समर्थन करती है।

15.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक का कथन है कि शासन संविदा द्वारा निर्मित संस्था है लेकिन शासन का क्या स्वरूप है एवं उसके कार्य - कलाप क्या है, उसके कार्य - कलापों की क्या सीमाएँ हैं। लॉक के मतानुसार सरकार के कार्य मर्यादित होते हैं। सरकार की स्थापना करने में लॉक समुदाय और सरकार के बीच एक न्यायधारी न्यास के द्वारा सरकार की स्थापना की जाती है। सरकार को न्यासी बताकर लॉक यह प्रतिपादित करना चाहता है कि समाज ने समूचे समाज की शक्ति को धरोहर के रूप में सरकार को सौंपा है। अतः सरकार का यह वैधिक दायित्व है कि वह उस धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रूप में करे। यदि सरकार इस दायित्व का निर्वाह नहीं करे, अर्थात् नागरिकों के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा नहीं करे अथवा उनका अपहरण करे, तब समुदाय को यह अधिकार है कि उस धरोहर की अनचाही सरकार से पुनः अपने हार्थों में लेकर उसे दूसरी सरकार को सौंप दे जो अधिकारों को सुरक्षित रख सके। लॉक यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि सरकार की शक्तियाँ समाज कह शक्ति की अपेक्षा सीमित हैं सरकार स्वहित के लिए नहीं अपितु समाज के हितों की रक्षा के लिए स्थापित की जाती है, तथा सरकार पर समाज का नियंत्रण सदा बना रहता है। सामाजिक हित का भाव वह अंकुश है जो शासन पर सदा लगा रहता है। लॉक की

मान्यता है कि सरकार समुदाय के हितों की रक्षा के लिए समुदाय के प्रति उत्तरदायी है किन्तु समुदाय का सरकार के प्रति ऐसा कोई दायित्व नहीं होता। सरकार के स्वरूप में सम्बन्ध में लॉक की यही धारणा है कि सरकार समाज की धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रूप में करती है। सरकार द्वारा इस धरोहर को हड़पने पर अथवा वचन भंग करने पर उसे अपदस्थ कर नये न्यासी की नियुक्ति का अधिकार सदा समुदाय के हाथों में रहता है।

15.11 सरकार के कार्य

लॉक का कथन है कि जिस महान एवं प्रमुख उद्देश्य से प्रेरित होकर मनुष्य अपने आपको शासनाधीन करते हैं, एवं राज्य के रूप में संगठित करते हैं, वह उद्देश्य है, अपनी सम्पत्ति का संरक्षण सम्पत्ति शब्द से उसका तात्पर्य जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पदा के अधिकारों की रक्षा करना है। आखिर ये ही वे प्राकृतिक अधिकार हैं जिनका उपभोग व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में करता था किन्तु इन अधिकारों की समुचित व्याख्या तथा उनका समुचित क्रियान्वयन करने वाली संस्था के अभाव में ये अधिकार असुरक्षित थे। सरकार की स्थापना इसी उद्देश्य से की जाती है कि ऐसे प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित एवं स्थायी रहें। अतः सरकार का यह प्रथम कार्य हो जाता है। कि ऐसे सामान्य मापदण्डों की स्थापना करे जिसके द्वारा उचित अनुचित तथा न्यायपूर्ण अन्यायपूर्ण का बोध हो सके।

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऐसी निष्पक्ष सत्ता का प्रावधान करना है जो व्यक्तियों के बीच के विवादों का स्थापित कानून के आधार पर निपटारा कर सके। आधुनिक भाषा में हम इसे सरकार के न्यायिक कार्य कह सकते हैं।

लॉक के अनुसार सरकार का तीसरा प्रमुख कार्य फैडरेटिव है। जिस कार्य को आज हम सरकार के कार्यकारिणी कार्य कहते हैं। लॉक ने इन्हीं कार्यों को फैडरेटिव कृत्य कहा है। लॉक के अनुसार सरकार के फैडरेटिव कार्य इस प्रकार है अपराधों को रोकना, समुदाय के हितों की रक्षा करना, नागरिकों के बीच के सम्बन्धों को नियमित करना युद्ध और शान्ति का संचालन करना तथा अन्य राज्यों से संधिया इत्यादि करना है। इस प्रकार लॉक सरकार के कार्यों को तीन भागों में बाँटता है विधायिनी, न्यायिक एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य।

लॉक की ऐसी मान्यता है कि विधायी एवं कार्यकारिणी शक्तियों को सदैव पृथक रखा जाना चाहिए। ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति कानून बनाते हैं उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में उन कानूनों को लागू करने की शक्ति प्रदान नहीं की जानी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि लॉक शक्ति पृथक्करणके सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दिखायी पड़ते हैं। लॉक कहते हैं विधायिनी एवं कार्यकारिणी शक्तियाँ पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायिनी एवं कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायिनी एवं कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक करने का पक्षधर है। विधि की व्याख्या करने का कार्य स्वतन्त्र न्यायपालिका का है हम देखते हैं कि लॉक के इन विचारों में शक्ति पृथक्करण के तत्व निहित हैं।

15.12 व्यक्तिवाद

लॉक के विषय में यह कहा जाता है कि लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों ओर घूमती है, प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे। व्यक्तिवाद लॉक के राजनैतिक विचारों का आधार है। उसके राजदर्शन में व्यक्ति परमसाध्य है और राज्य और समाज दोनों

उसके अधिकारों को बनाये रखने के साधन है। जहाँ कहीं राज्य व्यक्ति के अधिकार में किसी प्रकार से बाधक होता है वहाँ उस पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार शासक जनता का प्रतिनिधि मात्र है। व्यक्ति समाज अथवा राज्य का किसी भी प्रकार का ऋणी नहीं है। इस वाक्य में लॉक का व्यक्तिवाद की परमसीमा दिखलाई पड़ती है।

लॉक राज्य को व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक तथा जनसेवा का माध्यम मानकर व्यक्ति को राज्य व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बना देता है। व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण करना, यही राज्य का दायित्व है। उसके विचारों में राज्य केन्द्रीय नहीं है, उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है यही लॉक का व्यक्तिवाद है। लॉक के दर्शन में व्यक्ति के लिए समूची राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया गया है। व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की स्थापना करना, व्यक्ति के अधिकारों का शासक द्वारा अपहरण करने पर ऐसे शासन को अपदस्थ करना व्यक्ति की सहमति को राज्य का आधार मानना इत्यादि ऐसे विचार हैं जिनका प्रतिपादन करने के कारण लॉक को व्यक्तिवादी दर्शन का प्रणेता माना जाता है। अरस्तु यह कहना उचित नहीं है कि लॉक पूर्णतया और असीम रूप से व्यक्तिवादी था। इस सम्बन्ध में बोदों का जो कथन पीछे दिया गया है वह एकांगी सत्य है।

15.13 सम्पत्ति का अधिकार

लॉक व्यक्ति के निजी सम्पत्ति के अधिकार का प्रबल समर्थक है। उसके अनुसार व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार प्रकृति प्रदत्त है। लॉक का मत है कि मनुष्य संविदा द्वारा सिविल समाज की रचना अथवा सरकार की स्थापना मात्र इसी उद्देश्य से करते हैं कि सरकार उनकी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्राकृति की वस्तुओं पर सभी का समान अधिकार था। तब भी किसी एक व्यक्ति का प्राकृतिक सम्पदा पर एकाधिकार नहीं था। जिस एक चीज पर उसको प्रकृति ने एकाधिकार प्रदान किया था, वह उसका स्वयं का निजी व्यक्तित्व किन्तु जब व्यक्ति ने अपने परिश्रम को प्रकृति की किसी वस्तु को संजोया संभाला अर्थात् प्रकृति की सम्पदा के साथ अपने परिश्रम को मिश्रित किया तब वह वस्तु उस व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन गयी। लॉक का मत है कि सम्पत्ति का अधिकार किसी समझौते का परिणाम नहीं है क्योंकि व्यक्ति अपने जन्म के साथ साथ ही इसे प्रकृति से प्राप्त कर समाज में अविरत होता है। राज्य अथवा समाज ने इस अधिकार का निर्माण नहीं किया है। अतः सरकार अथवा समाज को किसी व्यक्ति से सम्पत्ति को छीनने का अधिकार भी नहीं है। लॉक के मान्यतानुसार सम्पत्ति व्यक्ति कर अनुलंघनीय अधिकार है।

लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का, विशेषतः सम्पत्ति के अधिकार का राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान है। इस सिद्धान्त द्वारा लॉक ने यह प्रतिपादित किया था कि शासन प्राकृतिक अधिकारों से मर्यादित रहता है तथा राज्य का दायित्व है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करे। इस अधिकार का समर्थन करके लॉक ने व्यक्तिवादी दर्शन की प्राण प्रतिष्ठा की। राजकीय हस्तक्षेप के सिद्धान्त ने लॉक के सरकार सम्बन्धी विचारों से गहरी प्रेरणा प्राप्त की है। दूसरी ओर लॉक के सम्पत्ति के सिद्धान्त की धारणा ने एडम स्मिथ तथा समाजवादी दर्शन के मूल्य सिद्धान्त को भी प्रभावित किया।

15.14 लॉक के विचारों की आलोचना

लॉक की सीमित राजतंत्र के उपरोक्त सिद्धान्तों के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं।

1. लॉक के सिद्धान्त में प्रभुता राज्य में नहीं बल्कि व्यक्ति में रहती जान पड़ती है। प्रभुशक्ति के अभाव में राज्य की विशेषता नष्ट हो जाती है।
2. लॉक राज्य को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनी हुई एक लिमिटेड कम्पनी का रूप देता है राज्य के स्वरूप की उसकी कल्पना यथार्थ नहीं है।
3. प्राकृतिक दशा में मानव समाज का लॉक द्वारा खींचा गया चित्र अच्छा होने पर भी वास्तविकता से दूर है। जब प्रकृति में राज्य में मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं थी तो केवल कानून की व्याख्या और उसे लागू करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की कल्पना राज्य का पर्याप्त कारण नहीं है।
4. अनेक विचारक लॉक के सिद्धान्तों में कोई मौलिकता नहीं मानते। सामाजिक संविदा, प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अधिकार और क्रान्ति के अधिकार आदि के विषय में लॉक के सिद्धान्त उसके पहले से चले आते हुए विचारों पर आधारित है।

लॉक का योगदान

पाश्चात्य राजशास्त्र के इतिहास में लॉक का स्थान महत्वपूर्ण है। उसके शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को आगे चलकर मान्टेस्क्यू ने विकसित किया। उसके सिद्धान्तों के आधार पर रूसो ने लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त बनाया। उसके सिद्धान्त अधिक व्यवहारिक थे। उसका यह कहना आज भी सब कही मान्य है कि शासन जनता की इच्छा पर आधारित है। उसका लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त आधुनिक जनतंत्रीय राज्य का आधार है। उसकी निरपेक्ष राज्य की कल्पना अधिकतर आधुनिक राज्यों में साकार हुई है। प्राकृतिक अधिकारों के विषय में उसका सिद्धान्त आधुनिक राज्यों में नागरिक के मौलिक अधिकारों का आधार है।

अभ्यास प्रश्न -

1. 'ए लैटर ऑन टॉलरेशन' नामक ग्रन्थ के लेखक कौन है ?
2. इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति कब हुई ?
3. लॉक व्यक्ति के अधिकार का प्रबल समर्थक है
4. लॉक को आधुनिक काल मेंका प्रतिपादक माना जाता है।
5. 'टू ट्रीटाइजेज ऑफ गर्वनमैट' की रचना किसने की।
6. ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एकविचारक माना जाता है।
7. लॉक सरकार के कार्यों को भागों में बाटता है।

15.15 सारांश

उक्त इकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होंगे कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चिंतन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आप ने देखा कि जहाँ हॉब्स मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है वही लॉक मानव के स्वभाव के उदान्त और सकारात्मक पक्षों पर बल देता है। ऐसा इसलिए संभव हो सका क्योंकि लॉक ने इंग्लैण्ड के गौरपूर्ण क्रान्ति को देखा कि किस प्रकार बड़झ परिवर्तन भी शांतिपूर्ण तरीके से हो

सकता है। साथ ही लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में भी जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को स्वीकार कर व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है और राज्य के उत्पत्ति के प्रमुख कारण के रूप में इन अधिकारों की रक्षा को माना यदि कोई सरकार इन अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाती है तो उसे अपदस्थ करने का अधिकार जनता को देता है। ऐसा करके वह प्रतिनिधि सरकार का समर्थन करता है। सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देकर वह तत्कालीन समय में उभरते हुए पूंजीवाद को समर्थन प्रदान करने का कार्य किया स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शासन के अंगों में शक्तियों के पृथक्करण की बात कर वह मैकियावली का पूर्व संकेत देता है।

15.16 शब्दावली

प्रतिनिधि सरकार:- जब सरकार के गठन में जनता की प्रत्यक्ष या परोक्ष भागीदारी हो, और वह सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी हो तो उसे कहते हैं।

सीमित सरकार:- निरकुश सरकार के विपरीत कानून का शासन अर्थात् सरकार भी कानून से नियंत्रित होती है।

प्राकृतिक अधिकार:- प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो मनुष्य को जन्मजात प्राप्त होते हैं।

जैसे जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार।

फैडरेटिवे:- वर्तमान समय में जिसे हम कार्यपालिका द्वारा किया जाने वाला कार्य कहते हैं। लॉक इन्हीं कार्यों को फैडरेटिव कहता है।

15.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लॉक 2. 1688 ई0 3. सम्पत्ति का अधिकार 4. संविधानवाद 5. 6. अनुभववादी 7. तीन

15.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन
2. पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग
3. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स
4. पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा
5. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

15.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त
2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

15.20 निबंधात्मक प्रश्न

1. लॉक के राजनीतिक विचारों की विशेषताएँ बताइये।
2. लॉक के प्राकृतिक अवस्था के सिद्धान्त का पीक्षण कीजिए।
3. लॉक के सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई-16 : जीन जेक्स रूसो (1712-1778)

इकाई की संरचना

- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 उद्देश्य
- 16.3 रूसो की कृतियाँ
- 16.4 रूसो का जीवन परिचय एवं पद्धति
- 16.5 रूसो का प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार
- 16.6 रूसो का मानव स्वभाव के सम्बन्ध में विचार
- 16.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
 - 16.7.1 रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना
- 16.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार
 - 16.8.1 यथार्थ इच्छा
 - 16.8.2 वास्तविक इच्छा
 - 16.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण
 - 16.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर
 - 16.8.5 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएं
 - 16.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि निर्माण के सम्बन्ध में विचार
 - 16.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचना
 - 16.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्व
- 16.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा
- 16.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
- 16.11 रूसो के कानून, स्वतंत्रता, समानता, धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार
 - 16.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार
 - 16.11.2 रूसो का स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
 - 16.11.3 रूसो का समानता सम्बन्धी विचार
 - 16.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार
 - 16.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार
- 16.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना
- 16.13 सारांश
- 16.14 शब्दावली
- 16.15 अभ्यास के लिय प्रश्न

- 16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें
 16.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 16.18 निबंधात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

हाब्स, लॉक एवं रूसो ये तीनों नाम आधुनिक राजनीतिक चिंतन में सामाजिक संविदा सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। पिछली इकाईयों में हम हाब्स तथा लॉक के बारे में सम्यक रूप से विवेचना कर चुके हैं। इस इकाई में हम रूसो के बारे में अध्ययन करेंगे-

सामाजिक संविदा के विचारकों में रूसो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रख्यात दार्शनिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता, शिक्षा-शास्त्री आदर्शवादी, मानवतावादी और युग-निर्माता साहित्यकार था। उसके ग्रन्थों ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे को झकझोर दिया और एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था लिए मार्ग तैयार कर दिया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन और नया दिशा निर्देशन मिला। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति में स्थायी सावयवी समाज की कल्पना को बल दिया। रूसो ने संविदा सिद्धान्त के आधार पर एक पूर्णरूपेण जनप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त खड़ा कर दिया। लोकप्रियता, सम्प्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण रूसो ने अमर ख्याति अर्जित की।

16.2 उद्देश्य

रूसो का मुख्य उद्देश्य मानव के आंतरिक स्वभाव के लिये अपेक्षित सच्ची स्वतन्त्रता दिलाना था। जबकि तत्कालीन फ्राँस में राज्य के पाशविक बल और प्राधिकार में नितान्त असंगति थी। उन दिनों फ्राँस पर व्यक्तियों का शासन था, कानून का नहीं। फ्राँस की जनता को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। फ्राँस की जनता को अपने प्रभुओं की प्रत्येक उचित, अनुचित आज्ञा का पालन करना पड़ता था। जबकि ऐसे में रूसो का मुख्य उद्देश्य एवं विश्वास यह था कि समाज के एक सच्चे संगठन में न कोई स्वामी होगा और न कोई आदेश। ऐसे समाज में सभी सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा राजनीतिक संगठन सम्भव है। रूसो का उद्देश्य यह था कि इस कठिन समस्या का समाधान वह अपने सामाजिक संविदा सिद्धान्त द्वारा दे सके। अपने ग्रन्थ 'सोशल कान्ट्रैक्ट' में वह इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिसका अध्ययन हम इस इकाई में आगे करेंगे।

16.3 रूसों की कृतियाँ

1. “हैज द रिवाइवल ऑफ द साइन्स एण्ड द आर्ट्स हेल्ड टू प्यूरीफाई ऑर टू करप्ट मोराल्स” पर निबन्ध-1749।
2. डिस्कोर्सेस ऑन द ओरिजिन एण्ड फाउण्डेशन ऑफ इनइक्वालिटी पर निबन्ध- 1754
3. सोशल कान्टैक्ट अथवा प्रिंसिपल ऑफ पॉलिकल राइट्स- 1762 में प्रकाशित।
4. लॉ नॉवेल हेलायज-1761 में प्रकाशित।
5. इमाइल-1762 में प्रकाशित।
6. कन्फैशन्स
7. डाइलॉग्स
8. रिवरीज

16.4 जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति

रूसो का जन्म सन् 1712 में निर्धन आइजक नामक घड़ी-बनाने वाले के यहाँ जेनेवा में हुआ। जन्म के समय ही माता का देहान्त हो गया और पिता ने पुत्र को अपने दुर्व्यसनों का साथी बना दिया। इस प्रकार जन्म से ही वह उपेक्षित और स्नेहविहीन रहा। इन्हीं परिस्थितियों में 10 वर्ष की अवस्था में ही वह जेनेवा छोड़कर भाग गया। तत्पश्चात् लगभग 14 वर्ष की अल्पावस्था में ही रूसो को एक कठोर संगतराश (खुदाई का काम करने वाला) के पास काम करना पड़ा जो उसके साथ बड़ा ही पाशविक व्यवहार करता था। वहाँ रूसो को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पड़ा बल्कि उसने चोरी करने और झूठ बालने की कला भी सीखी। आखिर अपने मालिक से तंग आकर रूसो घर से भाग निकला। तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी।

जीवन के अगले कुछ वर्ष रूसो ने फ्राँस में आवारागर्दी में बिताए। वह न केवल बुरी संगति में पड़ गया बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा वर्तमान में ही रहता था, न भूत के लिए पछताता था और न भविष्य के लिए चिन्ता करता था। बाजारू औरतों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध चले, किन्तु ये सम्बन्ध स्थायी मैत्री का रूप कभी नहीं ले सके। पेरिस में उसका मित्र वर्ग उसे आर्थिक सहायता देता रहा। वह मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह अविवाहित ही रहा, किन्तु उसके अवैध सम्बन्ध सदा बने रहे। उसे वेनिस में फ्रेन्च दूतावास में नौकरी भी मिली किन्तु अपने खराब मिजाज के कारण उसे पदच्युत होना पड़ा।

आवारा, प्रताड़ित और पीड़ित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जीवन के हर पहलू को देखता रहा। धर्म के सम्बन्ध में रूसो अस्थिर रहा। उसने कभी कैथोलिक धर्म को अपनाया तो कभी प्रोटेस्टेन्ट मत को। इतना सब होने के बाद आखिर उसके भाग्य ने पलटा खाय। सन् 1749 में उसने एक प्रतियोगिता का समाचार पढ़ा। प्रतियोगिता का विषय था Has the revival of the Sciences and the Arts helped to purify or to corrupt morals रूसो ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध में बिलकुल मौलिक और सनसनीखेज विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही सभ्यता का हास, नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है। अब रूसो एकाएक ही प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रों में उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और धनाढ्य महिलाओं के संसर्ग में लौटने की कोशिश नहीं की।

अब रूसो की सोई हुई साहित्यिक प्रतिभा और बौद्धिक चेतना जाग्रत हो गई थी। अब लिखना ही उसका व्यवसाय और जीवन बन गया। सन् 1754 में उसने 'डीजॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक अन्य निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया जिसका विषय था "‘मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है? क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है?’" यद्यपि रूसो पुरस्कार नहीं जीत सका, तथापि उसने निजी सम्पत्ति और तत्कालीन फ्रांस के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किये। सन् 1754 ई0 में रूसो पुनः जेनेवा लौट गया जहाँ वह कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट बन गया और उसे फिर से जेनेवा गणतन्त्र की नागरिकता दे दी गई।

कुछ समय बाद रूसो पुनः पेरिस चला गया। विख्यात लेखिका मदाम ऐपिने (Madam Epinay) द्वारा पेरिस के निकट मौण्ट मेरेन्सी में रूसो के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की गोद में रहते हुए रूसो ने Lock Nouvelle Heloise, The Emile तथा Social Contract नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की जिनसे उसका नाम चारों ओर फैल गया। उसके 'इमाइल' ग्रन्थ ने तो फ्रांस में क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी। उसके क्रान्तिकारी विचारों से शासक और पादरीगण क्रुद्ध हो गए। सन् 1762 में उसकी गिरफ्तारी का आदेश निकाला गया। रूसो ने पेरिस छोड़ दिया तथा जीवन के अन्य 16 वर्ष एक खानाबदोश के रूप में बिताए। उसका स्वास्थ्य गिरता रहा, किन्तु लेखन कार्य जारी रहा। प्राण रक्षा के लिए वह जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में भटकता रहा। 1766 में इंग्लैण्ड में दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी। वहाँ बर्क भी उसका मित्र बन गया। लेकिन रूसो के मित्र उसकी अभिमानशीलता को सहन नहीं कर सके। अतः मित्रों के प्रति शंकालु होकर रूसो पुनः गुप्त रूप से फ्रांस भाग गया। ह्यूम अपने प्रतिभाशाली मित्रों की सहायता से यह व्यवस्था कर दी कि रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा क्रियान्वित न की जाए।

रूसो की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ हॉब्स के समान थी। उसने इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति (Empirical Method) का अनुमान किया। उसकी पद्धति हॉब्स की ही तरह मनोविज्ञानयुक्त थी। मैकियावली, बोदाँ, अल्युसियस, हॉब्स, लॉक, ग्रोशियस, सिडनी, मॉण्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। यूनानी और रोमन साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी वह प्रभावित हुआ।

16.5 रूसो की प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार

रूसो की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्राकृतिक अवस्था में रूसो का मनुष्य भला असभ्य जीव (Noble Savage) था, जो प्रारम्भिक सरलता और सुखपूर्ण रीति से जीवन बसर करता था। वह स्वतन्त्र, संतुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय था। उसे न तो साथियों की आवश्यकता थी और न वह समाज के व्यक्तियों को दुःख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरों के साथ गठबन्धन किया। वह न तो सही को जानता था और न ही गलत को। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओं से अछूता था। उस दशा में केवल नैसर्गिक शक्तियों से युक्त था। बुद्धि एवं विवेक की करतूतों का उसमें अभाव था। प्राकृतिक अवस्था में ऊँच-नीच तथा मेरे-तेरे का कोई भेदभाव नहीं था। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी था। वह आत्मनिर्भर होता था। सभ्यता का विकास न होने से उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और जो थीं वह प्रकृति क माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थीं। मनुष्य अपने वर्तमान से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए संचय की चिन्ता नहीं थी। रूसो की प्राकृतिक अवस्था वाला समाज सभ्यता के प्रभावों से सर्वथा मुक्त था। वह समाज ऐसी प्रसन्नता का इच्छुक था। जिसमें सामाजिक नियम और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव बिलकुल न हो।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग सी थी जिसमें नियन्त्रणों से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे जंगली कहना आसान था, क्योंकि वह पहाड़ों-जंगलों में ही अधिवास करता था लेकिन जंगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु स्वर्णिम युग छिन्न-भिन्न हो गया। प्राकृतिक दशा की अवस्थाएँ चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकीं। रूसो की प्राकृतिक दशा को नष्ट करने के लिए दो तत्व उत्पन्न हुए। एक तो जनसंख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास तेजी से होने लगा। सरलता और प्राकृतिक प्रसन्नता से प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। सम्पत्ति का अभ्युदय हुआ और मनुष्यों में परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द घूमने वाले वनचारी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज, स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे वहाँ उसका स्थाई आवास बन गया। दूसरे सदस्यों ने, जो निश्चल थे, व्यक्ति विशेष के इस आधार को निःसंकोच मान लिया। वाद-विवाद या प्रतिरोध उनकी प्रकृति से परे था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढ़ती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्याख्या घर कर गई। अब विषमता का जन्म हुआ। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया जिससे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। रूसो के अनुसार, “वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था कि वह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उसकी देखा-देखी स्थानों और वस्तुओं को अपना समझना प्रारम्भ किया।” परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा में काम करता था, किन्तु दस्तकार को अधिक अंश मिलता था। इस विकास क्रम का यह परिणाम हुआ कि अब एक विकृति सी सारी दशा पर छा गई। मनुष्य सहज सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो उठा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने हैं। सबसे पहले आदिम प्राकृतिक अवस्था थी। उस समय मनुष्य निपट जंगली था, फिर मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था आई। तब असमानता का प्रारम्भ हुआ और संचयवृत्ति बढ़ गई। तत्पश्चात् दमन एवं अत्याचार की पोषिका अन्तिम अवस्था आई जो असहनीय थी और जिसमें मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to worse and still worse) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक संविदा की आवश्यकता महसूस हुई। इसी समय मनुष्य ‘प्रकृति’ की ओर वापिस (Back to nature) चलने का नारा दिया। किन्तु रूसो हमें सभ्यता की समस्त देनों का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था में नहीं ले जाना चाहता अपितु प्राकृतिक दशा को आदर्श अवस्था तक पहुँचाना चाहता है। वह जानता है कि समाज में आगे बढ़े हुए रथ को पीछे लौटना सम्भव नहीं है पर साथ ही वह प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य, सरलता और सहानुभूति का उपासक है। “विवेक तथा तार्किक बुद्धि को वह प्रकृति के प्रतिकूल मानता है। रूसो का 'Natural Men' वह आदर्श है जिसको विकास करते-करते हमें प्राप्त करना है। हमें एक ऐसे प्रतिष्ठान की आवश्यकता है जो व्यक्ति और संस्थाओं का पुनर्निर्माण करेगी।

रूसो ने प्राकृतिक दशा के बारे में यह दावा नहीं किया कि निश्चित रूप से कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। अपने विचारों में आगे चलकर वह संशोधन और परिवर्तन करता है जिससे कई असंगतियाँ पैदा हो गयी हैं लेकिन रूसो स्वयं कहता है, “मैं पक्षपात या पूर्वाग्रह की बजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रेमी हूँ।”

16.6 रूसो का मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में विचार

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभावतः सदाशय और अच्छा होता है। वह मनुष्य को स्वभावतः भोला मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनयापन प्रकृति की गोद में होता है। संसार में पाये जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक संस्थाएँ दोषी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है। मानव-स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है-आत्म-प्रेम अथवा आत्म-रक्षा की भावना, जिसके अभाव में वह कभी का नष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण से दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है और जो सम्पूर्ण जीवनधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। इसके कारण ही जीवन संग्राम इतना कठिन प्रतीत नहीं होता है। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

रूसो का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं में कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक है। पारिवारिक हित की कामना कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो समाज के हितों से तालमेल नहीं खाते। चूँकि ये दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, अतः व्यक्ति समझौता करने के लिए विवश होता है। आत्म-रक्षा और परमार्थ के कार्यों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली नई समस्या का समाधान वह समझौतावादी प्रवृत्ति से करना चाहता है। इस प्रकार के समझौते से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण प्रकृति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वयं में विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए। विवेक मनुष्य का नैतिक पथ-प्रदर्शन करता है और अन्तःकरण उसको उस मार्ग पर प्रेरित करता है। रूसो इस तरह बतलाता है कि आत्म-रक्षा एवं सहानुभूति इन दो भावनाओं में सामंजस्य और अन्य भावनाओं के विकास करने में अन्तःकरण तथा विवेक दोनों का योग होता है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्त्व सम्भवतः इसलिए दिया है कि उस युग में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्तःकरण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी एवं रोमांचकारी तक कह दिया गया है। वास्तव में रूसो ने विवेक पर बड़े आक्षेप किए हैं। उसने बुद्धि एवं विज्ञान का विरोध करके इसके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है। विज्ञान-विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है और विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में तर्क वितर्क को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण अथवा निर्मम नहीं है। वह मानव व्यक्तित्व के विकासमें विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नहीं देता।

स्पष्ट है कि रूसो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि पथ-भ्रष्ट क्यों हो जाता है? रूसो का तर्क है कि मनुष्य पथ-भ्रष्ट उस समय होता है जब उसका आत्म-प्रेम, दम्भ में परिवर्तित हो जाता है। अतः शुभ एवं स्वाभाविक बने रहने के लिए दम्भ का परित्याग करना आवश्यक है। विवेक को दम्भ के चंगुल में नहीं फँसने देना चाहिए।

16.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता से जब व्यक्ति दुखी हो गए तब उन्होंने स्वयं को एक ऐसी संस्था में संगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होंने परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दों में, व्यक्तियों ने समझौते की शर्तों को इस प्रकार व्यक्त किया है-“हम में से प्रत्येक अपने शरीर को और अपनी समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रखते हैं और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते हैं।” रूसो आगे लिखता है कि, “समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने में इसे शक्ति कहते हैं।”

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते हैं, वह दो पक्षों के बीच किया जाता है। एक पक्ष में मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में होते हैं और दूसरे पक्ष में मनुष्य अपने सामूहिक रूप में होते हैं। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप राज्य-संस्था के संगठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता अधिकार एवं शक्ति को अपने से पृथक नहीं कर देते। वे इन्हें अपने पास रखते हैं पर व्यक्ति रूप से नहीं अपितु सामूहिक रूप से अर्थात् समाज के अंग के कारण। अब मनुष्य की जान और माल की रक्षा का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर नहीं रह जाता, वरन् सम्पूर्ण समाज का कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करे। राज्य-संस्था के संचालन की शक्ति जनता में निहित होती है क्योंकि जनता स्वयं प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न होती है। राज्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार जिस शासक वर्ग को दिया जाता है, वह जनता की आकांक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जनता की इच्छा को क्रिया रूप में परिणत करने का साधन मात्र है और अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन न करने पर अपने पद से पृथक किया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरे शासक वर्ग को नियुक्त किया जा सकता है यदि वह जनता की इच्छानुसार कार्य करने का वचन दे।

रूसो के समझौता सिद्धान्त की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण में सभी व्यक्ति निश्छल और सरल होते हैं, किन्तु कालान्तर में जनसंख्या में वृद्धि, तर्क के उदय और सम्पत्ति के प्रवेश के कारण वे संघर्षरत होते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने और पुनः अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं। यह समझौता दो सार्वभौमिक लक्ष्यों पर आधारित होता है पहला यह कि मनुष्य जो समूह बनाते हैं उसके अपने धन-जन की रक्षा में सम्पूर्ण समाज की सहायता उन्हें प्राप्त हो सके और दूसरे वे अधिकतम स्वतंत्र हो सकें।

सामाजिक समझौते के क्रियाशीला एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एवं शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात् सभी के साथ एक ही-सी शर्त।

अतः इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी एवं स्वतन्त्रता विरोधी नहीं हो सकता। इस समझौते से एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है।

यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण करते हैं तथापि जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं, मनुष्य उन्हें अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि व्यक्ति क्या खाता है, क्या पहनता है। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नहीं इसका निर्णय समाज ही करता है।

इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि “प्रत्येक व्यक्ति सबके हाथों में अपने आपको समर्पित करते हुए किसी के भी हाथों में अपने को समर्पित नहीं करता” एवं “प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अंग के रूप में उन्हें प्राप्त कर लेता है। अतः समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है।” रूसो के समाज में किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है, सबका स्थान समान है। इस तरह राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता ही नहीं अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

रूसो के अनुसार यह समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

संविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को अपने अधिकारों और शक्तियों को जिस सार्वजनिक सत्ता को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियों से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीनकाल में नगर राज्य कहते थे और अब गणराज्य या राज्य-संस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियों से मिलकर होता है उन्हीं को सामूहिक रूप से ‘जनता’ कहा जाता है। जब हम उन्हें राजशक्ति की अभिव्यक्ति में भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हें ‘नागरिक’ कहते हैं और जब राज्य के कानून पालकों के रूप में देखने हैं तो उन्हें हम ‘प्रजा’ की संज्ञा देते हैं। संक्षेप में, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता ‘राज्य’, ‘शक्ति’, ‘जनता’, ‘नागरिक’ एवं ‘प्रजा’ सब कुछ है।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी हैं और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुता पूर्ण संघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नहीं रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

समझौते के फलस्वरूप समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयविक होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार से अलग नहीं हो सकता और न वह राज्य के विरुद्ध आचारण ही कर सकता है। रूसो का समाज हॉब्स एवं लॉक की धारणा के समान व्यक्तिवादी नहीं है। रूसो का यह समझौता एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति कहकर पुकारता है। राज्य या समाज का सावयविक रूप बतलाते हुए रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि विधि निर्माण शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी बाहु के समान, न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राजस्व रक्त-संचार के समान है।

समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अंग है। सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है।

सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वयं सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वयं सम्प्रभुताधारी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक भाग होता है। समझौते से किसी प्रकार की स्थापना नहीं होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधारित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस प्रभुत्व शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

16.7.1 रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना

रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्नांकित हैं-

रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवन यापन करते थे। रूसो की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है।

रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नहीं है। बल्कि मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति उसे नित्य नवीन क्षेत्रों की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नहीं धकेलती।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एवं समाज में होता है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम है-यह स्पष्टतः एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझौता असंगत हो जाता है।

रूसो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है। राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है।

रूसो समझौते के द्वारा व्यक्ति की खुशियों, कामनाओं और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड़ में राज्य की इच्छा पर न्यौछावर कर देता है।

रूसो का समझौता राज्य-संस्था के अभाव में सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो अतः राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस में कोई समझौता कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। अराजक दशा में भी मनुष्य परस्पर मिलकर कोई समझौता कर सकते हैं, यह कतई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

रूसो के सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है। चूँकि विधि निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है, अतः यह अन्याय भी कर सकती है। इसकी आड़ में निरंकुशता एवं अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है।

16.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार

रूसो के सामाजिक संविदा के सिद्धान्त में 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्व है। 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए रूसो की अमर देन है। लेकिन जहाँ जनतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है वहाँ निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़ कर जनता पर मनमाने अत्याचार भी ढाए हैं। शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा है जितना की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त।

रूसो की सामान्य इच्छा को भली-भाँति समझने के लिए सबसे पहले हमें इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएँ होती हैं-

1. यथार्थ इच्छा (Actual Will)
2. वास्तविक इच्छा (Real Will)

16.8.1 यथार्थ इच्छा-

यथार्थ इच्छा वह इच्छा है जो स्वार्थगत, संकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। जब मनुष्य केवल अपने लिए ही सोचता है तब वह यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यह इच्छा भावना-प्रधान होती है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। इनमें व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी होता है।

16.8.2 वास्तविक इच्छा-

इसके विपरीत वास्तविक इच्छा वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो के अनुसार यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है एवं स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह व्यक्ति की वह उत्कृष्ट इच्छा है जो सुसंगठित, स्वार्थहीन, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्थाई रूप से निवास करती है। इस इच्छा से संचालित व्यक्ति यथार्थ इच्छा की भाँति अस्थायी परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्थाई निर्णयों को स्वीकार करता है। इसके लिए व्यक्ति सार्वजनिक हित का चिन्तन करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। मनुष्य की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और समाज के मध्य होता है।

रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' पर आधारित होती है तथा आदर्श इच्छा उसके 'श्रेष्ठ स्व' पर।

यथार्थ और वास्तविक इच्छा के भेद पर ही 'सामान्य इच्छा' का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निचोड़ अथवा उनका संगठन और समन्वय है। सामान्य इच्छा सब नागरिकों की इच्छा है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है। इस प्रकार से सामान्य इच्छा सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है।

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है- "मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सौंप देते हैं। राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित है।" वह आगे कहता है- "हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम है किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लोगों की

इच्छा का ध्येय बदल सकता है। चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा ही है।' आगे चलकर रूसो पुनः लिखता है, 'चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है अतः मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किन्हीं स्वार्थोवश उस इच्छा को पूरा नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तदनुसार आचरण करूँ। क्योंकि सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने में स्वयं अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।'

रूसो के मतानुसार संसदीय प्रशासन प्रणाली में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि 'जब राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है तब सामान्य इच्छा स्वतन्त्र नहीं रह जाती है। सत्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता।' रूसो का कहना है कि प्रदत्त सामान्य इच्छा का अर्थ तो मृत सामान्य इच्छा है।

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विशिष्ट रूप नहीं वरन राज्य का भी है। प्रत्येक समुदाय एवं संस्थान, जिसके सदस्यों में सार्वजनिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इंगित करता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियों के मस्तिष्कों के योग से उच्चतर होता है। इस प्रकार राज्य को, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी उच्चतर होगा एवं एक नैतिक अस्तित्व रखेगा। रूसो का विचार है कि जिस अनुपात में लोक सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और अपने व्यक्तिगत हितों को भुला सकेंगे उसी अनुपात में सामान्य इच्छा पूर्ण होगी।

16.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'सर्वसाधारण की इच्छा' से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओं को पहले स्वयं के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें उनकी यथार्थ एवं वास्तविक दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओं का अशुद्ध और अनैतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल वास्तविक इच्छा ही बची रहती है। इच्छाओं का ऐसा शुद्ध समन्वय ही सामान्य इच्छा बन जाती है। सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं जिनका पालन सभी व्यक्ति करते हैं। सार्वभौमिकता का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा ही करती है। जब सार्वभौमिकता लोककल्याण के हित में कार्य करती है तो सामान्य इच्छा का पालन होता है।

16.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर

सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत में संख्या बल पर। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या थोड़े व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता को कितना समर्थन प्राप्त है।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, समस्त इच्छा वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा का 'सम्पूर्ण' के रूप में (व्यक्तियों के एक समूह मात्र के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, वह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नहीं है बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि 'लेवियाथन' की सर्वोच्च इच्छा सबकी इच्छाओं से कहीं अधिक है और वह एक ही व्यक्ति में उन सबका एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा पर भी लागू होता है। सामान्य इच्छा केवल वास्तविक इच्छा का सार है और सदैव सामान्य हित की

ओर ही संकेत करती है। सामान्य इच्छा समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है और यह आवश्यक नहीं है कि समाज की बहुसंख्या द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा में भावना की प्रधानता है जबकि सर्वसम्मति अथवा समस्त की इच्छा में सम्मति देने वाले व्यक्तियों की संख्या का महत्व है। वास्तविक इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित में वृद्धि होगी और यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केवल वर्ग विशेष की स्वार्थ-सिद्धि होगी। सामान्य इच्छा में अहित की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है।

16.8.5 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ-सामान्य इच्छा विवेकयुक्त एवं बुद्धिजन्य होने के कारण वह आत्म-विरोधी नहीं होती। इस इच्छा का अभिप्राय ही यह है कि विभिन्नता में एकता स्थापित हो जाए। रूसो के स्वयं के शब्दों में-“यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है”

सामान्य इच्छा स्थायी एवं शाश्वत है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमें स्थिरता होती है। रूसो के शब्दों में-“इसका कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अनित्य, अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।”

सामान्य इच्छा सदैव शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है और सदैव जनहित को लेकर चलती है। यह इच्छा श्रेष्ठ इच्छा है क्योंकि यह सबकी वास्तविक इच्छाओं का योग है। सामान्य इच्छा के होते हुए प्रथम तो कोई दोषपूर्ण निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य इच्छा का नहीं वरन् उसके संचालन करने वालों का होता है।

सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है। सम्प्रभुता के समान ही वह अविभाज्य अदेय है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती। इसे सरकार के विभिन्न अंगों-कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। इसके विभाजन का अर्थ इसे नष्ट करना है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व भी इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य इच्छा भी निरपेक्ष है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होते हैं। यह निष्काम दो प्रकार से होती है-प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और द्वितीय, यह सामान्य हित की बातों में जनसेवा भाव से प्रेरित होती है।

सामान्य इच्छा को राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, अपितु जनता की सहमति से संचालित होता है।

16.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि-निर्माण के सम्बन्ध में विचार

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। रूसो के ही शब्दों में संविदा राज्य को अस्तित्व एवं जीवन प्रदान करता है और व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी होती है, क्योंकि जिस मूल संविदा के द्वारा राज्य का निर्माण तथा संगठन होता है, वह किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिक्षण के लिए क्या करना चाहिए।”

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुताधारी का है और सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है, अतः विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य इच्छा का ही कार्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूँकि विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आज्ञा

का पालन करना आवश्यक है। विधि अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि वह उस सामान्य इच्छा का आदेश होती है। जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण का वास्तविक कल्याण होता है। रूसो के अनुसार विधि के अधीन रहने पर भी हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती हो। विधि का अस्तित्व भी तभी है जब सब लोग तदनुसार कार्य करते रहें। रूसो के विचारों में यहाँ एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त विधि की सर्वोच्चता का भी उतना ही समर्थक है जितना व्यक्तिगत अधिकारों का। वह स्वयं कहता है, “राज्य अपने सदस्यों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो।”

चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अतः जनता को सद-असद या शुभ-अशुभ का ज्ञान कराने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं विवेक-सम्मत विधि निर्माण करने के लिए रूसो विधि निर्माता का विधायक (स्महपेसंजवत) की भी व्यवस्था करता है। इस विधायक को अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न और उचित विधियों एवं संस्थाओं की व्यवस्था करने में समर्थ होना चाहिए। उसे एक ऐसा विद्वान दार्शनिक होना चाहिए जो जनसाधारण की विभिन्न आवश्यकताओं को समझता हो और परिस्थितियों के अनुरूप विधियों की रूपरेखा बना सकता हो। उसका कार्य मात्र एक विशेषज्ञ परामर्शदाता का है। विधियों को कार्यान्वित करने का कार्य सम्प्रभुताधारी ही करेगा।

16.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा राजदर्शन को एक अमूल्य देन है तथापि इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर कटु आलोचना की गई है-

रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट और जटिल है। यह बताना कठिन है कि यह सामान्य इच्छा कहाँ है। रूसो की सामान्य इच्छा की परिभाषा में हमको कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं मिलता। वेपर - कहता है कि “जब रूसो सामान्य इच्छा का पता ही हमको नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? यद्यपि रूसो ने हमको सामान्य इच्छा के बारे में बहुत कुछ बतलाया है फिर भी जो कुछ बतलाया गया है वह पूर्णतः अपर्याप्त है।

रूसो के बचाव में हम यहीं कह सकते हैं कि वह पूर्णतः दोषी नहीं है। यह विषय ही बड़ी जटिलता लिए हुए है। ‘सामान्य इच्छा’ कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती और उसका यह निराकार स्वरूप ही उसके विश्लेषण को बड़ा कठिन बना देता है।

सामान्य इच्छा जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जानना कठिन है। सार्वजनिक हित की व्याख्या शासकगण अपनी इच्छानुसार करते हैं। ऐसे में सामान्य इच्छा के माध्यम से शासकगण इसका दुरुपयोग भी कर सकते हैं।

मानवीय इच्छा को यथार्थ और वास्तविक इच्छा में बाँटना सम्भव नहीं है। क्योंकि मानवीय इच्छा तो ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है यदि ऐसे विभाजन की कल्पना कर भी ली जाय तो यह निर्णय करना असम्भव सा होगा कि कौन सी इच्छा यथार्थ है और कौन सी वास्तविक?

‘सामान्य इच्छा’ का सिद्धान्त एक ओर तो राज्य की निरंकुशता की स्थापना करता है और दूसरी ओर क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करता है। रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकार ‘सामान्य इच्छा’ को समर्पित कर

देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। यद्यपि उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है तथापि बहुमत से असहमत होने वाले व्यक्तियों के लिए बचाव के सभी मार्ग बन्द हैं। रूसो ने व्यक्ति की तुलना में राज्य और सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति सौंप दी है। पुनश्च, रूसो लिखता है कि, “जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे नहीं देख सकती।” अतः जनता को उसका हित बतलाने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक सम्पूर्ण सत्ता हथियाकर निरंकुश शासक बन सकते हैं। जोन्स का कहना है कि “सामान्य इच्छा की धारण के प्रयोग में मनुष्य का भय यह है कि राज्य में तानाशाही की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है।”

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त छोटे राज्यों में भले ही सफल हो सके, पर आधुनिक विशाल और विविध हितों से परिपूर्ण जनसंख्या वाले राज्यों में सफल नहीं हो सकता। आधुनिक राज्यों में सामान्य हित का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

रूसो सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता और प्रतिनिधि मूलक शासन-व्यवस्था का विरोध करता है जबकि इनका होना आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों की सफलता के लिए अनिवार्य है।

रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा ही, वरन् निराधार एवं अमूर्त चिन्ता मात्र है।

वस्तुतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की गम्भीरतम आलोचना यही लगती है कि न तो “यह सामान्य है और न इच्छा ही” इस आपत्ति का अर्थ यह है कि इच्छा सामान्य होने पर इच्छा ही नहीं रहती। दूसरे शब्दों में इच्छा किसी विशेष की हो सकती है। व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव में उसकी इच्छा है। इस प्रकार की इच्छा अलग-अलग व्यक्तियों में निवास करती है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना जीवन होता है। वास्तव में सामान्य जीवन जैसी कोई चीज नहीं है और जब सामान्य जीवन ही नहीं है तो सामान्य इच्छा कैसे हो सकती है? हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने कल्याण की इच्छा करे और अपने ही सरीखे दूसरे लोगों के कल्याण की इच्छा करें किन्तु इन दोनों ही सूरतों में इच्छा विशिष्ट होगी, सामान्य नहीं।

16.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्व

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद राजदर्शन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है-

रूसो की सामान्य इच्छा ने आदर्शवादी विचारधारा की नींव डाली जिसे आधार मानकर टी.एन. ग्रीन ने राज्य का मुख्य आधार बल न मानकर इच्छा को माना। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जनतन्त्र बहुमत की शक्ति का परिणाम नहीं है वरन् सक्रिय निःस्वार्थ इच्छा का फल है।

रूसो की सामान्य इच्छा राजनीतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। उसके अनुसार सामान्य इच्छा का प्रमुख कार्य विधि निर्माण और शासनतन्त्र की नियुक्ति और उसे भंग करना है।

अपने सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा है और बतलाया है कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ और परिष्कृत बनाती है।

रूसो ने एक ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। रूसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार-स्वतन्त्रता और नैतिकता, सामान्य इच्छा के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। रूसो के इस सिद्धान्त के आगे चलकर कल्याणकारी राज्य सिद्धान्त के विकास में बड़ा योग दिया। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक संगठन है जो मानव की असामाजिक एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों का परिष्कार करते हुए सामूहिक कल्याण पर ध्यान देता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एवं व्यक्ति में शरीर तथा उसके अंगों का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ़ करता है।

रूसो की सामान्य इच्छा स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और हम उसका पालन इसलिए करते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा हमारी आन्तरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व मात्र है।

16.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा

रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा बोदाँ के विचारों से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और संक्षिप्तता के साथ तथा लॉक की विधि के आधार पर की है।

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा में केन्द्रित माना है। यह समाज अथवा समुदाय में निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता में प्रतिष्ठित करके रूसो निरंकुशवाद के विरुद्ध एक बहुत बड़ा शस्त्र प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रभु शक्ति का हिस्सेदार है। चूँकि समाज स्वयं सम्प्रभु है, अतः वहीं सर्वोच्च शक्ति है और उस शक्ति का कोई शत्रु नहीं हो सकता। जनता सरकार के कार्यों पर कड़ी और सचेत निगाह रखती है। यहाँ विद्रोह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जनता स्वयं सम्प्रभु है।

रूसो ने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' में निहित करके एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। हॉब्स की भाँति निरंकुशता के स्तर में उसने कहा है कि "जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने अंगों पर निरंकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक समझौता भी राज्य को अपने अंगों पर सम्पूर्ण निरंकुश सत्ता प्रदान करता है।" किन्तु हॉब्स की निरंकुशता और रूसो की निरंकुशता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ हॉब्स की निरंकुशता शासक से सम्बद्ध है वहाँ रूसो की जनता से। रूसो ने हॉब्स की निरंकुश प्रभुता और लॉक की सार्वजनिक इच्छा को एक साथ मिलाकर लोकप्रिय सम्प्रभुता को जन्म दिया है।

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है अथवा यह 'सामान्य इच्छा' को प्रदर्शित करती है, अतः इसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। वास्तव में यह सम्प्रभुता ही विधियों का मूल स्रोत है।

रूसो की सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विरोधाभासों से पूर्ण है। एक ओर तो वह सम्प्रभुता को असीमित बतलाता है। दूसरी ओर यह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती जो सामान्य हित के विरोध में हो। सम्प्रभु को सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी रूसो का आग्रह है कि शासक को उचित प्रकार से शासन करना चाहिए तथा न्याय और समानता का नियम सदैव लागू होना चाहिए। यह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति रूसो के अगाध प्रेम के कारण ही है।

निष्कर्ष रूप में, रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। उसके राजनीतिक दर्शन का रहस्य 'एक राजा के स्थान पर लोकप्रभुत्व को स्थापित करने में है। क्योंकि समाज ही सम्प्रभुता का स्रोत और स्वामी है।

16.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक की भाँति ही रूसो भी राज्य और शासन अथवा सरकार के मध्य अन्तर स्पष्ट करता है। उसके शब्दों में 'सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमें कि सामान्य इच्छा का वास होता है राज्य है। जबकि शासन अथवा सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह है जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा लागू करे।' अर्थात् यहाँ स्पष्ट है कि व्यक्ति एक बुरे शासक का विरोध कर सकता है, राज्य का नहीं।

रूसो के विचार से स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य अथवा सम्प्रभुता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नहीं। शासन तो एक मध्यवर्ती संस्था (द प्दजमतउमकपंजम ठवकल) है जिसकी स्थापना सम्प्रभुता ओर जनता के बीच की जाती है ताकि लोगों की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। इसी क्रम में शासन के निर्माण के लिए 'एकत्रित सम्प्रभु जनता' ने पहले शासन का स्वरूप निर्धारित किया और तब यह निश्चित किया कि इस प्रकार स्थापित पदों पर किन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। रूसो का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र से ही आरम्भ होता है।

रूसो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने में तत्पर है। रूसो ने सरकार को न्याय-रक्षक मण्डल अथवा राजा कहकर पुकारा है। सरकार या शासन सम्प्रभु सम्पन्न जनता की नौकर मात्र है और सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई शक्तियों को प्रयोग ही कर सकता है। जनता अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्ति को सीमित या संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। यहाँ हॉब्स और रूसो की धारण में स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के अनुसार शासन को न तो बदला जा सकता है और न उसके विरुद्ध विद्रोह ही हो सकता है क्योंकि जनता और शासन के सम्बन्ध में आधार संविदा है। इसके विपरीत रूसो के शासन या सरकार का निर्माण किसी संविदा द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रभु सम्पन्न जनता के प्रत्यादेश द्वारा होता है।

रूसो ने शासन का वर्गीकरण किया है, किन्तु यह वर्गीकरण रूसो के राजनीतिक चिन्तन की सबसे कमजोर कड़ी है। उसके अनुसार शासन के निम्न रूप हो सकते हैं:-

- (1) राजतन्त्र (Monarchy)
- (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
- (3) जनतन्त्र (Democracy)
- (4) मिश्रित (Mixed)

जिस सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ व्यक्तियों के हाथ में होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता या उसके बहुमत के हाथ में होती है तो उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनों प्रकारों की रूपरेखा बदलती रहती है। चौथा वर्ग मिश्रित सरकार का है। सरकार के इन रूपों में सर्वोत्तम कौनसा है, सैद्धान्तिक रूप से यह बताना सम्भव नहीं है। परिस्थितियों और देशकाल के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम या निकृष्टतम हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि शासन की प्रगति का निश्चित चिन्ह जनसंख्या है। जिस

राज्य में जनसंख्या बढ़ती जाएगी, समझना चाहिए कि वह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। रूसो की यह बात आज के युग में निश्चय ही विचित्र लगती है।

उल्लेखनीय है कि शासन के विविध प्रकारों में रूसो का सुझाव यूनानी नगर राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर है। वह प्रतिनिधि सभाओं को राजनीतिक पतन का चिन्ह मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है- स्वतन्त्रता का हनना ब्रिटेन की निवार्चन प्रथा के विषय में उसका मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। रूसो ने देखा कि सरकार में लोक नियन्त्रण से बचने और अपनी शक्तियों का प्रसार करने की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने यह मत प्रकट किया कि सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभुत्व सम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जो यह निश्चय करे कि वर्तमान शासन व्यवस्था और अधिकारियों में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है अथवा नहीं। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्व सम्पन्न सभा के रूप में एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। रूसो के दृष्टिकोण में इस विचार का पूर्वाभास मिलता है कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए।

16.11 रूसो के कानून, स्वतंत्रता, समानता, धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

16.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार

रूसो ने अपनी रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में कानून के विशेष महत्त्व देते हैं। कानून ही से प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुरूप कार्य करे और अपने से असंगत रूप के कार्य से बचे। यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य को पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक अनुबन्ध में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है- (1) राजनीतिक कानून जिनके द्वारा सम्प्रभुता का राज्य के साथ सम्बन्ध निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून जिनसे नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) फौजदारी कानून जो कानून की आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड निश्चय करते हैं और (4) जनमत नैतिकता तथा रीति-रिवाज। रूसो के अनुसार ये राज्य के वास्तविक संविधान हैं और के हृदय-पटल पर अंकित हैं।

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। सामान्य इच्छा सदैव जनता के कल्याण की कामना करती है, अतः यह कभी भी कानून द्वारा अन्याय करने की इच्छा नहीं कर सकती। "कानून हमारे आन्तरिक संकल्प की अभिव्यक्ति है अतः स्वतन्त्रता और कानूनों की आज्ञाकारिता में कोई विरोध नहीं है।"

रूसो के अनुसार कानून ही समाज में समानता लाता है और कोई भी राज्य केवल तभी तक वैध है जब तक वह कानून के अनुसार कार्य करता है। स्पष्ट है कि रूसो भी कानून को उसकी प्रकार सर्वोच्चता देता है जिस प्रकार प्लेटो ने दी थी। अन्तर केवल यही है कि रूसो अपने कानून रूपी प्रभु को सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है।

कानून पर विचार करते समय रूसो ने विधि निर्माता की आवश्यकता को नहीं भुलाया है। सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने के लिए विधि निर्माता तथा विधायक का होना जरूरी है। किन्तु रूसो इसके लिए अद्वितीय बौद्धिक क्षमतायुक्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की ही संस्तुति करता है।

16.11.2 रूसो का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का महान पैगम्बर था। अपने ग्रन्थ 'Social Contract' में उसने लिखा है- “स्वतन्त्रता मानव का परम आन्तरिक तत्त्व है।” स्वतन्त्रता मानवता का प्राण है जिसके अपहरण का अर्थ है मानवता का विलोप होना। स्वतन्त्रता ही नैतिकता का आधार है। स्वतन्त्र भाव से काम करने पर ही उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है। जड़वत कार्य करने में नैतिकता की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। रूसो सम्प्रभु और सरकार में विभेद करता है। यदि सरकार सम्प्रभु की शक्ति का अपहरण कर ले तो सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है और समस्त नागरिक अपनी उस नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज में आने पर उन्होंने त्याग दिया था पर चूँकि अनुबन्ध सहमति पर आश्रित है अतः अनुबन्धवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुमोदन है।

रूसो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं लेता। समाज द्वारा सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए नियमों का पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उसके विरुद्ध किया गया आचरण सामान्य इच्छा की अवहेलना करना होगा। जो स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता होगी।

अतः स्मरणीय है कि रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति को मनुष्य के प्राकृतिक नहीं अपितु राज्य-प्रदत्त नागरिक अधिकार मानता है।

16.11.3 रूसो का समानता विषयक विचार

रूसो की मान्यता है कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। यद्यपि भौतिक असमानताएँ नष्ट नहीं हो सकतीं किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। रूसो यह भी नहीं चाहता कि किसी को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह उसका निरंकुश प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग तो कानून और पद के अनुरूप ही करना होगा। राज्य का आर्थिक स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक इतना धन सम्पन्न हो कि वह दूसरे को खरीद ले और न गरीब एवं साधनहीन हो कि वह स्वयं को ही बिक जाने दे। रूसो के इन विचारों से धन की भयावह विषमताओं के प्रति उसकी घृणा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

16.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार

रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। वह हॉब्स की तरह धर्म को राज्याधीन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं- (1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म एवं (3) पुरोहित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपने संस्थाओं और अपने आन्तरिक विश्वासों पर आधारित है। यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अव्यावहारिक है। वैयक्तिक धर्म ईश्वरीय नियमों पर आधारित आडम्बरहीन सहज धर्म है।

नागरिक धर्म राष्ट्रीय तथा वाह्य और संस्कारों, रूढ़ियों तथा विधियों से निश्चित है। नागरिक धर्म रूसो की एक निराली कल्पना है जो सम्भवतः उसके मस्तिष्क में प्लेटो के 'लॉज' एवं अन्य यूनानी विचारकों के चिन्तन से उत्पन्न हुई है। रूसो ने समाज को दृढ़ करने के लिए नागरिक धर्म की कल्पना की है। रूसो ने इस धर्म के बीच विधेयात्मक सूत्र बताए हैं- (1) ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना और यह मानना कि वह परमज्ञानी, दूरदर्शी और दयालु है, (2) पुनर्जन्मवाद में विश्वास (3) पुन्यात्मा सुख पायेंगे, (4) पापात्मा दण्ड भोगेंगे तथा (5) सामाजिक अनुबन्ध और विधियों की पवित्रता की रक्षा करना महत् कर्तव्य है। रूसो ने नागरिक धर्म का केवल एक निषेधात्मक सूत्र बतलया है और वह है असहिष्णुता। इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियों के लिए राज्य में स्थान नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि रूसो नागरिक धर्म पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिकूल

आचरण करने वालों का वध करने का समर्थन करता है। आलोचकों का तर्क है कि रूसो का यह विचार निरंकुशता को प्रोत्साहन देने वाला है जो उसकी उदारता को समाप्त कर देता है।

पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितों-पादरियों द्वारा दिया जाता है। यह धर्म सबसे निष्कृष्ट है क्योंकि यह दो तरह के प्रधानों अथवा सत्ताओं को जन्म देता है और जनसाधारण को परस्पर विरोधी कर्तव्यों में फँसा देता है। फलस्वरूप संघर्ष और कहल का वातारण उत्पन्न होता है और राज्य की प्रगति में बाधा पहुँचती है।

रूसो के अनुसार राज्य को नागरिक विश्वासों के धर्म पर जो सामाजिकता और सज्जनता पर बना है चलना चाहिए।

16.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार-रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके श्मूउपसमश् नामक ग्रन्थ में है जिसमें शिक्षा का उद्देश्य 'मनुष्य की निर्वासित प्रकृति की पुनर्स्थापना बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के कारण उसे प्रगतिवादी शिक्षा का जनक माना जाता है। रूसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को संवार कर उसे वैभवशाली बनाए। रूसो ने शिक्षा-योजना और शिक्षण विधि जो विचार दिए हैं, वे आज भी शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। रूसो अपने समय की शिक्षा व्यवस्था का विरोधी था। उसने लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जिनके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय। बाल-शिक्षा को पादरियों के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओं के कारण पादरी वर्ग उससे रूष्ट हो गया। उसने उसके ग्रन्थ 'एमिल' को अग्नि के भेंट चढ़ा दिया और फ्रांस की संसद तथा जेनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की।

16.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना

इनमें सबसे पहले बड़ा अन्तर जो हम देखते हैं वह यह कि सोशल कॉन्ट्रैक्ट में हमें इस बात का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता है कि प्राकृतिक अवस्था कैसी थी और कौन से उद्देश्यों से मनुष्य राज्य की स्थापना करने के लिये उत्प्रेरित हुये। इसके विपरीत, हाब्स तथा लॉक ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी के साथ-साथ रूसो के लेखों में प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों का जिनका कि हाब्स तथा लॉक की विचार प्रणालियों में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, पूर्ण अभाव है। इन दोनों बातों का अभाव महत्वपूर्ण है, यह इस बात का सूचक है कि रूसो के मस्तिष्क में संविदा सिद्धान्त का स्थान केवल गौण है।

दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ तक कि संविदा की शर्तों का सम्बन्ध है, रूसो, हाब्स के सदृश परन्तु लॉक के विपरीत, व्यक्ति द्वारा अपनी समस्त शक्तियों के समर्पण की कल्पना करता है। परन्तु रूसो तथा हाब्स में एक स्पष्ट अन्तर है। हाब्स के मतानुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह को करता है जो कि संविदा में कोई पक्षकार नहीं है, बल्कि उससे बाहर है, किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। इन दोनों धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है जबकि लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है, केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है, अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास अक्षुण्ण रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हाब्स तथा रूसो, दोनों के अनुसार (निःसन्देह दोनों में आधारभूत अन्तर तो है ही) राज्य निरंकुश अर्थात् एक नश्वर-देव बन जाता है, किन्तु लॉक के अनुसार राज्य का अधिकार सीमित रहता है। तीनों विचारकों के इस अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

तीसरा अन्तर हम यह देखते हैं कि हॉब्स के अनुसार संविदा के फलस्वरूप जिस इच्छा का उदय होता है, वह वास्तविक होती है क्योंकि वह एक व्यक्ति की इच्छा होती है, परन्तु इसी कारण वह सामान्य नहीं हो सकती, लॉक में उस इच्छा को सामान्य तो कहा जा सकता है, क्योंकि वह बहुमत की इच्छा है, परन्तु वह वास्तविक नहीं होती क्योंकि वह एकात्मक नहीं होती, रूसो में वह वास्तविक तथा सामान्य दोनों है। वह वास्तविक इसलिये है क्योंकि वह समाज जिसकी इच्छा वह होती है, एक नैतिक तथा सामूहिक व्यक्ति होता है और इसलिये एकात्मक है, वह सामान्य है, क्योंकि वह समस्त नागरिकों की एक सामूहिक इच्छा है।

चौथा अन्तर इस प्रकार है कि रूसो का नश्वर-देव एक सम्पूर्ण समाज है, जबकि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति। दोनों में इस महत्वपूर्ण अन्तर के अतिरिक्त इतना ही महत्वपूर्ण एक अन्तर और भी है, वह यह है कि हॉब्स के नश्वर-देव का व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों शक्तियों के ऊपर अधिकार है और इसलिये यह निरंकुश है और प्रजाजन दास, किन्तु रूसो का सम्प्रभुता सम्पन्न समाज केवल व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग करता है। कार्यपालिका शक्तियों को वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा नौकर है। इस प्रकार से रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, रूसो में सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है, जबकि हॉब्स में दोनों एकरूप है।

लॉक के मतानुसार सरकार को न्यास कहकर पुकारा गया है, उनकी शक्तियाँ धरोहर के रूप में हैं, संविदात्मक नहीं। यहाँ तक तो लॉक तथा रूसो में कुछ साम्य है। परन्तु जबकि रूसो सम्प्रभुता सम्पन्न जनता को अपनी व्यवस्थापिका शक्तियों को किसी प्रतिनिधि निकाय के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग साधारणतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए। सारांश यह है कि जब कि रूसो संसदात्मक संस्थाओं का बहिष्कार करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करता है जिसमें न प्रतिनिधि हो न दल, लॉक संसदात्मक संस्थाओं का पक्का समर्थक था।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि संविदा सिद्धान्त की कुछ विशेषतायें रूसो, हॉब्स से और कुछ लॉक से ग्रहण करता है और उनका सम्मिश्रण करके एक नवीन सम्पूर्ण सिद्धान्त तैयार करता है। उसकी सम्प्रभुता की परिभाषा में हॉब्स जैसी पूर्णता तथा सुनिश्चितता है किन्तु उसे वह जनता में रखता है जिससे निस्सन्देह लॉक प्रसन्न हुआ होगा।

अभ्याय प्रश्न-

1. रूसो का जन्म किस देश में हुआ था।
a. स्विट्जरलैंड b. फ्रांस c. इटली d. जर्मनी
2. “विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में सहयोग दिया है”-यह किसका कथन है-
a. बोदाँ b. हाब्स c. लॉक d. रूसो
3. निम्न में से कौन सा/से ग्रन्थ रूसो द्वारा लिखित है।
a. सोशल कान्ट्रैक्ट ;b. इमाइल
c. लॉ नॉवेल हेल्थीयज d. उपरोक्त सभी
4. निम्न में कौन सा/से ग्रन्थ रूसो के हैं-

- a. कन्फैशन्स b. रिवरीज c. डाइलौग्स d. उपरोक्त सभी
5. 'सामान्य इच्छा' को सामाजिक संविदा का मूलतत्त्व कौन मानता है।
- a. लॉक b. हॉब्स c. रूसो d. बोदॉ

16.13 सारांश

रूसो के मूल्यांकन के विषय में आलोचकों में घोर मतभेद है। जहाँ वेपर, कोल, लैसन आदि ने रूसो की खुलकर प्रशंसा की है वहाँ वाल्टेयर, बर्क, मार्ले आदि ने रूसो की कटु आलोचना की। एक ओर रूसो को महान दार्शनिक पुकारा गया है और दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा सभ्यताहीन कहा गया है। जी०डी०एच० कोल ने रूसो को राजदर्शन का पिता कहा है और उसके 'सोशियल कॉन्ट्रैक्ट' को राजदर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कॉन्स्टेन्ट ने रूसो को प्रत्येक प्रकार के अधिनायकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह अन्य कतिपय विद्वानों ने रूसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वाधिकारवाद का पोषक बतलाया है।

इन परस्पर विचारों के लिए रूसो स्वयं उत्तरदायी है। उसने विरोधाभास संयुक्त वाक्यों का प्रयोग इतनी अधिकता से किया है कि वे पाठक के मस्तिष्क में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही उसने अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों को कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नहीं दी है उल्टे किन्हीं-किन्हीं शब्दों को उसने अनेक स्थानों पर विभिन्न अर्थों के लिए प्रस्तुत किया है।

किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारों का प्रकट करते हुए भी रूसो ने राजदर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। वह सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता और स्वाधीनता में समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बड़ा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नींव डाली है। रूसो ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून एवं सरकारी कानून के बीच स्पष्ट भेद किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही आधुनिक मौलिक अथवा सांविधानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग में इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयात्मक कानून देश के मौलिक कानून के अनुकूल होने चाहिए। फ्रेंच क्रान्ति के समय रूसो के प्रभाव की तुलना उस प्रभाव से की जा सकती है जो धर्म-सुधार युग में बाइबिल का जनता पर पड़ा था अथवा 20वीं शताब्दी में रूसी जनता पर मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' ने डाला था। डॉयल ने ठीक ही लिखा है-रूसो ने घोर दुविधा एवं असन्तोष के समय में यूरोप के सामने एक प्राचीन और जर्जर ढांचे को तोड़ डालने का औचित्य प्रदर्शित किया तथा एक ऐसे आदर्श को उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के पश्चात् प्राप्त कर सकता था।

सेबाइन के अनुसार, "रूसो स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावनाओं के लिए उसे अपनाया सम्भव हो सका।" रूसो के विचारों का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। वह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वतन्त्रता को वह जीवन का परमतत्त्व मानता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका क्रान्तिकारी प्रभाव रहा। काँट कहता था कि सरल मानव की नैतिक वृत्तियों का महत्त्व उसे रूसो के ग्रन्थ से ही विदित हुआ। तार्किक वाग्जाल के बदले हृदय की सरलता पर जो ध्यान रूसो ने दिया वहीं मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वतन्त्रता की विराट

उद्धोषणा रूसो ने की और नैतिकता का इसे आधार बतलाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिकों पर पड़ा। इसी कारण हीगल ने कहा था कि रूसो के ग्रन्थों में ही स्वतन्त्रता की बुद्धिपूर्वक अभिव्यक्ति हुई है। स्वतन्त्रता के साथ ही समानता पर रूसो ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल लोकतन्त्र का ही नहीं अपितु समाजवाद का बीज भी रूसो के ग्रन्थों में निहित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा से तीन दृष्टि बिन्दुओं व्यक्तवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्र्यवाद को ग्रहरा प्रश्रय प्राप्त हुआ।

16.14 शब्दावली

1. सामान्य इच्छा- इस शब्द का आरम्भिक प्रयोग फ्राँसीसी विचारक डेनिस दीद्रो (1713-1784) ने अपने विश्वकोश में किया था फिर इसे जीन-जेकस रूसो (1712-1778) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सोशल कान्ट्रेक्ट' में विकसित किया। रूसो मनुष्य की तात्कालिक और तात्विक इच्छा में अन्तर करते हुये कहते हैं कि तात्कालिक इच्छा स्वार्थ आधारित होती है जबकि तात्विक इच्छा सबके हित एवं परमहित से जुड़ी होती है। सामान्य इच्छा पूरे समाज की तात्विक इच्छा को व्यक्त करती है।

2. लोकप्रिय प्रभुसत्ता- यह वह सिद्धान्त है जो साधारणतः नैतिक आधार पर जनसाधारण को प्रभुसत्ता का उपयुक्त पात्र मानता है। इस विचार के आरम्भिक संकेत प्राचीन रोमन विचारक मार्कस तुलियस सिसरो के दर्शन में दिखता है। किन्तु सबसे पहले चौदहवीं शताब्दी में इतावली दार्शनिक मार्सीलियो आफ पादुआ ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को पोप की सत्ता को चुनौती देने में प्रयोग किया। 18वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त जे0जे0 रूसो के राजनीतिक दर्शन का सार तत्व बना। टॉमस जैफर्सन ने भी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। लोकप्रिय प्रभुसत्ता की अनिवार्य शर्तें हैं: सार्वजनिक मताधिकार, विधानमण्डल पर सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का नियंत्रण और राष्ट्र के वित्त पर जन-प्रतिनिधियों के सदन का नियंत्रण।

3. भोला-भाला असभ्य जीव -ऐसा मनुष्य जिसकी कल्पना रूसो प्राकृतिक अवस्था में स्वतंत्र, सन्तुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय जीव के रूप करता है जो प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन यापन करता है।

16.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.a 2.d 3.d 4.d 5.c

16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास- जॉर्ज एच0 सेबाइन
2. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0टी0 जोन्स
3. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा
4. राजदर्शन का स्वाध्ययन- सी0एल0 वेपर

16.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

3. राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा

16.18 निबन्धात्मक प्रश्न

1. “रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स का शीर्षविहीन लेवियाथान है।” स्पष्ट करते हुए विश्लेषणात्मक व्याख्या कीजिए।

2. रूसो के विचार में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को उत्पन्न करने वाले कारणों पर प्रकाश डालते हुए विवेचनात्मक विश्लेषण करें।

3. आधुनिक राजनीतिक विचार को रूसो की देन का मूल्यांकन कीजिये।

4. रूसो का सामाजिक समझौता लॉक का ही सिद्धान्त है, जिसे हॉब्स की पद्धति द्वारा विकसित किया गया है। व्याख्या कीजिए।

5. रूसो ने लॉक के व्यक्तिवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य बिठाने का जो प्रयास किया है, उस में वह कहाँ तक सफल रहा है। विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

इकाई-17 : चार्ली-लुई द मांटेस्क्यू (1689-1755)

इकाई की रूपरेखा

- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 उद्देश्य
- 17.3 कृतियां
- 17.4 पद्धति
- 17.5 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
- 17.6 विधि सम्बन्धी विचार
- 17.7 सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार
- 17.8 स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
- 17.9 शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त
- 17.10 शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना
- 17.10.1 शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव एवं मूल्यांकन
- 17.11 अन्य सिद्धान्त
- 17.12 सारांश
- 17.13 शब्दावली
- 17.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 17.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 17.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें
- 17.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 17.18 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना-

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में जितने भी दार्शनिक हुए, उनमें रूसो को छोड़कर मॉण्टेस्क्यू सबसे महत्वपूर्ण था। मॉण्टेस्क्यू ऐसा विचारक था जिसने सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में मौलिक योगदान किया। उसे सामाजिक दर्शन की जटिलताओं का अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट ज्ञान था। यद्यपि उसने समाज एवं शासन पर विस्तार से व्यावहारिक अध्ययन किया, तथापि उसकी अधिकांश धारणाएँ ऐसी थीं जिनके लिए प्रमाण एकत्र करने का उसने प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने समाजविज्ञान, ऐतिहासिक अनुसन्धान, तुलनात्मक राजनीति-सिद्धान्त और कानून के विकास की भूमिक तैयार की, जिसके कारण ही उसे समकालीन राजनीतिक समाजविज्ञान और सांस्कृतिक मानव विज्ञान के अग्रदूत के रूप में याद किय जाता है।

मॉण्टेस्क्यू का जन्म एक विख्यात फ्रांसीसी वकील के घर में सन् 1889 में हुआ था। 66 वर्ष की अवस्था में 10 फरवरी, 1755 ई० को वह इस संसार से विदा हो गया। उसके जीवन में रूसो के समान विलक्षणता का अस्तित्व नहीं था, किन्तु अपनी रचनाओं, विशेषकर 'The Spirit of Laws' के कारण वह शिक्षित समाज में सदा के लिए अमर हो गया।

17.2 उद्देश्य-

मॉण्टेस्क्यू को अपने जीवन में रूसो की भाँति अभाव के दिन नहीं देखने पड़े। उसे अपनी माता से और तत्पश्चात् अपने ताऊ से विरासत में विशाल सम्पत्ति मिली और जिस महिला से उसने विवाह किया वह भी अपनी पैतृक सम्पत्ति लाई। यही कारण था कि वह सुख एवं शान्ति की जिन्दगी बसर करते हुए, सामाजिक एवं बौद्धिक कार्यों को करते हुए निश्चिन्त रूप से अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। उसने सन् 1728 में ऑस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड, इटली, हॉलैण्ड, हंगरी आदि अनेक देशों का भ्रमण करके अपने ज्ञान को समृद्ध बनाया। उसने इन देशों के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत कर समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1729 से 1731 ई० तक वह इंग्लैण्ड में रहा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक शक्तियों का विभाजन ही वहाँ की राजनीतिक प्रमुखता का स्रोत है। अपने भ्रमण से लौटकर वह लाब्रीडी (अपने जन्म-स्थान) में रहने लगा। यदा-कदा वह पेरिस भी चला जाता था।

मॉण्टेस्क्यू को फ्रांस की दुर्दशा देखकर बड़ा दुख होता था। वास्तव में उसका आविर्भाव एक ऐसे समय हुआ था जब फ्रांसीसी जनता करों के बोझ से पिस रही थी। जनता के पास तन ढकने का वस्त्र और पेट भरने को पूरा भोजन न था। राजा एवं उसके सामन्तों का जीवन ऐश्वर्य और विलास से परिपूर्ण था। कृषक वर्ग सामन्तों की दमनकारी नीति से और मध्यम वर्ग करों के बोझ से पीड़ित था। मॉण्टेस्क्यू तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अन्त करके फ्रांस में एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता था। अपने भ्रमण और इंग्लैण्ड के दो वर्षीय आवास से लौटकर उसने शासन-व्यवस्था के बारे में अपने विचारों को जनता के सामने रखा। शासन-सत्ता के विकेन्द्रीकरण अथवा विभाजन का समर्थन करते हुए उसने विधियों की परिभाषा एवं उत्पत्ति, सरकार की प्रकृति एवं उसका वर्गीकरण, राजस्व, सैनिक व्यवस्था आदि विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट किए।

17.3 मांन्टेस्क्यू की कृतियाँ

1. पर्सियन लेटर्स (Persian Letters)

2. रिफ्लेक्शन ऑन द कॉजेज आफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन आफ द रोमन्स (Reflection on the causes of the Greatness and Decline of the Romans)

3. द स्पिरिट ऑफ लॉज (The Spirit of Laws)

मॉण्टेस्क्यू के समस्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ उसके विदेश भ्रमण से लौटने के बाद ही लिखे गये, तथापि सन् 1721 ई० में जबकि वह केवल 32 वर्ष का था, उसकी एक कृति 'Persian Letters प्रकाशित हो चुकी थी जिसमें कुछ ऐसे कल्पित पत्रों का संग्रह था जिसके द्वारा फ्राँस के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन की स्वतन्त्र आलोचना की गई थी। चर्च, राज्य, राजा एवं देश की अन्य संस्थाओं पर व्यंग कसे गए थे और फ्रेंच समाज की मूर्खताओं तथा अन्धविश्वासों का मजाक उड़ाया गया था। यद्यपि यह पुस्तक बिना लेखक का नाम दिए ही प्रकाशित कराई गई थी, किन्तु यह बात छिपी नहीं रह सकी थी कि इसका लेखक मॉण्टेस्क्यू ही था। फ्राँस की पीड़ित सामान्य जनता मॉण्टेस्क्यू के इस चित्रण से अत्यन्त प्रभावित हुई।

सन् 1734 में मॉण्टेस्क्यू ने अपना ग्रन्थ 'Reflection on the Causes of the Greatness and Decline of the Roman प्रकाशित कराया जिसमें उसने उन प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया जो विभिन्न देशों के इतिहासों के अध्ययन के कारण उस पर हुई थीं। यह ग्रन्थ उसके दर्शन के स्वरूप एवं पद्धति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। इस ग्रन्थ में उसका यह विश्वास झलकता है कि सामान्य कारणों में से घटनाओं का उदय होता है और ऐतिहासिक घटनाएं एवं प्रक्रियाएँ संयोग से नहीं प्रत्युत् कुछ निश्चित सिद्धांतों द्वारा अनुशासित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू ने रोमन इतिहास का अध्ययन, रोम के पतन के कारणों को समझकर भविष्य के लिए सबक सीखने की दृष्टि से किया था और इसलिए यह मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती कि उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्वों में रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थानों का स्थान अग्रणी था।

सन् 1748 में मॉण्टेस्क्यू का अमर ग्रन्थ 'The Spirit of Laws प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उसने सरकार के भेद, विधि, आर्थिक एवं सैनिक व्यवस्था, सामाजिक परम्पराओं एवं नागरिक चरित्र, धार्मिक समस्याओं आदि पर अपने विचार प्रकट किए। मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ 18वीं शताब्दी के गद्य की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जो अपनी शैली और विषय-सामग्री दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय है। मैक्सी के अनुसार "यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजनीतिक विज्ञान को उन पुस्तकों में जो कभी भी लिखी गई हैं 'स्पिरिट ऑफ लॉज' सबसे अधिक पठनीय ग्रन्थ है।" डनिंग ने लिखा है कि इस पुस्तक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह विशुद्ध राजनीति की बजाय समाजशास्त्र की पुस्तक बन गई है। 'स्पिरिट ऑफ लॉज' 31 अध्यायों में विभक्त है। विचारों की दृष्टि से इसे मोटे तौर पर छः भागों में विभाजित किया जा सकता है- पहले भाग में कानून और सरकार का चित्रण है, दूसरे भाग में राजस्व तथा सैनिक व्यवस्था आदि पर विचार किया है, तीसरा भाग सामाजिक परम्पराओं की व्याख्या करता है और बतलाता है कि एक देश के नागरिकों के चरित्र-निर्माण में वहाँ के भौगोलिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, चौथे भाग में आर्थिक विषयों की, पाँचवें भाग में धर्म सम्बन्धी समस्याओं की और छठे भाग में विभिन्न देशों के कानूनों की चर्चा की गई है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ सभी प्रकार के पाठकों को चिन्तन की कुछ न कुछ सामग्री प्रदान करता है। इसीलिए, मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही इसके 22 संस्करण छपे और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में उसके अनुवाद हुए।

17.4 मॉण्टेस्क्यू की पद्धति

मॉण्टेस्क्यू समाजशास्त्री और ऐतिहासिक पद्धति का समर्थक था। अनेक समालोचकों की दृष्टि में उसकी देन पद्धति के क्षेत्र में है, सैद्धान्तिक क्षेत्र में नहीं। 'The Spirit of Laws की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसकी यह पद्धति ही थी जो समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न थी। उसने प्लेटो, हॉब्स और रूसो के समान बुद्धिवादियों द्वारा अपनाई गई उस पद्धति का तिरस्कार किया जिसके अनुसार वे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं को लेकर चलें और इन पूर्व निर्धारित मान्यताओं के आधार पर उन्होंने एक आदर्श राज्य का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण तथा निरीक्षण, पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। वह ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण के द्वारा निष्कर्ष निकालकर इतिहास से उनको पुष्ट करता था। उसने राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा अपने मार्गों को पुष्ट किया और तुलनात्मक पद्धति द्वारा उनके अपेक्षित महत्व का पता लगाया। मॉण्टेस्क्यू की पद्धति के स्वरूप को 'Persian Letters से उद्धृत उसके इस कथन से बहुत कुछ माना जा सकता है- "मैंने इस बात पर प्रायः विचार किया है कि सरकार के विभिन्न रूपों में से कौन सा रूप बुद्धि के सबसे अधिक अनुकूल है और मुझे यह प्रतीत होता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अधिकाधिक अनुकूल उसका पथ प्रदर्शन करें।" इस कथन का अभिप्राय यही है कि यह आगमन तर्कशास्त्रीय विद्वानों द्वारा अपनाई गई पद्धति का विरोध था और सरकार की किसी ऐसी अमूर्त योजना की रचना में विश्वास नहीं करता था जो समस्त देश और काल के लिए अनुकूल हो। वह समकालीन प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन और समकालीन मानव-समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव की नींव पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का महल खड़ा करने को प्रयत्नशील हुआ था। डनिंग के शब्दों में "राजनीतिक समस्याओं का समाधान की दृष्टि से उसकी पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदाँ, हॉब्स या लॉक की नहीं अपने समकालीन सब विचारकों की भाँति वह अपने न्याय के लिए, विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है, किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षाएँ अथवा नियम विशुद्ध तर्क की अमूर्त कल्पनाओं पर आधारित नहीं है, अपितु वर्तमान और अतीत के जीवन के ठोस तथ्यों पर अवलम्बित है।" अरस्तू की लुप्तप्राय पद्धति को पुनः जीवनदान करने के कारण ही उसे 18वीं शताब्दी का अरस्तू तक कहा जाता है। रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थान वे मुख्य तत्व थे जिन्होंने उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित किया। इनके अध्ययन और अनुभव से उसने निगमनात्मक प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले।

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था मानवीय परम्पराओं एवं संस्थाओं में जलवायु, भूमि की भौगोलिक दशाओं तथा भौतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत भेद पाया जाता है और इस विभिन्नता के मूल में कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धान्त एवं आचरण के सामान्य आदर्श मिलते हैं जिन्हें जाना जा सकता है। इसलिये प्रो० जोन्स का कथन है कि, "मॉण्टेस्क्यू जो कार्य चाहता था, उसके दो पहलू थे। प्रथम, वह यह निर्धारित करना चाहता था कि ये आधारभूत एवं मूल सामान्य सिद्धान्त क्या हैं? द्वितीय, यह ज्ञात करना चाहता था कि यथार्थ जगत् में पाई जाने वाली विविधता को लाने वाले कौन से तत्व हैं? अन्त में, उसकी यह जानने की भी इच्छा थी कि वास्तव में इन विभिन्नताओं का उदय क्यों होता है, ताकि राजनीतिज्ञ और विधि निर्मातागण प्रत्येक प्रकार की सरकार को अधिकाधिक आदर्श के निकट लाने हेतु उन विभिन्नताओं को नियन्त्रित कर सकें।"

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि मानवीय संस्थाओं, परम्पराओं और कानूनों का उद्भव एकदम किसी दैविक स्रोत से नहीं होता बल्कि पेड़-पौधों की भाँति अनुकूल स्थितियों में इनका शनैः-शनैः विकास होता है और इसलिए

राजनीतिशास्त्र का उसका सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए, जिनमें धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि सभी विज्ञानों का अध्ययन सम्मिलित है। सरल रूप में यह कहना चाहिए कि मॉण्टेस्क्यू ने उन सभी विज्ञानों को राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत समझा था जिन्हें आजकल समाजशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है।

वास्तव में मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति अरस्तू, मैकियावली आदि पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि की थी क्योंकि जहाँ उनकी दृष्टि यूरोप के सभ्य राज्यों तक ही सीमित थी वहाँ मॉण्टेस्क्यू का अध्ययन और ज्ञान बहुत अधिक व्यापक था। जोन्स के इस कथन में कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती कि “ मॉण्टेस्क्यू का विशेष महत्व राजनीतिक सिद्धान्तों में नई देन के कारण इतना नहीं है जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन के पद्धति-शास्त्र का विकास करने में है।”

17.5 मॉण्टेस्क्यू का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार-

मॉण्टेस्क्यू ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए राज्य की उत्पत्ति का कारण उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थितियों को माना है। उसका विचार था कि प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान के लिए व्यक्तियों की सदस्यता अनिवार्य होती है। सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान परस्पर एक-दूसरे से स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार सम्बन्धित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति का अस्तित्व अन्य व्यक्तियों से उसके सम्बन्धों पर आधारित है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव का आरम्भिक अवस्था में निवास राज्यहीन वातावरण में था। अन्य विचारकों की भाँति मॉण्टेस्क्यू भी प्राकृतिक अवस्था की संज्ञा देता है। वह यह भी मत प्रकट करता है कि मनुष्य की यह प्राकृतिक अवस्था शान्त एवं उत्तम न थी। मनुष्य इस अवस्था में सदैव भयभीत रहता था किन्तु शनैः-शनैः परिस्थितियाँ बदलीं, मनुष्य में बुद्धि एवं ज्ञान का विकास हुआ और भय की अवस्था से वह मुक्त होने लगा। उसमें ऐसी भावनाएँ जाग्रत होने लगीं कि अपने से निर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने नियन्त्रण में रखा जाए। दूसरे शब्दों में मनुष्यों में अपने से निर्बलों पर शासन करने की भावना का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि युद्ध और संघर्ष की भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं क्योंकि सभी लोग एक-दूसरे को दबाकर उन पर शासन करने की दिशा में सोचने लगे। इस तरह मानव-इतिहास में एक ऐसी अवस्था आई जिसमें शासक और शासित इन दो वर्गों का आरम्भ हुआ। इस प्रकार, शासन करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, विशेष परिस्थितियों और उपयुक्त वातावरण के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

मॉण्टेस्क्यू ने मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था और राजकीय उत्पत्ति का जो चित्रण किया है वह हॉब्स और लॉक के विचारों से सर्वथा भिन्न है। उसने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को भीरू एवं मूर्ख बताया है। मॉण्टेस्क्यू सामाजिक संविदा के सिद्धान्त को पूर्णतया ठुकराकर राज्य की एक सावयविक कल्पना प्रस्तुत करता है और राज्य को वातावरण की उपज तथा स्वतः विकसित होने वाली संस्था मानता है। डॉयल ने लिखा है कि मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य, उसके सदस्यों में संविदा अथवा समझौते का परिणाम नहीं था अपितु अपने वातावरण की उपज था और प्रकृति के कानून के अनुशासित था। इस प्रकार, मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य का स्वरूप सावयव था।

17.6 मॉण्टेस्क्यू का विधि सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू के कानून अथवा विधि की धारणा ही वास्तव में वह सूत्र है जो शिक्षा, फ्राँसीसी राजतन्त्र के इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु, भूगोल, ब्रिटिश संविधान एवं बहुत से अन्य विषयों पर प्रकट किए गए असम्बद्ध विचारों को

एकता के बन्धन में बाँधता है। मॉण्टेस्क्यू की विधि सम्बन्धी धारणा उसकी अन्य सभी धारणाओं में सबसे अधिक कठिन किन्तु सबसे अधिक रोचक और महत्वपूर्ण है।

मॉण्टेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, जैसे कि प्लेटो एवं अरस्तू, तो दूसरे विचारक इसे उच्चतर शक्ति का आदेश (command of the Superior) मानते थे, जैसे कि बोदाँ एवं हॉब्स। मॉण्टेस्क्यू ने इन दोनों की मतों से असहमति प्रकट करते हुए कानून का अपना अलग ही लक्षण माना। उसने कहा कि कानून अपने विस्तृत अर्थ में 'वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं।' (Law are the necessary relations arising from the nature of things)। कानून को इतना व्यापक रूप देकर और कारण तथा कार्य के सामान्य सम्बन्ध (General relationship of cause and effect) को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करके मॉण्टेस्क्यू ने वस्तुतः अपने ग्रन्थ 'स्पिरिट ऑफ लॉज' में कानून के एक नए दर्शन का निर्माण किया है। यही कारण है कि कतिपय समालोचकों ने कहा है कि "ऐतिहासिक विधि-शास्त्र का अध्ययन 'स्पिरिट ऑफ लॉज' से आरम्भ होता है।"

मॉण्टेस्क्यू द्वारा कानून का उपरोक्त लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समस्त जड़-चेतन वस्तुओं के सम्बन्ध में है। मॉण्टेस्क्यू यह मानता है कि प्रकृति-जगत बुद्धिहीन है क्योंकि उसमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं है। यह युगयुगान्तर से चला आ रहा था तथा उसे अनुशासित करने वाले नियम स्थायी, अविकारी और अपरिवर्तनशील हैं।

मॉण्टेस्क्यू मनुष्य को अज्ञानी और काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं के भँवर में फँस जाने वाला प्राणी स्वीकार करते हुए कहता है कि वह ईश्वर द्वारा प्रदान की गई वाक् शक्ति एवं अन्य शक्तियों का दुरुपयोग करता है। वह अपनी प्रजनन शक्ति का दुरुपयोग अपनी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए करता है। मनुष्यों के लिए यह स्वाभाविक है कि वह आवेगों में बहकर ईश्वर के प्रति अपने सम्बन्धों को विस्मृत कर दे अतः उसे इनका स्मरण कराने हेतु धर्म के कानून हैं।

मॉण्टेस्क्यू का कहना है कि अन्य सब नियमों के बनने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा के प्राकृतिक नियमों से अनुशासित होता था। उसके विचार से प्रकृति का प्रथम नियम आत्म-रक्षा, शान्ति एवं सुरक्षा की आकाँक्षा है। प्राकृतिक दशा का मानव डरपोक था। आत्मरक्षा की भावनाओं और संकटों से बचने के लिए तथा भोजन, वस्त्र एवं आवास की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मानव स्वभाव ने उसे सम्भवतः शीघ्र ही अन्य मनुष्यों के साथ संगठित होने के लिए उत्प्रेरित किया। प्रकृति का दूसरा नियम यह है कि "जीवन-निर्वाह और सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपने अन्य साथियों के साथ संगठित होना चाहिए।" मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार, मनुष्य परस्पर दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे और इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। मानवीय आचरण केवल प्रकृति के नियमों से अनुशासित नहीं रह सका। तब इस अवस्था में प्राकृतिक नियमों की पूर्ति मानव-कृत कानूनों द्वारा करनी पड़ी। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रकृति-जगत में केवल एक ही प्रकार के कानून होते हैं जबकि मानव-जगत में दो प्रकार के कानून होते हैं- जैसा कि जोन्स ने लिखा है "मानव कार्यों के क्षेत्र में प्राकृतिक कानून के अलावा एक प्रकार का कानून और होता है, जिसे मॉण्टेस्क्यू विधेयात्मक अथवा मानव-कृत कानून कहता है।"

मॉण्टेस्क्यू इन मानवीय कानूनों की प्रकृति को बतलाते हुए प्राकृतिक कानूनों से इनके अन्तर को प्रकट करता है। उसके अनुसार-

I. मानव-कृत कानून “विधायक द्वारा बनाए हुए विशिष्ट और सुनिश्चित संस्थान होते हैं।”

II. ये कानून सार्वभौम नहीं होते और न ही यह आवश्यक है कि वे अविकारी हों।

III. ये कानून परिवर्तनशील होते हैं, इन पर समाज के स्वरूप, जलवायु, धर्म नैतिक नियमों आदि का प्रभाव पड़ता है।

IV. समाज में होने वाले परिवर्तनों और विकास से मानव- सम्बन्धी कानून प्रभावित होते रहते हैं। देश, काल और समाज विशेष के चरित्र इनके स्वरूप में परिवर्तन लाते रहते हैं।

स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू समाज-विशेष के कानून को बाहर से थोपा गया कोई कृत्रिम कानून नहीं मानता। उनकी दृष्टि में तो यह बहुत से जटिल, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बन्धों का समूह है जो एक समाज में विभिन्न घटकों में परस्पर सम्बन्ध पाए जाते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज है जो समाज को उसका विशिष्ट और अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।

मानवीय अथवा सामाजिक कानूनों को मॉण्टेस्क्यू ने तीन वर्गों में विभाजित किया है-

I. अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो एक राज्य तथा दूसरे राज्य के सम्बन्ध में होते हैं। इनकी समीक्षा करने में मॉण्टेस्क्यू ने प्रोशियस का अनुकरण किया है, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने युद्ध के कानून की अपेक्षा शान्ति-धर्म पर अधिक बल दिया है।

II. राजनीतिक कानून जो शासक तथा शासित वर्ग के बीच होते हैं, इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का राज्य और सरकार से सम्बन्ध निश्चित होता है। ये कानून सरकार की शक्तियों को सीमित करके नागरिक अधिकारों की रक्षा करते हैं।

III. नागरिक कानून जो एक नागरिक का दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध बताते हैं।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार इन तीनों प्रकार के कानूनों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सब देशों और समाज के लिए एक सा होता है किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसका मत था कि कानून सापेक्ष होते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी होता है तथा होना भी चाहिए। कानूनों में भिन्नता इसलिए आती है क्योंकि देश, काल, भौगोलिक स्थिति आदि में भिन्नता है। कानून समाज में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। वे मानव से सम्बन्धित आवश्यक नियम हैं जिनके अनुकूल मनुष्य को चलना होता है। कानूनों का सम्बन्ध, विशेषकर राजनीतिक कानूनों का नागरिकों की चारित्रिक उच्चता से होता है। यदि कानून के पालन में व्यक्ति असमर्थता प्रकट करते हैं तो यह अवैधानिक जीवन है, जो सर्वथा अनुचित है। मॉण्टेस्क्यू ने कहा है कि सभी प्रकार के राजकीय कानूनों को ऐसा होना चाहिए, जिनसे भौगोलिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

17.7 मॉण्टेस्क्यू का सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू ने यूनानी दार्शनिकों का अनुसरण करते हुए सरकारों का वर्गीकरण किया है, किन्तु वह राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के परम्परागत वर्गीकरण के स्थान पर एक नवीन योजना प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार सरकार के तीन मूल रूप हैं- गणतान्त्रिक (Republic) राजतन्त्रात्मक (Monarchic) एवं निरंकुशतन्त्र (Despotic)

गणतान्त्रिक सरकार के उसने पुनः दो भेद किए हैं-

लोकतन्त्र (Democracy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy)। गणतन्त्र वह राज्य होता है जिसमें सर्वोत्तम शक्ति समस्त नागरिकों अथवा उनके एक भाग में निहित होती है। राजतन्त्रात्मक राज्य वह है जिसमें राज्य पर एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनों द्वारा शासन करता है। यदि वह व्यक्ति स्वेच्छाचारी रूप से गैर-कानूनी आचरण करते हुए शासन करने लगता है तो वह राज्य निरंकुशवादी हो जाता है। गणतन्त्र-राज्य में जब राजनीतिक सत्ता समूची जनता में होती है तो वह लोकतन्त्र होता है किन्तु जब सत्ता कुछ व्यक्तियों के अल्पसंख्यक वर्ग में होती है तो शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रत्येक प्रकार की शासन-पद्धति का अपना मौलिक सिद्धान्त होता है। 'सिद्धान्त' से उसका आशय है सरकार को गति प्रदान करने वाली मानव-भावना अथवा एक विशेष प्रेरक शक्ति। गणतन्त्र में वह शील या सदाचार के सिद्धान्त की प्रधानता बतलाता है। 'शील' से उसका तात्पर्य किसी आध्यात्मिक विराट नियम से नहीं है वरन् देश-प्रेम, राजनीतिक ईमानदारी और समानता की भावना से है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार राजतन्त्र का सिद्धान्त है 'सम्मान' अथवा गौरव की भावना। यही भावना राज्य के प्रत्येक वर्ग को गति प्रदान करती है और उन्हें परस्पर सम्बद्ध रखती है। 'सम्मान' की यह वृत्ति वर्ग के अधिकारों की रक्षा के प्रति जागरूकता में व्यक्त होती है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों के बारे में सोचते हुए भी समस्त के कल्याण के लिए कार्य करता है। निरंकुश शासन का सिद्धान्त है भय। निरंकुश नरेश की दण्ड-शक्ति सर्वत्र अपना आतंक फैलाती है। राजतंत्र और निरंकुशतन्त्र में मूल अन्तर यह है कि जहाँ राजतन्त्र कानून-सम्मत शासन होता है वहाँ निरंकुशतन्त्र कानून-विहीन शासन हो जाता है। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू द्वारा व्यक्त ये सिद्धान्त उन मनोवैज्ञानिक भावनाओं और वासनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनसे सरकार को क्रिया-शक्ति प्राप्त होती है। इन मानव वासनाओं से ही सरकार परिचालित है। सरकार के 'सिद्धान्तों' की विवेचना में 'शील' पर बल प्रदान करना मॉण्टेस्क्यू की यूनानी-रोमन विचारधारा की निष्ठा को पुष्ट करता है। यूनानी और प्राचीन रोमन गणतन्त्र में राजनीतिक अनुरक्ति और समष्टि शक्ति को महत्वपूर्ण माना गया था।

जिस प्रकार सरकार के 'सिद्धान्त' की विवेचना मॉण्टेस्क्यू ने की है उसी प्रकार सरकार के 'स्वरूप' की भी की है। सिद्धान्त से उसका तात्पर्य मनोवैज्ञानिक वासनाओं से है, स्वरूप से वह सरकार की बनावट का अभिप्राय ग्रहण करता है। मॉण्टेस्क्यू ने किसी भी शासन को आदर्श नहीं माना है। उसने आदर्श रूप में सर्वोत्तम राज्य की धारणा को असम्भव और प्रभावपूर्ण कहकर ठुकरा दिया है। किसी भी प्रकार की विधियाँ सार्वभौमिक आधार पर अच्छी नहीं मानी जा सकती। इसका निश्चय तो ऐतिहासिक एवं सापेक्षिक आधार पर किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू सापेक्षतावाद का उपासक है और यह विश्वास करता है कि विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का

अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभावी हो जाती है। शासन का रूप भौतिक परिवेश पर निर्भर करता है जो देश-देश में भिन्न-भिन्न होता है। कानूनों में भी इसीलिए विविधता होती है। जो कानून एवं राजनीतिक संस्थान ठण्डे प्रदेशों के निवासियों के अनुकूल हो सकते हैं, उनका गर्म प्रदेशों के निवासियों के लिए उपयुक्त होना अधिकांशतः सम्भव नहीं है।

मॉण्टेस्क्यू ने गणतन्त्र, राजतन्त्र एवं निरंकुशतन्त्र को क्रमशः 'प्रकाश, गोधूलि एवं अन्धकार' बतलाया है। गणतन्त्र 'प्रकाश' इसलिए है कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर बल दिया जाता है। गणतन्त्रीय शासन व्यावहारिक नहीं है क्योंकि आधुनिक विशाल राज्यों में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। यह केवल यूनान के नगर-राज्यों या कम क्षेत्र वाले राज्यों में ही सम्भव था। मॉण्टेस्क्यू का राजतन्त्र आधुनिक बड़े राज्यों में भलीभाँति हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह फ्रांसीसी राजतन्त्र से प्रेम करता था। राजतन्त्र के समर्थन का एक बड़ा कारण यह भी था कि मॉण्टेस्क्यू यथार्थवादी था और वह जानता था कि राजतन्त्र की जड़ों को उखाड़ फेंकना सरल कार्य नहीं है। निरंकुशतन्त्र का मॉण्टेस्क्यू कट्टर विरोधी था क्योंकि इस शासन में धन, वाणिज्य, उद्योग सभी कुछ खतरे में पड़े रहते हैं और प्रजा की स्थिति दास जैसी होती है।

17.8 मॉण्टेस्क्यू का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू पर इंग्लैण्ड के संविधान का व्यापक प्रभाव पड़ा था। अधिकारी-वर्ग की सत्तारूढ़ता के बदले ब्रिटेन में स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था। सत्ता का मद, पतन का निश्चित मार्ग है, इसका मॉण्टेस्क्यू को विश्वास हो गया था। यही कारण था कि 'Spirit of Laws' में स्वतंत्रता की धारणा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। अंग्रेजों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की अनुभूति वह फ्रांस में देखना चाहता था। उसने ब्रिटिश शासन-प्रणाली का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वतन्त्रता की व्यापक अर्थ में परिभाषा करते हुए कहा था कि "यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहा है।" जब व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता।

मॉण्टेस्क्यू ने स्वतन्त्रता के दो स्वरूप बतलाए हैं-

1. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty), एवं
2. नागरिक या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Civil Liberty)।

राजनीतिक स्वतन्त्रता राजकीय कानून द्वारा अनुमोदित कोई भी कार्य करने की स्वाधीनता है। मॉण्टेस्क्यू के ही शब्दों में, "राज्य में, अर्थात् कानून द्वारा निर्देशित समाज में स्वतन्त्रता का अर्थ है कि एक व्यक्ति को उन कामों के करने की स्वाधीनता हो जो करने योग्य है और जो काम नहीं करने चाहिए, उनको करने के लिए उसे विवश न किया जाए।" व्यक्ति को क्या इच्छा करनी चाहिए इसके सर्वश्रेष्ठ सूचक राजकीय कानून हैं, और इसीलिए "स्वतन्त्रता वह कार्य करने का अधिकार है जिसकी कानून इजाजत देते हैं और यदि नागरिक ऐसे कार्य कर सकता है जिसका कानून विरोध करते हैं तो उसके पास स्वतन्त्रता नहीं रह पाएगी, क्योंकि अन्य सब नागरिकों को भी वैसी ही शक्ति प्राप्त होगी।" स्पष्टतः मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि स्वतन्त्रता कानूनों के प्रति अधीनता में है मनुष्य के प्रति अधीनता में नहीं।

मॉण्टेस्क्यू के इस विचार से कि जब मनुष्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रहता, एक कठिन समस्या तब खड़ी हो जाती है जब राज्य के कानून और व्यक्ति के नैतिक विश्वास में संघर्ष उठ जाता है। मॉण्टेस्क्यू इस कठिनाई से परिचित था। अतः उसने स्पष्ट कर दिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राजकीय कानून, जो हमारे आचरण को विनियमित करते हों, 'सद्' के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित रहने वाले और जनता के नैतिक विश्वासों से सामंजस्य किए जा सकने वाले हों, प्रत्युत आवश्यक यह है कि नागरिक कानूनों से परिचित हों और कानून का उल्लंघन करने पर दण्डनीय हों।

मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक स्वतन्त्रता के विश्लेषण से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं:-

1. राजनीतिक स्वतन्त्रता में शासक एवं शासितों के सम्बन्धों का स्थायित्व अभिनिहित है।
2. राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा विधि-सम्मत-शासन में निहित है।
3. इस स्वतन्त्रता में विधि का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।
4. राजनीतिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा अनुमोदित व्यवहार का ही नाम है।

मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। डनिंग के अनुसार, "मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता की परिभाषा स्पष्ट रूप से नहीं की है, किन्तु उसके विचारों से यह स्पष्ट है कि शासनतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्तियों को पूर्णरूपेण प्राप्त हो सके। पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्तियों को तभी मिल सकती है जब शासनतन्त्र असीमित शक्ति-सम्पन्न या निरंकुश न हो।" मॉण्टेस्क्यू के मत में नागरिक स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। दासता के साथ इसका वही सम्बन्ध है जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा मॉण्टेस्क्यू ने दास-प्रथा पर कठोर प्रहार किया है और इसे नितान्त अमानवीय, अप्राकृतिक एवं ईसाई धर्म विरोधी माना है।

17.9 मॉण्टेस्क्यू का शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

सेबाइन ने लिखा है, "मॉण्टेस्क्यू के समसामयिक विचारों के महत्व का कारण यह था कि उसने ब्रिटिश संस्थाओं को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन बतलाया और इस रूप में इसका प्रचार किया। मॉण्टेस्क्यू कुछ समय इंग्लैण्ड में रहा था। वहाँ रहने से उसकी यह पूर्वधारणा दूर हो गई थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक उच्चतर सद्गुण के ऊपर आधारित है। यह सद्गुण केवल रोमनों को ही ज्ञात था और इसे केवल नगर-राज्य में ही सिद्ध किया गया था। उसने निरंकुशता के प्रति उसकी अरुचि को सार रूप प्रदान किया और एक ऐसे उपाय का निर्देश किया कि जिसके द्वारा फ्राँस के निरंकुशतावाद के दुष्परिणामों को दूर किया जा सकता है।

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रथम सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्या मॉण्टेस्क्यू द्वारा यह की गई- कि सत्ता का मद पतन का निश्चित मार्ग है अतः इसके लिए रोक और समतोलन या सन्तुलन आवश्यक है। स्वतन्त्रता तभी बनी रह सकती है जब कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका अपना कार्य अलग-अलग सम्पादन करें तथा एक दूसरे के क्षेत्र पर हावी न हों। शक्ति का एक अंग यदि दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप न करे तो शक्ति का समतोलन रह सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने यह मत प्रकट किया कि जहाँ विधि-निर्माण और कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होंगी वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि एक ही व्यक्ति कानून-निर्माता भी होगा

और कानून को क्रियान्वित करने वाला भी। इसी प्रकार यदि विधायी और न्यायिक शक्तियों का संचय भी एक ही व्यक्ति के हाथों में कर दिया जाएगा तो प्रजा अपने जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकेगी क्योंकि विधियों का निर्माण करने वाला ही विधियों की व्याख्या करके न्याय का निर्णायक बन जाएगा। इसी तरह यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों का भी एक ही शक्ति स्वामी रहेगा तो स्वतन्त्रता की रक्षा असम्भव है, क्योंकि एक ही संस्था अभियोक्ता भी होगी और न्यायाधीश भी। पुनश्च, यदि विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी कार्यों का समर्पण एक व्यक्ति के हाथों में होगा तो विनाश अवश्यम्भावी है। संक्षेप में, मॉण्टेस्क्यू का सूत्र यह था कि कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी तथा न्याय विभागीय कृत्यों का एकमात्र व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में केन्द्रीकरण का अधिकार दुरुपयोग करने वाला होता है और सरकार का इस प्रकार का संगठन आतंकपूर्ण है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू के अनुसार यह परम आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् रहें और कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

मॉण्टेस्क्यू पूर्ण पृथक्करण का पक्षपाती था अथवा आंशिक पृथक्करण का, इस सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि वह 'शक्ति, शक्ति का विरोध करती है' में विश्वास करता था। वह चाहता था कि सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ इस प्रकार रखी जाएं कि एक शक्ति दूसरी शक्ति के मुकाबले सन्तुलन और प्रतिरोध उत्पन्न करती रहे। फाइनेर ने मॉण्टेस्क्यू की धारणा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "मॉण्टेस्क्यू की इच्छा थी कि क्राउन की शक्तियाँ सीमित रहें और संविधान ऐसा साधन बने जिसके माध्यम से शक्ति का स्रोत बहे। पर ये स्रोत अपनी सीमाएं पार न कर पाएं, अन्यथा लोगों में त्राहि-त्राहि मच सकती है। परन्तु अपनी इन मान्यताओं के बावजूद भी मॉण्टेस्क्यू पूर्ण लोकतन्त्र की मान्यताओं से दूर न रहने का प्रयास कर रहा था।"

मॉण्टेस्क्यू चाहता था कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका को आहूत करे, उसका कार्यकाल निश्चित करे और व्यवस्थापन की व्यवस्था करे। वह इस पक्ष में भी था कि व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर महाभियोग लगा सकती है। आगे चलकर उसने कहा कि चाहे व्यवस्थापिका कार्यपालिका-प्रधान पर दोषारोपण न कर सके, पर चूँकि समस्त कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग केवल कार्यपालिका का प्रधान ही बिना अपने सहयोगियों की मदद के अकेला नहीं कर सकता, अतः जिन सहयोगियों को विधिवत मन्त्री कहा जाता है उन पर व्यवस्थापिका द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है, चाहे विधियाँ उसको प्रथा होने के नाते बचाने वाली ही क्यों न हों।

17.10 मॉण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना-

मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन या शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. व्यावहारिक दृष्टि से शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सरकार के तीनों अंगों का पृथक् रहने पर भी परस्पर एक-दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं। पूर्ण पृथक्करण का अर्थ होता है प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना। शासन इस प्रकार के तीन सम्प्रभु शक्तियों के रहते हुए चल ही नहीं सकता।

2. शासन के तीनों अंगों में इतनी व्यापक घनिष्ठता पाई जाती है कि उनका पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक है। सरकार के विभिन्न अंगों द्वारा शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो, मिश्रित प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करते समय स्व-विवेक से कुछ ऐसे निर्णय लेते हैं और ऐसे नियमों का निष्पादन करते हैं जो आगे चलकर कानून बन जाते हैं। कार्यपालिकाध्यक्ष परिस्थितियों का सामना करने के लिए चाहे जो अध्यादेश

निकालते हैं वे भी व्यवहार में कानून के समान ही प्रभावी होते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा कई प्रकार के कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी कार्य किए जाते हैं। संसदीय व्यवस्था में तो कार्यपालिका ही व्यवस्थापन के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण किए रहती है। वस्तुतः राजनीति का कोई भी महत्वपूर्ण प्रश्न कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के स्पर्श से अछूता नहीं होता। फाइनेर के अनुसार “पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को कभी प्रलाप की ओर तथा कभी बेहोशी की ओर धकेलता रहता है।”

3. मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या भ्रामक आधार पर प्रस्तुत की। स्ट्रांग के शब्दों में, “शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारम्भ में इसे ब्रिटिश संविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया था जो बिल्कुल ही असत्य है और जो उस पर बिल्कुल भी लागू नहीं होता” क्योंकि ब्रिटेन में शक्तियों के सामंजस्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

4. शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अपने विशुद्ध अथवा पूर्ण रूप में सरकार की कार्य-क्षमता को नष्ट करने वाला है क्योंकि सरकार के अंगों के पारस्परिक सन्देशों और आन्तरिक संघर्ष के कारण प्रशासकीय योग्यता कुण्ठित होकर मर जाएगी और प्रत्येक विभाग में स्थानीय स्वार्थ का बोलबाला हो जाएगा। जे0एस0 मिल ने ‘प्रतिनिधि सरकार’ में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है कि कठोरता से लागू किया गया शक्ति-पृथक्करण संघर्ष को प्रोत्साहन देगा और जनमानस पर विपरीत प्रभाव डालेगा।

5. नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों के विभाजन पर इतनी आश्रित नहीं रहती जितनी संविधान की आत्मा पर। इंग्लैण्ड में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त न होते हुए भी अमेरिका से कम स्वतन्त्रता नहीं है।

6. यह सिद्धान्त असामयिक है जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ है वे आज बदल गई हैं। आज राष्ट्र शक्ति के लिए शासन में विभाजन की नहीं, एकता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त आज के लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार भी शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

17.11 मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव और मूल्यांकन

मॉण्टेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रोत्साहन प्रदान किया और क्रान्तिकारी काल की प्रायः सभी सरकारें शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर संगठित की गईं। नेपोलियन के शासन में इस सिद्धान्त की अवज्ञा की गई, किन्तु सर्वसाधारण के हृदय में यह सिद्धान्त अपना घर किए रहा और सांविधानिक सूत्र के रूप में आज भी इसकी प्रशंसा की जाती है।

अमेरिका में मॉण्टेस्क्यू के इस सिद्धान्त का प्रभाव निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉ0 फाइनेर का कथन है कि “हम नहीं कह सकते कि अमेरिकन संविधान के निर्माताओं ने संविधान में शक्तियों का पृथक्करण मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त से प्रभावित होकर किया था, या उनका उद्देश्य यह था कि नागरिकों की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों के पृथक्करण का आश्रय लेना ही चाहिए। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अमेरिकावासी एवं अमेरिकन संविधान-निर्माता मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे यद्यपि साथ ही वे स्वेच्छाचारिता को भी सीमित करना चाहते थे। बाद के इतिहास ने भी अमेरिकन संविधान में शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त को

मान लेने में हाथ बंटाय़ा पर फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अमेरिकन संविधान पर मॉण्टेस्क्यू की स्पष्ट छाप पड़ी थी। इसी कारण मेडिसन बार-बार कहा करता था कि ‘‘हम मॉण्टेस्क्यू की निरन्तर अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं।’’

इस सिद्धान्त की उपयोगिता यह बल देने में है कि शासन के तीनों अंगों के बीच अधिकार-विभाजन शासन की अच्छाई को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, किन्तु यह विभाजन उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक इन अंगों में सहयोग के लिए पूरा अवसर मिलता रहे। राजदर्शन के इतिहास में मॉण्टेस्क्यू का यह सिद्धान्त एक महान् सिद्धान्त के रूप में अविस्मरणीय है।

17.11 अन्य सिद्धान्त

मॉण्टेस्क्यू के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार कर लेने के बाद प्रसंगवश उसके अन्य कतिपय महत्वपूर्ण विचारों को भी साँकेतिक रूप में जान लेना उपयोगी है।

सबसे पहले हम भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव के बारे में मॉण्टेस्क्यू के विचारों को लेते हैं। उसका विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाओं पर भौतिक परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की जलवायु गर्म होती है उस देश के निवासियों में आलस्य-वृत्ति अधिक होती है। शीत-प्रधान देशों के निवासियों में क्रियाशीलता, स्फूर्ति और मद्यमान की प्रवृत्ति अधिक रहती है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है वैसी ही वहाँ के मनुष्यों की आवश्यकताएँ और जीवन-पद्धतियाँ होती हैं। स्वतन्त्रता और जलवायु में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ गर्म जलवायु एशियायी देशों में निरंकुश शासन संस्थाओं को पुष्ट करती है जबकि यूरोप की ठण्डी जलवायु निरंकुश शासन को सहन नहीं कर सकती और इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरता की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू का मत था कि ब्रिटेन का संविधान वहाँ की जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार भूतल की रचना भी राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रभावित करती है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्र सरकार के लिए तथा समतल मैदान निरंकुश शासन के लिए अच्छा आधार प्रस्तुत करते हैं। गहरी नदियों और ऊँची पर्वत श्रेणियों से रहित प्रदेशों में निरंकुश शासन इसलिए पनपते हैं क्योंकि ऐसे प्रदेशों को अर्थात् मैदानों को विजय करना आसान होता है। पर्वतीय प्रदेशों को विजय करना अपेक्षाकृत कठिन होता है, इसलिए वहाँ स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन विकास पाता है। चूँकि पर्वतीय प्रदेशों में खेती करना कठिन होता है अतः लोग पुरुषार्थी होते हैं। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार महाद्वीपों के निवासियों की अपेक्षा द्वीपवासियों में लोकतन्त्रात्मक भावनाएँ अधिक प्रबल होती हैं। महाद्वीपों में आक्रमणों का भय सदैव विद्यमान रहता है। वैधानिक शासन और प्रजातन्त्र छोटे राज्यों में उपयुक्त एवं सम्भव है जबकि विशाल राज्यों का शासन निरंकुश नरेश ही अच्छी तरह कर सकते हैं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानव-स्वभाव एवं प्रवृत्ति के निर्माण में भौतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव होता है, लेकिन इन्हें इतना महत्व नहीं दिया जा सकता जितना मॉण्टेस्क्यू ने दिया है। यदि मॉण्टेस्क्यू की जलवायु और भू-रचना सम्बन्धी धारणा को सही मान लिया जाए तो फिर क्या कारण है कि भारत और अन्य गर्म जलवायु वाले मैदानी देशों में स्वतन्त्र संस्थाएँ सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे विशाल देशों में लोकतन्त्रीय सरकारों की सफलता भी मॉण्टेस्क्यू की धारणाओं का खण्डन करती है।

मॉण्टेस्क्यू ने सामाजिक परिवेश के प्रभाव की भी चर्चा की है। सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार, आचार, विश्वास आदि मिलकर सामाजिक परिवेश का निर्माण करते हैं और एक देश के कानूनों तथा राजनीतिक संस्थानों पर इसका बड़ा

प्रभाव पड़ता है। जन-रीतियों और जन-आचरण के विपरीत जाने वाले राजकीय कानूनों का न तो सम्मान ही हो सकता है और प्रजा उनका स्वेच्छा से पालन ही करती है। अतः विधि-निर्माताओं को चाहिए कि वे सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए विधियों का निर्माण करें।

मॉण्टेस्क्यू ने धर्म को व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु माना है। राज्य को धर्म के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; तभी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी और राज्य के स्थायित्व में भी वृद्धि हो सकेगी। किसी समाज में कौन सा धर्म प्रचलित हो, इसका निर्धारण उस समाज की विशिष्ट स्थितियों द्वारा ही होना चाहिए। मॉण्टेस्क्यू ने धर्म पर विचार करते समय अपना यह निहित विश्वास व्यक्त किया है कि सीमित सरकार वाले देश में ईसाई धर्म, निरंकुशवादी राज्य में इस्लाम धर्म, राजतन्त्र में कैथोलिक धर्म और गणतन्त्र में प्रोटेस्टेन्ट धर्म सर्वाधिक उपयुक्त है। मॉण्टेस्क्यू रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली तथा पादरियों द्वारा विवाह न करने सम्बन्धी नियम का भी कठोर आलोचक था।

17.13 मॉण्टेस्क्यू का मूल्यांकन

मॉण्टेस्क्यू के बारे में प्रायः कहा जाता है कि उसका राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट और उलझा हुआ है। यद्यपि उसने व्यष्टिमूलक एवं ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है तथा व्यावहारिक राजनीतिक प्रश्नों की समीक्षा की है तथापि राज्य की उत्पत्ति और स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। उसके निष्कर्ष अप्रमाणित और संदिग्ध सूचनाओं पर आधारित हैं। विचार-व्यवस्था की शैली भी बिखरी और उलझी हुई है। ये दोष सम्भवतः इसीलिए रह गए हैं क्योंकि मॉण्टेस्क्यू का प्रतिपाद्य विज्ञान बहुत व्यापक था जिसे स्पष्ट करने में वह समुचित सन्तुलन और अनुशासन नहीं निभा पाया। इस कारण मॉण्टेस्क्यू की प्रतिभा को 'Genious of hasty generalisation' कहा गया है।

मॉण्टेस्क्यू के दर्शन में मौलिक प्रतिभा की कमी भी खटकती है। अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में उसने विवेक, परम्परा, धर्म, मानव-प्रवृत्ति आदि का इस तरह एकीकरण कर दिया है कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार शिथिल हो गया है। सरकारों के वर्गीकरण में भी मौलिकता का अभाव है। मॉण्टेस्क्यू यह भी नहीं बतलाता कि भ्रष्ट शासन द्वारा उत्पन्न अराजकता से बचने के क्या उपाय हैं। उसने राज्य-क्रान्तियों के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है और न ही निरंकुशतन्त्र को सुधारने के उपाय बतलाए हैं।

किन्तु इन सब कमियों के बावजूद मॉण्टेस्क्यू के महान् अनुदाय और प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके ग्रन्थ 'The Spirit of Laws' ने चाहे अठारहवीं और प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के राजदर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला, किन्तु बाद के राजनीतिक विचारकों ने उसके महत्व को समझा है। मॉण्टेस्क्यू के दर्शन को उसके समकालीन समय में सम्भवतः इसलिए नहीं समझा जा सका कि वह राजनीति शास्त्र के अध्ययन को न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सामान्य सामाजिक शास्त्रों से मिलाना चाहता था जबकि उसके समकालीन और कुछ परवर्ती विचारक राजनीति शास्त्र को अन्य शास्त्रों से सर्वथा पृथक् रखना चाहते थे। समकालीन चिन्तन से मॉण्टेस्क्यू का एक अन्तर यह था कि वह फ्रेंच राजतन्त्र को सुधारने का आकांक्षी था, वाल्टेयर तथा रूसो की भाँति उस पर आक्षेप करने वाला नहीं। जहाँ उसके समकालीन विद्वानों ने नागरिक-अधिकारों तथा राजा के विशेषाधिकारों पर बल दिया वहाँ मॉण्टेस्क्यू ने न्याय, स्वतन्त्रता, राज्य की कार्यक्षमता आदि व्यावहारिक प्रश्नों पर अधिक विचार किया।

मॉण्टेस्क्यू ने राजदर्शन के क्षेत्र में अनेक प्रकार से अमूल्य योग दिया है। उसका सबसे महान् अनुदाय 'स्वतन्त्रता का सिद्धान्त' है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए ही उसने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका विश्व की अनेक शासन-व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। मॉण्टेस्क्यू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रहस्य शक्ति-पृथक्करण में पाया, प्राकृतिक अधिकारों में नहीं। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वतन्त्रता का महान् समर्थक होते हुए भी मॉण्टेस्क्यू लोकतन्त्रवादी नहीं था। अपने स्वभाव और विचार से वह संविधानवादी था। जनता की भावना को उत्तेजना देना उसे एकदम अरुचिकर था। स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी वह सम्पूर्ण जनता को राजनीतिक और साम्पत्तिक समानता देने की उदारता प्रदर्शित न कर सका।

अभ्यास प्रश्न

1. मान्टेस्क्यू का जन्म किस देश में हुआ था?
a. फ्रांस b. इटली c. जर्मनी d. आस्ट्रिया
2. निम्न में से कौन सी कृति/कृतियाँ मांटेस्क्यू की हैं-
a. पर्सियन लेटर्स b. रिफ्लेक्शन ऑन द कॉलेज ऑफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन ऑफ द रोमन्स
c. स्पिट ऑफ लाज d. उपरोक्त सभी
3. 'शक्ति-पृथक्करण' का सिद्धान्त किसने दिया?
a. रूसो b. मांटेस्क्यू c. लास्की d. लॉक
4. मांटेस्क्यू के सरकारों के वर्गीकरण में सरकार के कितने मूलरूप हैं?
a. 1 b. 2 c. 3 d. 4
5. मांटेस्क्यू गणतांत्रिक सरकार के कितने भेद बताता है?
a. 1 b. 2 c. 3 d. 4
6. अठारहवीं शताब्दी का अरस्तू किसे कहा जाता है?
a. मांटेस्क्यू b. हाब्स c. लॉक d. रूसो

17.12 सारांश

मॉण्टेस्क्यू ने अरस्तू और मैक्रियावली से बढ़कर अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, यद्यपि साथ ही वैज्ञानिक और पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का सहारा लिया। उसने भौगोलिक वातावरण को राजनीति का अंग मानकर व्यक्तित्व को गौरव प्रदान किया। उसने केवल उन्हीं विचारों को अपनाया जो उसकी दृष्टि में व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरे। मॉण्टेस्क्यू ने कानून की महत्ता स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि कानून द्वारा ही शासन सुचारू रूप से चलाया जा सकता है। उसने विधियों के आन्तरिक तत्व की विवेचना की तथा कहा कि विधि-निर्माण प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा ऐतिहासिक रीति-रिवाजों और धार्मिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। विधियों की सह समाजशास्त्रीय मीमांसा निश्चय ही महत्वपूर्ण है। मॉण्टेस्क्यू का महत्व इस बात में भी है कि निरंकुशता का खण्डन करके उसने प्रतिनिधिक संसदीय शासन का अनुमोदन किया तथा राजा पर सांविधानिक रोकथाम का समर्थन किया। उसके प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए मैक्सी ने ठीक ही लिखा है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मॉण्टेस्क्यू प्लेटो, अरस्तू, मैक्रियावली और बोदाँ के समान विशिष्ट महत्व रखता है। वह यद्यपि 18वीं शताब्दी का फ्राँसीसी था किन्तु उसके सिद्धान्तों और अध्ययन पद्धति का सार्वभौतिक महत्व है। उपयोगितावादियों ने उसके विचारों को बहुत हद तक ग्रहण किया। बेन्थम तो उसकी अनुभूतिमूलक पद्धति से बड़ा प्रभावित था।

17.13 शब्दावली

1. विकेन्द्रीकरण -विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से उल्टी होती है और इसमें स्थानीय उपक्रम तथा साधनशीलता पर विशेष जोर दिया जाता है। अर्थात् अधिकारों और शक्तियों का केन्द्रीय सत्ता की ओर से प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन-संस्थाओं के बीच के विभाजन को विकेन्द्रीकरण कहते हैं।
2. अंतर्राष्ट्रीय कानून-उन सामान्य सिद्धान्तों और विशिष्ट नियमों का समुच्चय जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य राष्ट्र परस्पर सम्बन्धों के निर्वाह में मान्यता देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य ध्येय यह है कि राज्यों के परस्पर सम्बन्ध सुचारू रूप से संचालित किए जा सकें और उनमें पैदा होने वाले विवादों का शांतिपूर्ण समाधान हो सके।
3. गणतन्त्र- ऐसा राज्य जहाँ राज्य का प्रबंध सक्रिय नागरिकों का कर्तव्य है, सम्राटों, अभिजात वर्गों का सूचक माना जाता है। परंतु सिद्धान्त की दृष्टि की यह अभिजाततंत्र के विरुद्ध है। गणतंत्र की भावना यह माँग करती है कि कानून बनाने और बदलने का कार्य सक्रिय नागरिकों को मिल-जुल कर करना चाहिये।
4. शक्ति-पृथक्करण-आधुनिक राज्य के बहुमुखी कार्य साधारणतः तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। कार्यकारी, विधायी और न्यायिक और इन कार्यों के अनुरूप ही सरकार के तीन विशिष्ट अंग स्वीकार किये जाते हैं- कार्यार्ग, विधानांग और न्यायांग। विधानांग का कार्य विधि निर्माण करना, कार्यार्ग का कार्य उन्हें कार्यान्वित करना और न्यायांग का कार्य उनकी व्याख्या करना है। राज्य के विभिन्न अंगों को एक-दूसरे से अलग रखने का सिद्धान्त ही शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त है।

17.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. d 3. b 4. C 5. b 6. a

17.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास - जॉर्ज एच0 सेबाइन
2. राजनीतिक-चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा
3. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन - आर0एम0 भगत
4. प्रमुख राजनीतिक चिन्तक-खण्ड-2 - डा0 ब्रजकिशोर झा
5. प्रिंसिपल ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिक्स थ्योरी - बार्कर
6. ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरीज़ फ्रॉम लूथर टू मान्टेस्क्यू - डनिंग

17.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

1. राजनीति कोश - डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्व प्रकाश गुप्त
2. राजनीति विज्ञान विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा
3. राजनीतिक विचार विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा

17.17 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मान्टेस्क्यू के स्वतन्त्रता की धारणा का विस्तार और विश्लेषण कीजिए।
2. मान्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा कीजिए।
3. 'सभी साम्राज्यों में प्रथम साम्राज्य जलवायु का है' - समीक्षा करें।
4. 'स्पिट ऑफ लॉज' में प्रतिपादित मान्टेस्क्यू के मूल विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

इकाई 18 जेरेमी बेन्थम (1748-1832)

- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 उद्देश्य
- 18.3 जीवन परिचय
- 18.4 प्रमुख कृतियाँ
- 18.5 उपयोगिता की आधारशिला
- 18.6 फेलिसिक कैल्कुलस
- 18.7 राज्य संबंधी विचार
- 18.8 अधिकार एवं कानून संबंधी विचार
- 18.9 स्त्री एवं लैंगिक समानता
- 18.10 सारांश
- 18.11 शब्दावली
- 18.12 अभ्यास प्रश्न
- 18.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 18.14 सहायक/उपयोगी सामग्री
- 18.15 निबंधात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना:

जेरेमी बेन्थम उपयोगितावाद के संस्थापक थे। सारा जीवन उन्होंने दार्शनिक ज्यूरिस्ट और सामाजिक सुधारक की सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका के साथ निभाई। जेरेमी बेन्थम मूलवादी सुधार समूह के प्रमुख राजनैतिक दार्शनिक थे। उन्होंने समस्याओं पर एक वैज्ञानिक की तरह विचार किया। उन्हें पूरा विश्वास था कि यदि सही नाप-जोख की जाए तो लोगों के दुःख कम किए जा सकते हैं और खुशी बहाल की जा सकती है। वास्तविकता के पुट से ओतप्रोत उपयोगितावाद के दर्शन की आधारशिला बेन्थम शायद इसी सोच के अनुरूप ही रखते हैं।

18.2 उद्देश्य

1. उपयोगितावाद के मूल सिद्धांतों को जान सकेंगे।
2. उपयोगितावाद में बेन्थम की मात्रात्मक उपागम को समझ सकेंगे।
3. बेन्थम के आजादी, अधिकार एवं कानून संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
4. बेन्थम की स्त्री एवं लैंगिक समानता पर दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।

18.3 जीवन परिचय

बेन्थम का जन्म 15 फरवरी, 1748 को लंदन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। परिवार द्वारा उसे नियमित एवं उच्च शिक्षा प्रदान की गई। पंद्रह वर्ष की अल्पायु में ही सन् 1763 में उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली और तत्पश्चात् 'लिनन्स इन' (Lin Inn) में कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। वकालत पास करने के उपरांत उसने सन् 1772 में वकालत के कुछ वर्ष बाद ही बेन्थम ने प्रचलित कानूनों की त्रुटियों को उठाया तथा 1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Paragraph of Percement' में ब्लैकस्टोन की इंग्लिश कानूनों की टीकाओं (commentaries) में प्रतिपादित सिद्धांतों की आलोचना की। विधिशास्त्र के इस प्रकाण्ड पण्डित ने विधि सुधार के महत्वपूर्ण आंदोलन का संचालन किया जिसे सफलता मिली। वह एक ऐसा सुधारवादी सिद्ध हुआ जिसने इंग्लैंड के सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र को अत्याधिक प्रभावित किया।

बेन्थम ने यूरोप का भ्रमण एवं फ्रांस के उपयोगितावादियों से प्रभावित होकर अपने विचारों में सुधार किया। 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय संसद ने उसे 'फ्रांसीसी नागरिक' की उपाधि से विभूषित किया। विधि और कारागारों से संबंधी अनेक ग्रंथ लिखने के कारण वह यूरोप में नहीं, अपितु अन्य देशों में भी प्रसिद्ध हो गया। सन् 1832 में 84 वर्ष की आयु में उसका देहांत हो गया।

18.4 प्रमुख कृतियाँ

1. Fragment of Government (1776)
2. Defense of Usury (1785)
3. Introduction to the Principle of Moral Legislation (1789)
4. Essay on Political Tactics (1791)
5. Theory of Punishment & Rewards (1811)
6. A Treatise of Judicial Evidence (1813)
7. The Book of Fallacies (1824)

18.5 उपयोगितावाद की आधारशिला

बेन्थम ने लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना का खण्डन करते हुए उपयोगितावाद के अनुभवमूलक आधार (Empirical Basis) पर उदारवादी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की पुष्टि की है। बेन्थम ने तर्क दिया कि पूर्ण अधिकार (Absolute Rights), पूर्ण प्रभुसत्ता (Absolute Sovereignty) और पूर्ण न्याय (Absolute Justice) जैसी संकल्पनाएं सामाजिक जीवन से मेल नहीं खाती। मानव जीवन के मामलों में केवल एक ही पूर्ण मानदंड (Absolute Standard) लागू होता है कि पूर्ण इष्ट-सिद्धि (Absolute Expediency)। अतः सार्वजनिक नीति को एक ही कसौटी पर कसना चाहिए। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख (Greatest Happiness of Greatest number)।

बेन्थम ने यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस के इस विचार को नए संदर्भ में दोहराया है कि मनुष्य को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह अपने सुख को बढ़ा सके और दुःख से बच सके। सुखवाद (Hedonism) के इस विचार का समर्थन करते हुए बेन्थम ने लिखा है कि प्रकृति ने मनुष्य को दो शक्तिशाली स्वामियों के नियंत्रण में रखा है, जिनके नाम हैं सुख और दुःख (Pleasure and Pain)। मनुष्य सदैव अपने सुख को पाना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। जो बात सुख को बढ़ाती है और दुःख को रोकती है या कम करती है उसे उपयोगिता कहा जाता है। सामाजिक समझौते और सामान्य इच्छा के सिद्धांत का खंडन करते हुए बेन्थम ने यह तर्क दिया कि समुदाय का

हित उसके पृथक-पृथक सदस्यों के हित का जोड़ होता है। अतः किसी कार्यवाही का मूल्यांकन इस प्रकार करना चाहिए कि सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को उससे कितना सुख या दुःख पहुँचेगा। इन दोनों की तुलना करने पर जिस कार्यवाही से मिलने वाले सुख का पलड़ा सबसे भारी हो, वही सबसे उपयुक्त होगी।

बेन्थम के अनुसार सुख चार प्रकार से प्राप्त किए जा सकते हैं- 1. धर्म द्वारा 2. राजनीति द्वारा 3. नीति द्वारा एवं 4. भौतिक साधनों द्वारा। यदि किसी मनुष्य को धर्म में विश्वास रखने से सुख प्राप्त होता है तो उसे धर्म प्रदत्त सुख की संज्ञा दी जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी को नैतिक कार्य करने से सुख की अनुभूति होती है तो उसे नैतिक सुख कहा जाएगा एवं आँधी, जल, वर्षा आदि से कोई लाभ होता है तो वह 'प्राकृतिक सुख' कहलाएगा। बेन्थम की मान्यता है कि अपने आप में कोई चीज भली-बुरी नहीं होती है, उपयोगिता के आधार पर भली-बुरी हो जाती है। मनुष्य के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है। मनुष्य सदैव सुख से प्रेरित होता है और दुःख से बचना चाहता है। सुख-दुःख में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। तर्क प्रधान एवं वैज्ञानिक पद्धति के प्रभाव के कारण बेन्थम का यह विश्वास था कि सुख-दुःख को मापा जा सकता है और इसी दिशा में उसने सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Felicific Calculator) विकसित करने का प्रयास किया।

18.6 फ़ैलिस्फिक कैल्कुलस या सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Felicific Calculator)

सुखवादी विचारकों की भांति ही बेन्थम का भी यह मत था कि सुख और दुःख को मापा जा सकता है और दोनों की गणना के द्वारा ही अधिकतम व्यक्ति के अधिकतम सुख की स्थापना संभव है। इस गणना में बेन्थम ने सुख और दुःख के चार रूप माने हैं- गहनता, अवधि, निश्चितता जिससे वह कार्य को करेगा तथा समय की दूरी जिसके अनुसार वह घटित होगा। सामाजिक संबंधों में एक का सुख या दुःख दूसरे को प्रभावित करेगा। अतः इसकी ओर भी ध्यान देना चाहिए।

बेन्थम ने सामान्य सुख के निम्नलिखित 14 प्रकार बतलाए हैं:-

1. भार से मुक्ति संबंधी सुख, 2. संगति संबंधी सुख, 3. आशाजन्य सुख, 4. काल्पनिक सुख, 5. स्मरण सुख
6. निर्दयता संबंधी सुख, 7. दया संबंधी सुख, 8. धर्म से उत्पन्न सुख, 9. शक्ति सुख, 10. यश का सुख, 11. मित्रता सुख
12. कुशलता का सुख, 13. सम्पत्ति का सुख एवं, 14. ऐन्द्रिक सुख

इसी प्रकार बेन्थम ने दुःख के 12 प्रकार बताए हैं:-

1. संपर्क, 2. आशा, 3. कल्पना, 4. स्मरण, 5. निर्दयता, 6. दया, 7. धार्मिकता, 8. अपयश, 9. शत्रुता, 10. परेशानी, 11. दुर्भावना एवं
12. दरिद्रता

बेन्थम के अनुसार परिणाम अथवा मात्रा को ध्यान में रखते हुए सुख या दुःख उसी अनुपात में कम या अधिक हो सकता है। सुख-दुःख की मात्रा निर्धारित करने के लिए बेन्थम ने निम्नलिखित सात कारकों के ज्ञान की बात कही है:-

1. तीव्रता (Intensity), 2. कालावधि (Duration), 3. निश्चितता (Certainty), 4. समय की निकटता अथवा दूरी (Proximity of time or remoteness), 5. जनन शक्ति (Fertility), 6. निशुद्धता (Purity), 7. विस्तार (Extent)

बेन्थम के अनुसार प्रथम छः बातें तो व्यक्तिगत सुख-दुःख का मापदंड है किंतु समूह अथवा अनेक व्यक्तियों के सुख का परिणाम ज्ञात करना होता है तो उसमें हम 'विस्तार' (extent) पर ध्यान देते हैं। बेन्थम के अनुसार उपर्युक्त कारकों का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख को माप सकते हैं बल्कि इनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक विश्वास एवं मूल्यों का निर्णय भी कर सकते हैं।

अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए बेन्थम ने कहा कि कुछ सुख ऐसे होते हैं जिनमें तीव्रता होती है किंतु स्थायित्व नहीं होता। अतः उनसे कुछ दुःख उत्पन्न होता है। इसे विपरीत कुछ सुख विशुद्ध होते हैं और उनका स्थायित्व भी अधिक होता है, उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती है। अतः सुख को विशेष मूल्यवान बनाने की ओर सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख-दुःख की गणना करके किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिए बेन्थम में जो प्रक्रिया बताई है वह इस प्रकार है - "समस्त सुखों के समस्त मूल्य को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाए तो उसका अभिप्राय यह होगा कि अमुक कार्य ठीक है और दुःख शेष रहे तो समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है क्योंकि उसका परिणाम दुःख होता है। बेन्थम के अनुसार यदि किसी काम का प्रभाव किसी दूसरे कार्य पर भी पड़ता हो तो यह उचित है कि हम उपर्युक्त प्रक्रिया को उनमें से प्रत्येक पर भी लागू करें और उनके हितों का भी ध्यान दें। यही सुख का विस्तार है।

18.7 राज्य संबंधी विचार

बेन्थम ने कोई राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति से संबंधित कोई व्यवस्थित सिद्धांत नहीं दिया है। राज्य संबंधित उसके दर्शन को दो भागों में देखा जा सकता है:-

1. आलोचनात्मक
2. विधेयात्मक

आलोचनात्मक भाषा का संबंध इन विचारों से है जिनके द्वारा बेन्थम ने अपनी पूर्ववर्ती राजनीतिक धारणाओं का खंडन करता है। अपनी सामाजिक हित की व्यावहारिक बुद्धि एवं धारणा से प्रेरित होकर बेन्थम ने लॉक द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) के सिद्धांतों को पूर्णतः अमान्य ठहरा दिया है। बेन्थम ने राज्य की उत्पत्ति के अनुबंधवादी एवं सावयव सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया। समझौता सिद्धांत द्वारा आज्ञा पालन के कर्तव्य को कोई निश्चित प्रतिपादन नहीं होता है। व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए नहीं करता है कि उसे पूर्वजों ने उसके लिए कोई समझौता किया था। व्यक्ति इसके लिए किसी ऐतिहासिक समझौता द्वारा बाध्य नहीं है। वह राज्य की आज्ञा इसलिए मानता है क्योंकि ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है।

बेन्थम के विधेयात्मक भाग का संबंध इन विचारों से है जो राज्य संबंधी विषयों पर प्रकट किए गए हैं। बेन्थम का राज्य संबंधी विचार उपयोगितावाद पर आधारित है। वह राज्य को एक ऐसे मनुष्यों का समूह समझता है जिसे मनुष्य ने अपनी सुख वृद्धि के लिए संगठित किया है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य है 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of Greatest Number)। व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्तव्य नहीं है।

बेन्थम की राज्य संबंधी धारणा में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों का व्यक्तिगत सुखों का योग मात्र है जिसमें समस्त समाज का सामूहिक हित शामिल नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है। बेन्थम के अनुसार राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिए करता है ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है और आज्ञा पालन के संभावित दोष अवज्ञा के संभावित दोषों से कहीं कम है। उसका मत था कि राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है, न कि एक नैतिक समुदाय जिसका ध्येय जनता का कल्याण होता है।

18.8 विधि एवं अधिकार संबंधी विचार

बेन्थम के अनुसार राज्य एक विधि निर्माता निकाय है। अतः जनता के साथ इसका संबंध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। इस प्रकार का कानून सम्प्रभु का आदेश हो सकता है। सम्प्रभु की इच्छा ही कानून के रूप में प्रकट होती है। उसकी यह धारणा ह्यस के अनुरूप ही है। बेन्थम का कथन था कि सम्प्रभु के निश्चित आदेशों अर्थात् कानून का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस आज्ञापालन में ही उसका और सबका कल्याण निहित है। बेन्थम ने विधि निर्माण के लिए अपने उपयोगितावादी सिद्धांत का प्रयोग करने की राय दी। प्रत्येक विधि को सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक कल्याण के उद्देश्य से बनाना चाहिए। सेबाईन के अनुसार, 'बेन्थम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धांत एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है। बेन्थम ने राज्य द्वारा निर्मित प्रत्येक विधि को उसकी उपयोगिता की कसौटी माना है। विधियों की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती है:-

1. वह राज्य के नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नहीं
2. उससे लोगों की आवश्यकता की वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होने लगती है या नहीं एवं
3. प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नहीं।

यदि विधियाँ इन कसौटियों पर उपयोगी सिद्ध होती है तो विधि का लक्ष्य पूरा होता है। बेन्थम के अनुसार विधि निर्माण में निम्नलिखित चार बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए:-

1. आजीविका (Subsistence)
2. प्रचुरता (Abundance)
3. समानता (Equality)
4. सुरक्षा (Security)

विधि निर्माण का इनके संदर्भ में ही देखना चाहिए अर्थात् अधिकाधिक लोगों का हित इन बातों को ध्यान में रखते हुए विधि निर्माण करना चाहिए। बेन्थम ने अहस्तक्षेप-नीति (Laisser Fair) को अपनाकर मुक्त व्यापार स्वच्छन्द प्रतियोगिता का समर्थन किया है। इस प्रकार उसने व्यक्तिवाद के आधारभूत सिद्धांतों का समर्थन किया। सत्ता का आधार उपयोगिता है। अतः लोकतंत्रात्मक राज्यों में कानून को सरल होना चाहिए, जिससे लोग इसे समझ सकें। साथ ही ऐसे कानूनों में लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखना चाहिए।

बेन्थम के अनुसार, "अधिकार मनुष्य के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिसे राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है" अर्थात् बेन्थम के विचार में अधिकारों का विधि सम्मत होना जरूरी है। प्राकृतिक अधिकारों का खंडन करते हुए उसने कहा कि अधिकार अनियंत्रित या अप्रतिबंधित नहीं हो सकते। उनका निर्धारण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। बेन्थम के अनुसार जैसा कि सेबाईन ने लिखा है 'एक व्यक्ति के अधिकार का अभिप्राय यह है कि दूसरा कोई व्यक्ति उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करेगा तो दण्ड मिलेगा। दण्ड के भय से ही दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप रोका जा सकता है।'

बेन्थम ने सम्पत्ति के अधिकार की अवहेलना न करके सामान्य उपयोगिता के आधार पर उसका समर्थन किया है। बेन्थम के मतानुसार सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है। उसका यह मत था कि विधि सम्पत्ति के समान वितरण के लिए क्रियाशील होनी चाहिए जिससे की मनमानी असमानताएं उत्पन्न न हो सकें। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊँ संतुलन स्थापित करना चाहिए।

18.9 स्त्री एवं लैंगिक समानता

बेन्थम ने सरकार में महिलाओं की बराबरी की हिस्सेदारी के पक्ष में तर्क दिया। उन्होंने इस तर्क की आलोचना की कि कम दिमाग के कारण स्त्रियों को कमतर स्थान मिलना चाहिए। हेल्लेशियस के प्रभाव में बेन्थम ने स्त्रियों की जरूरत पर जोर दिया। अपनी रचना 'प्लान फॉर पार्लियामेंट रिफार्म' में बेन्थम ने स्त्री मताधिकार का पक्ष लिया

लेकिन 'कंटीच्यूचनल कोड' में उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्त्री मताधिकार में कुछ गलत नहीं था लेकिन समय इसके लिए परिपक्व नहीं था। ऐसा नहीं था कि स्त्रियों के पास मतदान की क्षमता और तर्क की कमी थी, लेकिन कठिनाई यह थी कि पुरुषों की ओर से इतना तीव्र विरोध होगा कि इसे रोक देना पड़ेगा। जहाँ तक सरकार में महिलाओं की हिस्सेदारी का प्रश्न था, इससे सिर्फ मजाक और गड़बड़ी ही पैदा होगी। चूंकि पुरुष अपरिपक्व होने के कारण स्त्रियों को सरकार में साथ बैठने नहीं देंगे इसलिए बेन्थम ने स्त्रियों के मताधिकार का विरोध किया।

बेन्थम की दृष्टि में इस विचार का कोई आधार नहीं था कि सामाजिक असमानता का आधार प्राकृतिक असमानता थी। स्त्री-पुरुष के बीच प्राकृतिक अंतर स्त्रियों के दमन का आधार नहीं हो सकता। यदि स्त्रियां पुरुषों के मुकाबले बौद्धिक कार्य के लिए कम उपयुक्त दिख पड़ती है तो यह इसलिए कि उन्हें वह शिक्षा दी जाती है जिसके तहत उन्हें सूक्ष्मता एवं चरित्र रक्षा के बारे में बताया जाता है।

बेन्थम ने स्त्रियों के लिए शिक्षा का समर्थन करते हुए क्रिसवेमैथिया (1816) नामक नया पाठ्यक्रम तैयार किया। यह यूनिवर्सिटी कॉलेज का आधार बना, जो प्रथम इंग्लिश यूनिवर्सिटी थी, जिसमें बिना वर्ग, जाति, धर्म या लैंगिक आधार का भेद किए बिना भर्ती किया जाता था।

18.10 सारांश

अभावों और विरोधाभासों के बावजूद दर्शन और राजनीतिक चिंतन के इतिहास के बेन्थम को अत्याधिक सम्मानित स्थान प्राप्त है। राजनीतिक चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों में उसका प्रभाव असाधारण है। उसने उपयोगितावाद को एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में स्थापित किया तथा उसको एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उसने शासन के स्वरूप को महत्ता प्रदान नहीं की है बल्कि शासन को उपयोगिता की दृष्टि में सुख निर्माण के लक्ष्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है और उस संदर्भ में प्रत्येक प्रश्नों का उत्तर उसने पुरुष तथा स्त्री दोनों को ही ध्यान में रखकर दिया है।

बेन्थम ने लोकतंत्र और लोकतांत्रिक संस्थाओं का समर्थन किया है किंतु लोकतंत्र को केवल एक प्रक्रियात्मक स्वरूप में परिभाषित नहीं किया है। बेन्थम के विधि एवं न्याय संबंधित विचारों ने इंग्लैंड की न्याय व्यवस्था के सुधारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। मैकियावेली की भाँति बेन्थम ने राजनीति को नैतिकता से पृथक किया तथा नैतिकता के आधार पर प्रजा द्वारा विद्रोह का समर्थन नहीं किया। बेन्थम की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने इस महान सिद्धांत की पुष्टि कि प्रत्येक शासन तंत्र को अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए और समाज की अधिकाधिक सेवा करके अपने शक्ति का औचित्य अर्जित करना चाहिए।

18.11 शब्दावली

उपयोगितावाद सिद्धांत के अनुसार कोई भी कार्य जो बहुमत को लाभ पहुँचाती है या उपयोगी होती है वह 'सही' होता है। इस संदर्भ में अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख मार्गदर्शक होना चाहिए।

फेलिसिक केलुलस यह एक तकनीक है जिसके द्वारा किसी क्रिया द्वारा प्राप्त सुख या दुःखों की गणना की जा सकती है। बेन्थम ने इसे अपनी पुस्तक 'Principles of Morals and Legislation' (1789) में वर्णित किया है।

18.12 अभ्यास प्रश्न

1. बेन्थम के अनुसार सुख और दुःख को निर्धारित करने वाले कारकों की संख्या कितनी है?
- उ. सात (7)
2. बेन्थम से पहले किस यूनानी दार्शनिक ने सुखवाद की संकल्पना प्रस्तुत की थी?
- उ. एपीक्यूरस।

18.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. A History of Political Thought - G.H. Sabine
 2. पाश्चात राजनैतिक विचारो का इतिहास - पी.डी. शर्मा
 3. इग्नो नोटस MPSE 003
 4. राजनैतिक विचारों की रूपरेखा (vol-3)- ओ.पी.गाबा
- 18.14 सहायक/उपयोगी सामग्री
1. Political Ideologies - Andrew Heywood
 2. Political Philosophies - C.C. Maxey
- 18.15 निबंधात्मक प्रश्न
1. बेन्थम ने आधुनिक अर्थों में उपयोगितावाद की आधारशिला रखी। विवेचना कीजिए।
 2. बेन्थम के राज्य एवं विधि संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 19 : जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-73)

- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 उद्देश्य
- 19.3 जीवन परिचय
- 19.4 प्रमुख कृतियाँ
- 19.5 उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा
- 19.6 स्वतंत्रता संबंधी विचार
- 19.7 महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता
- 19.8 राज्य संबंधी विचार
- 19.9 सारांश
- 19.10 शब्दावली
- 19.11 अभ्यास प्रश्न
- 19.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 19.13 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
- 19.14 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी में एक अंग्रेजी दार्शनिक, राजनीतिक और सिविल सेवक की भूमिका में जॉन स्टुअर्ट मिल, उदारवाद के इतिहास में सबसे प्रभावशाली विचारकों में से एक था। उसने व्यापक रूप से सामाजिक सिद्धांत, राजनीति सिद्धांत और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए योगदान दिया। उपयोगितावाद के बेन्थमवादी स्वरूप को उन्होंने एक नए स्वरूप से प्रस्तुत किया। उनकी स्वतंत्रता की धारणा ने असीमित राज्य और सामाजिक नियंत्रण के विरोध में व्यक्ति की आजादी को एक नए स्वरूप में परिभाषित किया। मिल अपने समय का प्रथम दार्शनिक था, जिसने लैंगिक समानता एवं महिला अधिकारों का एक वैज्ञानिक आधार पर, मुखर रूप में समर्थन किया।

19.2 उद्देश्य: इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

- उदारवाद के दर्शन में मिल के योगदान को समझ सकेंगे
- अधिकार एवं व्यक्तिक स्वतंत्रता संबंधी उसके विचारों को समझ सकेंगे
- महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता के समर्थक के रूप में मिल की भूमिका का अवलोकन कर सकेंगे

19.3 जीवन परिचय:

जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 20 मई 1806 को लंदन में हुआ। उसके पिता जेम्स मिल बेन्थम के विचारों से अत्याधिक प्रभावित थे तथा उन्होंने अपने पुत्र को भी 'उपयोगितावाद' की दार्शनिक विरासत सौंपी। मिल ने जॉन आस्टिन से रोमन कानून तथा अन्य कानूनों की शिक्षा प्राप्त की। 16 वर्ष की आयु में वह 'उपयोगितावादी सोसायटी' (Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढ़े तीन वर्षों तक वह वाद-विवादों में प्रमुख वक्ता रहा। 17 वर्ष की आयु में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुआ और सन् 1856 में अपने विभाग के अध्यक्ष बने। 59 वर्ष की आयु में वह संसद सदस्य निर्वाचित हुए। सन् 1865 से 1868 तक संसद सदस्य के रूप में आयरलैण्ड में भूमि सुधार, किसानों की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक कार्यकर्ताओं की स्थिति आदि के संबंध में अत्यंत क्रियाशील रहे। सन् 1873 में उनकी मृत्यु हो गई।

19.4 प्रमुख कृतियाँ

1. The System of Logic, 1834
2. The Principle of Political Economy, 1848
3. Enfranchisement of Women, 1853
4. A Treatise of Liberty, 1859
5. Considerations of Representative Government, 1860
6. Utilitarianism, 1861
7. Subjection of Women, 1869
8. Three Essay on Religion, 1874

19.5 उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा

मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण संशोधन करते हुए सुखवादी तत्वों का समावेश कर दिया। उसने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद पर अधिक बल दिया और इसलिए राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में उसे प्रायः 'अंतिम उपयोगितावादी' तथा 'प्रथम व्यक्तिवादी' दार्शनिक माना जाता है। उसने आरंभ में बेन्थम के सिद्धांत पर ही सुख की प्राप्ति एवं दुःख की नियुक्ति को व्यक्ति का अभिष्ट माना। किंतु आगे चलकर मिल सुख और दुःख के गुणात्मक अंतर को भी स्वीकार्य करता है जबकि बेन्थम केवल मात्रात्मक अंतर को ही स्वीकार्य करता है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं। मिल के अनुसार सुखों में केवल कम या अधिक का ही अंतर नहीं होता, बल्कि उनके गुणों का भी अंतर होता है। मिल के शब्दों में, 'एक संतुष्ट शूकर की अपेक्षा एक असंतुष्ट मनुष्य होना कहीं अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असंतुष्ट सुकरात होना कहीं अच्छा है और यदि मूर्ख और शूकर का मत इससे विपरीत है तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना पक्ष ही जानते हैं, जबकि दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनों ही पक्षों को समझता है।'

मिल ने सुख और दुःख के मध्य गुणात्मक भेद मानकर उपयोगितावाद को अधिक तर्कसंगत अवश्य बना दिया किंतु इससे बेन्थम का उपयोगितावादी दर्शन एक अलग रूप ले लेता है।

मिल द्वारा गुणात्मक विभेद को स्वीकार्य कर लेने से सुख और दुःख के मात्रात्मक मूल्यांकन की बेन्थमवादी युक्ति का कोई महत्त्व नहीं कर जाता है। मिल का मत था कि विद्वानों के प्रमाण ही सुखों की जाँच अथावा निर्णय के सही आधार हैं। "दो सुख प्रदान करने वाली विभूतियों की प्रगाढ़ता का निर्णय उन्हीं शक्तियों द्वारा हो सकता है जिन्हें

दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो। वेपर के अनुसार 'मिल की यह धारणा थी कि आनंद गुण और मात्रा दोनों में ही भिन्न होते हैं'। उसके अनुसार जीवन का अंतिम उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, वरन शालीनता (Dignity) है।

मिल का कथन है कि केवल यही महत्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य क्या करता है, यह भी महत्वपूर्ण है कि उसके वह विशेष काम करने के तरीके क्या है। उपयोगितावाद में मिल की नैतिकतावाद की अवधारणा से बेन्थम की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है।

बेन्थम ने उपयोगितावाद के भौतिक पक्ष पर बल देते हुए बाह्य बातों पर अधिक बल दिया जबकि मिल ने आंतरिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। उसने बेन्थम के व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में एकता और सामाजिक संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। बेन्थम ने सुख प्राप्ति के लिए प्रेरित करने वाले चार बाह्य दबावों - शारीरिक, सार्वजनिक, धार्मिक और नैतिक की चर्चा की। वहीं मिल ने कहा कि हमारा अंतःकरण सुख-दुःख का अनुभव करता है कि नैतिक एवं सुख कार्यों से हमारे अंतःकरण को शांति और सुख प्राप्त होता है। सुख केवल सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और शारीरिक नहीं वरन आत्मिक, मानसिक और अध्यात्मिक भी होता है।

यदि देखा जाए तो बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें उनके बौद्धिक स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि मिल के उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेन्थम की मान्यताओं का बहुत कम अंश रह गया है।

19.6 स्वतंत्रता संबंधी विचार

मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचारों का समावेश उसकी पुस्तक 'On Liberty' में है। उसकी मान्यता थी कि राज्य को वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन करने का कोई अधिकार नहीं है। 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबंध लगाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों को थोप देना सर्वथा अवांछनीय है। 'ऑन लिबर्टी' में स्वतंत्रता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है कि मानवजाति किसी भी घटक की स्वतंत्रता में केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकती है और वह है 'आत्मरक्षा'। मिल के अनुसार स्वतंत्रता के दो प्रकार हैं - 1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of Thought & Expression) तथा 2. कार्यों की स्वतंत्रता (Freedom of Action)।

मिल के अनुसार समाज और राज्य को व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल। बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतंत्रता न केवल उस समाज के लिए हितकर है जो उसकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। मिल के अनुसार " यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति एकमत हो जाए तो भी मानव जाति को उसे जबरदस्ती चुप करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार यदि वह शक्ति प्राप्त होता है तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं था। मिल ने भाषण एवं विचार की स्वतंत्रता को मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण माना है। इससे अधिकतम मनुष्यों को न केवल अधिकतम सुख की अनुभूति ही नहीं होती, बल्कि दूसरे द्वारा सत्य की खोज भी की जा सकती है। उस राजनीतिक स्वतंत्रता में उच्च नैतिक स्वतंत्रता का जन्म होता है। मिल के वैचारिक स्वतंत्रता संबंधी विचारों में इस बात पर बल दिया है कि ऐसे लोकमत का निर्माण होना चाहिए जो सहिष्णापूर्वक हो, जो आपसी मतभेदों को महत्त्व देता हो और जो नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार हो।

वैचारिक स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण पक्ष कार्य की स्वतंत्रता है। मिल का दृढ़ मत है कि 'विचारों की स्वतंत्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतंत्रता न हो। मिल ने कहा कि लोकमत के नाम पर शासन जनता की स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाता है। अतः यह आवश्यक है कि वैयक्तिक जीवन में राज्य द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप समाप्त किए जाएं, पर कार्य स्वतंत्रता में मर्यादा का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। मिल के विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव जीवन के दो पहलू हैं व्यक्तिगत और सामाजिक। इसके अनुरूप वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है-

1. स्व-संबंधी कार्य (Self-regarding Actions)

2. पर-संबंधी कार्य (Other-regarding Actions)

व्यक्ति के स्व-संबंधी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं से है। व्यक्ति को ऐसे कार्यों की अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतंत्रता का अभाव समाज की प्रगति के लिए खतरा बन जाता है। मिल के अनुसार 'जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार नवीन आविष्कार है, उसी प्रकार समाज में भी जीवन और गति का आधार नवीनता में निहित है। नवीनता के अभाव में जीवन शून्य हो जाएगा। अतः इस नवीनता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता हो।

पर-संबंधी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज तथा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है क्योंकि यह व्यक्तियों के स्वतंत्र क्षेत्र का निर्धारण करती हैं। यदि व्यक्ति समाज में अभद्रता और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे संगठन का निर्माण करता है जिससे सामाजिक शांति और सुरक्षा भंग होती हो, राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे। मिल के अनुसार अपना पूर्ण अहित करने वाले व्यक्तिगत कार्य भी राज्य द्वारा प्रतिबंधित हो सकते हैं जैसे कि आत्महत्या। बुरी आदतों अथवा क्रियाओं को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परोक्ष रूपों में निवारणात्मक उपाय, शिक्षा प्रसार, प्रोत्साहन, चित्र प्रदर्शन आदि की गणना की जा सकती है।

इस प्रकार मिल ने स्व-संबंधी एवं पर-संबंधी कार्य क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की गुंजाइश छोड़ी और यहाँ राज्य ही अपने कार्यक्षेत्र को निर्धारित करता नजर आता है। इन्हीं कारणों में बार्कर ने मिल को खोखली स्वतंत्रता का जनक कहा है।

19.7 महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता

मिल की दृष्टि में स्त्रियों को मताधिकार, शिक्षा एवं नौकरी प्रदान कर उनकी स्थिति बेहतर की जानी चाहिए। इस प्रकार इस प्रश्न पर उदारपक्षी विचार लागू करके उन्होंने अलग स्थान बनाया। अपनी पुस्तक 'द सब्जेकशन' में तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए समानता का समर्थन किया: मताधिकार, शिक्षा और नौकरी के समान अवसर। मिल ने बताया कि यौन समानता का विरोध तर्क से संबंधित नहीं था और इससे यह साबित नहीं होता कि स्त्रियाँ कमजोर और शासित हैं। बहुमत तर्क का विरोध करते हुए असमानता का समर्थन करता है: चूंकि यह सामान्य आचार है, इसलिए यह अच्छा मान लिया गया है। स्त्रियों की निरंतर स्थिति, मिल की दृष्टि में, इसलिए है वे शारीरिक रूप से अधिक कमजोर हैं। वास्तव में स्त्रियों की दासता का स्रोत पुरुषों की तथाकथित शारीरिक शक्ति में है। पुरुषों में यह गुण बन जाता है, स्त्रियों के लिए धैर्य, त्याग, समर्पण गुणों का आकर्षण के गुण मान लिए गए।

वोल्स्टोनक्राफ्ट के समान मिल ने यह विचार अस्वीकृत कर दिया कि स्त्री का चरित्र पुरुष से अलग होता है और यह कि स्त्री का स्वभाव कृत्रिम होता है। उन्होंने यह भी अस्वीकार कर दिया कि मुक्त समाज में मुक्त स्त्री कभी नहीं देखी गई। स्त्रियों की स्थितियों के लिए वर्षों तक उनका दमन जिम्मेदार है न कि उसका स्वभाव। मानव चरित्र का निर्माण परिस्थितियों से होती है। जब तक स्त्रियों को आजादी न मिले, वे स्वयं को प्रकट नहीं कर सकती। इसमें समय लग सकता है लेकिन यह उन्हें आजादी एवं पूर्ण विकास से वंचित रखने का कारण नहीं बन सकता।

मिल के अनुसार विवाह स्त्री को समान अधिकार न देकर पति की दासी बना देता है और कानून उसे बच्चों एवं सम्पत्ति का अधिकार तक नहीं देता। इसलिए ये अधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकार उन्हें मिलने चाहिए।

मिल ने पारिवारिक एवं राजनैतिक सत्ता के बीच लॉकवादी अलगाव का विरोध किया और परिवार संबंधी व्यापकतर प्रश्न उठाया। उन्होंने परिवार को पारंपरिक, न कि प्राकृतिक संस्था बताया लेकिन उसे राजनैतिक संस्था नहीं समझते हैं। 'ऑन लिबर्टी' में उन्होंने परिवार बनाम नागरिक क्षेत्रों का निजी सार्वजनिक भेद का विवेचन नहीं किया। यदि स्त्रियों को पूर्ण आजादी मिल जाए और वे अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग कर सकें तो समाज के पास गुणवत्ता का भंडार काफी बढ़ जाएगा। शिक्षा से सिर्फ महिलाओं का दिमाग विकसित होगा बल्कि समूचे समाज का फायदा होगा।

19.8 राज्य संबंधी विचार

मिल की मान्यता थी कि राज्य स्वार्थ की अपेक्षा मानव इच्छा का परिणाम है। मिल ने राज्य और उसकी संस्थाओं को स्वाभाविक मानने वालों तथा उन्हें अविष्कार और मानव प्रयासों का फल समझने वालों के बीच मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है, पर यह विकास जड़ वस्तुओं की तरह न होकर वस्तुओं के समान हुआ है; राज्य की उत्पत्ति मानव-हित के लिए हुई है क्योंकि जितने भी राजनीतिक संगठन हैं उन सबका अस्तित्व सार्वजनिक कल्याण के लिए हुआ है। राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मिल ने व्यक्तियों के कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णतः निषिद्ध न ठहरा कर वैयक्तिक विकास की कुछ स्थितियों में उसका हस्तक्षेप अनिवार्य माना है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नहीं है क्योंकि जीवन संघर्ष में सभी व्यक्ति समाज में समान नहीं हैं। राज्य आत्मविकास की सुविधाएँ प्रदान कर सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखी बनाना चाहता है।

सकारात्मक राज्य में विश्वास होने के कारण मिल मानता है कि राज्य को कुछ नैतिक कार्य करने पड़ते हैं। उसके मतानुसार राज्य का संविधान ऐसा होना चाहिए जिससे नागरिकों के सर्वोत्तम नैतिक एवं बौद्धिक गुणों का विकास हो सके। मिल राज्य द्वारा अनिवार्य सुख का समर्थक था और इसे स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं मानता। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य के कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योग पर सरकार का व्यापक नियंत्रण स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन उन नियंत्रण की सीमाएँ उसने स्पष्ट नहीं की हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मिल राज्य के रचनात्मक तथा निषेधात्मक दोनों प्रकार के कार्यों की व्याख्या करता है। राज्य का रचनात्मक कार्य वह है कि यह ऐसे स्वतंत्र वातावरण का निर्माण करें, जिसमें विचार मंथन, सत्यान्वेषण, अनुभव वृद्धि, चरित्र निर्माण आदि संभव हो सके। व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबंध लगाना निषेधात्मक कार्य है।

19.9 सारांश

राजनीतिक चिंतन के जगत में मिल का मिश्रित स्थान है। एक ओर उसकी प्रशंसा के गीत गाए गए हैं। उसे दार्शनिक, न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री का दर्जा दिया गया है तो दूसरी ओर उसकी आलोचना की गई है और

आरोप लगाया है कि उपयोगितावादी के संरक्षक के रूप में उसने उपयोगितावाद की ही हत्या कर डाली है तथा प्रजातंत्र में दोषों और कमियों के सिवाय उसने और कुछ नहीं देखा है। वेयर और इनिवा जैसे विद्वानों ने उसके 'नारी स्वतंत्रता' संबंधी विचारों का विरोध किया। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और आगमनात्मक पद्धति की त्रुटियाँ दूर कीं। मिल के विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थन में जो लिखा है, वह इस विषय पर सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

19.10 शब्दावली

उपयोगितावाद: वह सिद्धांत जिसके अनुसार कोई भी सार्वजनिक नीति या कानून बनाते समय यह देखना चाहिए कि वह 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख'(Greatest Happiness of Greatest Number) को बढ़ावा देता हो।

व्यक्तिवाद: वह सिद्धांत जो व्यक्ति को विवेकशील प्राणी (Rational Creature) मानते हुए यह मांग करता है कि सार्वजनिक नीति एवं नियमों का निर्माण करते समय व्यक्ति की अपनी निर्णय क्षमता (Judgment) को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।

19.11 अभ्यास प्रश्न

1. मिल ने कितने प्रकार की स्वतंत्रता की बात कही ?
- उ. दो- विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of thought & Expression)
कार्यों की स्वतंत्रता (Freedom of Action)
2. मिल ने सुख और दुःख के मात्रात्मक अंतर के साथ-साथ किस प्रकार के अंतर की बात कही?
- उ. गुणात्मक।

19.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

- राजनीतिक विचारों की रूपरेखा - ओ.पी. गाबा
- राजनीतिक दर्शन का इतिहास - सेनाईन
- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास - पी.डी. शर्मा

19.13 उपयोगी सामग्री/सहायक

- | | | |
|---------------------------|---|----------------|
| 1. Political Ideologies | - | Andrew Heywood |
| 2. Political Philosophies | - | C.C. Maxey |

19.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'मिल खोखली स्वतंत्रता का जनक था'-बार्कर। इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. मिल के स्त्री एवं लैंगिक समानता संबंधी विचार की विवेचना कीजिए।

इकाई 20 :जॉन आस्टिन

- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 उद्देश्य
- 20.3 जीवन परिचय
- 20.4 प्रमुख कृतियाँ
- 20.5 विधि संबंधी विचार
- 20.6 सम्प्रभुता एवं राज्य संबंधी विचार
- 20.7 अधिकार एवं स्वतंत्रता संबंधी विचार
- 20.8 सारांश
- 20.9 शब्दावली
- 20.10 अभ्यास प्रश्न
- 20.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 20.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
- 20.13 निबंधात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

राजनैतिक विचारकों की उपयोगितावादी विचारको की श्रृंखला में जॉन आस्टिन के विचार महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 19वीं शताब्दी में आस्टिन ने विधि एवं सम्प्रभुता आधारित एक सशक्त राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की, जिसको आगे चलकर प्रभुसत्ता का एकलवादी सिद्धांत (Monistic Theory) कहा जाता है। साथ ही आस्टिन ने प्राकृतिक अधिकारों का खंडन करते हुए विधि सम्मत राज्य की संकल्पना को प्रस्तुत किया जो राजनैतिक दर्शन में राज्य आधारित विचार (statism) की नींव रखता है। आस्टिन की अनुसार एक विधि आधारित राज्य ही मानव के लिए अत्यंत उपयोगी संस्था है।

20.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

- आस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धांत का जान सकेंगे
- सम्प्रभुता एवं विधि के सिद्धांत को जान सकेंगे
- आस्टिन के दृष्टिकोण से राज्य की प्रकृति को समझ सकेंगे

20.3 जीवन परिचय

सफोलॉक मिलर के ज्येष्ठ पुत्र तथा आंग्ल विश्लेषणात्मक स्कूल के संस्थापक, जॉन आस्टिन का जन्म 1790 ई. में हुआ। आस्टिन अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के बाद लगभग 17 वर्ष की आयु में सेना में भर्ती हो गए, किंतु पाँच वर्ष बाद ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी। तत्पश्चात् बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके सन् 1818 में उन्होंने वकालत शुरू की, लेकिन इस व्यवसाय में वो सफल नहीं को सके। 1819 में इन्होंने सारा टेलर से शादी की और अपने पड़सियों जेरेमी बेन्थम और जेम्स और जॉन स्टुअर्ट मिल के करीबी दोस्त बने। सन् 1826 में उन्हें लंदन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य मिला। वर्ष 1834 में उन्होंने अपने विश्वविद्यालय के पद से इस्तीफा दे दिया। आस्टिन न्याय शास्त्र का अध्ययन करने के लिए जर्मनी भी गए। वहाँ वे शाही कमीशनों के अध्यक्ष भी रहे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वह अवसाद ग्रस्त एवं बीमार रहने लगे थे। वर्ष 1859 में उनका देहांत हो गया। आस्टिन का जीवन एवं उसके विचार उपयोगितावादी विधिक राज्य दर्शन के प्रतिपादन के निमित्त देखने को मिलता है जिसने राजनैतिक दर्शन को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है।

20.4 प्रमुख कृतियाँ

जॉन आस्टिन की कुल मिलाकर निम्नलिखित तीन पुस्तके प्रकाशित हुई-

1. The Province of Jurisprudence Determined
2. A Plea for Constitution
3. On the Study of Jurisprudence

20.5 विधि संबंधी विचार

आस्टिन के चिंतन में तत्कालीन इंग्लैंड की परिस्थितियों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। उसकी मान्यता थी कि लोक विधि मनुष्य के प्राकृतिक विवेक की अभिव्यक्ति है जो मानव व्यवहार का नियमन करती है। उसने कानून को सकारात्मक (Positive) बताया और प्राकृतिक विधियों में अविश्वास प्रकट कर राजकीय कानून का एक पृथक क्षेत्र स्थापित किया जो राज्य की कानूनी प्रभुसत्ता के साथ निकट से जुड़ा है। उसने कानून को स्पष्टता और सुनिश्चितता प्रदान करने की चेष्टा की। उपयोगितावादियों की भाँति ही उसने प्राकृतिक कानून की धारणा को अमान्य ठहराया और कानून को परिभाषित करते हुए कहा कि

“कानून सुनिश्चित सर्वोच्च शक्ति (Determinate Superior) की इच्छा की अभिव्यक्ति है जिसके अनुसार एक निश्चित आचरण (A certain course of conduct) किया जाना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करेंगे उन्हें दण्डित किया जाएगा।“

आस्टिन का कहना था कि कानून सामाजिक संबंधों का नियमन करता है, जिसका ध्येय न्याय तथा जन-कल्याण के साधन जुटाना है, वह सम्प्रभुसत्ताधारी की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य के विधानमंडल को उसका निरंतर संशोधन करने का अधिकार होना चाहिए। उसका कहना था कि सदाचार या विज्ञान और अर्थशास्त्र को भी कानून की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिए। कानून केवल ऐसे नियम को मान सकते हैं जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं-

1. उसकी उत्पत्ति किसी ऐसे स्रोत से होनी चाहिए जो निर्णय करने में समर्थ हो;
2. इसमें किसी आदेश की अभिव्यक्ति होनी चाहिए;
3. यह प्रमाणिक होना चाहिए अर्थात् इसका उल्लंघन करने पर दंड का विधान होना चाहिए।

आस्टिन ने अपने समय के समस्त कानूनों को तीन वर्गों में विभाजित किया है -

1. निश्चित कानून (Proper Laws)
2. अनिश्चित कानून (Improper Laws)
3. प्रतीकात्मक कानून (Metaphorical Laws)

उसने इन तीनों के उपभेद भी किए हैं। निश्चित कानूनों को देवीय (Divine), राजकीय (Civil) एवं संवासों के कानून (Law of rule Association and other sub-voluntary institution) में बांटा गया जिसमें संवासों के कानूनों को पुनः दो उपवर्ग भौतिक विज्ञान विषयक कानून (Law of Sciences) तथा राजनीति अर्थशास्त्र आदि विषयक कानून (Law of Economics, Politics etc.) में बांटा गया।

अनिश्चित कानूनों को उसने दो उपवर्गों - सामाजिक और जातिगत परम्पराएँ तथा रीति रिवाज (Law of Social custom and Tradition) तथा अंतरराष्ट्रीय कानून (International Laws) में बांटा है।

आस्टिन के न्यायशास्त्र का विषय केवल राजकीय विधियों तक ही सीमित था। उसका यह मत था कि न्यायशास्त्र का संबंध केवल राज्य निर्मित विधियों से है और इन विधियों के निर्माण का एकमात्र अधिकार संप्रभु का है। आस्टिन के अनुसार परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज कानून नहीं हैं, उन्हें सामाजिक नैतिकता कहा जा सकता है। वह अंतरराष्ट्रीय विधियों को निश्चित विधियाँ नहीं मानता क्योंकि उनको लागू करने वाली कोई संप्रभुता सम्पन्न शक्ति नहीं होती है। वे किसी निश्चयात्मक संप्रभु का आदेश नहीं होती, बल्कि शिष्टाचार की ऐसी मान्य परम्पराएँ होती हैं जिनका पालन अंतरराष्ट्रीय संबंधों के निमित्त संप्रभु राज्यों द्वारा किया जाता है। आस्टिन देवीय कानूनों को सकारात्मक कानूनों की श्रेणी में नहीं रखता क्योंकि उनकी प्रमाणिता धार्मिक होती है न कि कानूनी।

अतः आस्टिन के शब्दों में सकारात्मक कानून ऐसा कानून है जिसे किसी प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय के स्वाधीन राजनीतिक समाज के किसी सदस्य या सदस्यों के लिए निर्धारित किया गया हो, शर्त यह है कि कानून बनाने वाला व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय उस समाज में सर्वसत्तासम्पन्न या सर्वोच्च हो।

20.6 आस्टिन का संप्रभुता का सिद्धांत

आस्टिन को निश्चयात्मक (Determinate) स्वतंत्रता का जनक माना जाता है। उसका संप्रभुता का सिद्धांत उसकी सकारात्मक कानूनों पर आधारित है। आस्टिन ने राज्य की उत्पत्ति और संप्रभुता पर विचार प्रस्तुत करते हुए उपयोगितावादियों की भाँति राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धांत का विरोध किया। उसके मतानुसार राज्य का अस्तित्व हमारी भलाई अर्थात् उपयोगिता के लिए है। चूँकि राज्य को हम अपने लिए उपयोगी मानते हैं। अतः राज्य के आदेशों को स्वभावतः मानते हैं। राज्य और सरकार का उद्देश्य यही है कि अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान किया जाए।

सकारात्मक कानून को आधार बनाते हुए आस्टिन ने प्रभुसत्ता को परिभाषित करते हुए कहा कि “यदि कोई निश्चित मानवीय सत्ता अपनी जैसी किसी अन्य सत्ता की आज्ञा मानने में अभ्यस्त न हो, बल्कि प्रस्तुत समाज के सर्वसाधारण उसकी आज्ञा मानने में अभ्यस्त हो तो इस निश्चित मानवीय सत्ता को उस समाज में ‘प्रभुसत्ताधारी’ कहेंगे और (इस सत्ता समेत) उस समाज को राजनीतिक और स्वाधीन समाज कहा जाएगा।”

इसका मतलब यह हुआ कि किसी समाज को राजनीतिक और स्वाधीन समाज तभी माना जा सकता है जब उसके भीतर कोई ऐसी निश्चित मानवीय सत्ता विद्यमान हो कि सारे नागरिक उसी की आज्ञा मानने में अभ्यस्त हों और स्वयं वह सत्ता किसी अन्य मानवीय सत्ता के अधीन न हो। दूसरे शब्दों में, इस सिद्धांत के अनुसार सम्प्रभुता राज्य का साभूत एवं अनिवार्य लक्षण है, उसके बिना कोई समाज राज्य का रूप धारण नहीं कर सकता।

आस्टिन की परिभाषा का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित लक्षण इंगित होते हैं-

(1) प्रत्येक राज्य में कोई निश्चित मानव या मानव संस्था सर्वोच्च होती है और अधिकांश नागरिक उनकी आज्ञाओं के पालन का अभ्यस्त होते हैं। आस्टिन के अनुसार सम्प्रभु रूसो की सामान्य इच्छा जैसी भावनामूलक चीज नहीं हो सकती है और न ही संविधान या कानून जैसी कोई अमानवीय वस्तु सम्प्रभु हो सकती है। आस्टिन मानव या मानव संस्था को सम्प्रभु बनाता है और उसे निश्चयात्मक (Determinate) होना चाहिए, अर्थात् जनता जैसी किसी अनिश्चयात्मक संस्था को आस्टिन सम्प्रभु स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार आस्टिन के सिद्धांत में लोक-प्रभुसत्ता की धारणा अमान्य है। सम्प्रभु सत्ताधारी मानव या मानव संस्था की स्थिति अन्य समस्त सदस्यों और संस्थाओं से श्रेष्ठतर होना चाहिए क्योंकि तभी बहुसंख्यक लोगों की आज्ञाकारिता संभव है।

(2) यहाँ निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ (Determinate Human Superior) किसी अन्य उच्चाधिकारी की आज्ञा का पालन नहीं करता, उसके समादेश इच्छा का ही अन्य सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएँ अनैतिक, अन्यायपूर्ण एवं अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती है और उसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार आस्टिन की प्रभुसत्ता असीम एवं निरंकुश है। जिस पर परम्पराओं, परामर्शों, रीति-रिवाजों आदि की कोई मर्यादा नहीं लगाई जा सकती है। सम्प्रभु की मान्यता द्वारा ही उनका अस्तित्व संभव है, इसके आभाव में उनका कोई वैचारिक अस्तित्व नहीं होता है। सम्प्रभु पर कोई भी नैतिक सीमा स्वयं उसके द्वारा आरोपित हो सकती है।

(3) समाज की बहुसंख्या पूर्ण रूप से सम्प्रभु की आज्ञा का अनुपालन करती है और यह अनुपालन कभी ही किसी दबाव के कारण नहीं होता, वरन् एक आदत के रूप में (Habitual Obedience) होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाए तो उसे सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता।

(4) सम्प्रभु द्वारा जो भी आदेश दिए जाते हैं वे सब कानून है; उसके आभाव में किसी कानून का अस्तित्व नहीं होता है। सम्प्रभु का आदेश न मानने वाले दण्ड के भागी होते हैं।

(5) सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। सम्प्रभु अपने समान किसी अन्य मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन करने का आदि नहीं होता और कानून निर्माण का एकमात्र अधिकार उसी को प्राप्त होता है। अतः इसका स्वाभाविक अर्थ है कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि सम्प्रभुता से संबंधित कोई कार्य राज्य के किसी अन्य अधिकारी द्वारा सम्पन्न किया जाता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सम्प्रभुता बंट गई बल्कि इसका आशय केवल यह है कि वह अधिकारी सम्प्रभु की आज्ञानुसार ही उसके द्वारा प्रदत्त शक्ति को जब चाहे तब वापस ले ले या उसका हस्तांतरण अन्य अधिकारी को कर दे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आस्टिन ने सम्प्रभुता का एक विधिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है जिसके निम्न पाँच प्रमुख लक्षण गिनाए जा सकते हैं-

1. पूर्णता (Absoluteness) ,2. सार्वभौमता (Universality),3. अदेयता (Inalienability)
4. स्थायित्व (Permanence) और 5. अविभाज्यता (Indivisibility)

20.7 अधिकार एवं स्वतंत्रता संबंधी विचार

आस्टिन ने अन्य उपयोगितावादियों की भाँति ही 17वीं एवं 18वीं शताब्दियों के विवेकवादियों की प्राकृतिक अधिकार एवं अप्राकृतिक कानून संबंधी धारणाओं को अमान्य ठहराया। इसने कहा कि अधिकार तो वही है जिन्हें सम्प्रभु द्वारा जनता को प्रदान किए गए जाएं और जो कानून द्वारा निश्चित हो। आस्टिन ने यह स्वीकार किया कि अधिकारों का निर्माण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। अधिकारों को दैवीय होने के कारण मानना हमारी अज्ञानता और हठधर्मिता है।

आस्टिन के मत में स्वतंत्रता का औचित्य उपयोगिता है और सम्प्रभु अपने कानून द्वारा आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता की सीमाओं को घटा-बढ़ा सकता है। उनके शब्दों में राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसे एक सम्प्रभु सरकार द्वारा प्रजा के लिए अनुमोदित या स्वीकृत किया जाता है। आस्टिन ने इस प्रकार के विचारों को अमान्य ठहराया है कि राजनीतिक या नागरिक स्वतंत्रता का महत्त्व वैधानिक नियंत्रण से अधिक है। आस्टिन का मत था कि वैधानिक नियंत्रण भी उतना ही उपयोगी है जितनी स्वतंत्रता की स्वीकृति और इसलिए इन दोनों में प्राथमिकतर की समस्या पैदा नहीं होती। उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए वैधानिक नियंत्रण एवं स्वतंत्रता दोनों साधनों में जो भी अधिक लाभकारी होता है उसे सम्प्रभु द्वारा अपना लिया जाता है।

राज्य:

आस्टिन का यह मानना था कि राज्य का अस्तित्व उसकी उपयोगिता में समाहित है। उसका उद्देश्य सर्वाधिक हित की स्थापना एवं वृद्धि है। राज्य के आदेश का पालन इसलिए नहीं किया जाता कि यह स्वयं स्थापित किसी समझौते की देन है बल्कि इसलिए किया जाता है कि ऐसा करना हमारे लिए हितकर है। चूंकि राज्य हमारे लिए हितकर है अतः हम स्वभावतः राज्य के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य एवं सरकार का मूल और सर्वोपरि उद्देश्य ही अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना है। बेन्थम की भाँति आस्टिन ने यह स्वीकार किया है कि मानव जाति विभिन्न समुदायों में विभाजित है और समुदायों का उद्देश्य सार्वजनिक हित है। इसलिए मानव जाति का कुल हित विभिन्न समुदायों द्वारा प्राप्त हितों का योग है। उपयोगितावाद के प्रणेताओं से आस्टिन के विचारों में मुख्य अंतर यह है कि जहाँ दूसरों ने किसी विशेष समुदाय के अंदर लोगों के सुख-दुख का हिसाब लगाकर, उसके सदस्यों की उपयोगितापूर्ण स्थिति का मूल्यांकन किया है वहाँ आस्टिन ने अपनी 'उपयोगिता' के अंतर्गत सम्पूर्ण मानव जाति को समेट लिया है। दूसरे शब्दों में आस्टिन सार्वभौमिक उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए यह मानता है कि यदि कोई समुदाय को हानि पहुँचाकर अपने हितों की पूर्ति करता है जिससे वो सही अर्थों में उपयोगी समुदाय नहीं है।

20.8 सारांश

राजनैतिक दर्शन की परम्परा में आस्टिन ने विधि सम्मत निर्दिष्ट प्रभुसत्ता के सिद्धांत के माध्यम से एक सशक्त राज्य की संकल्पना को प्रस्तुत किया। साथ ही अपनी प्रस्तुत संकल्पना को उपयोगितावादी परम्परा के अनुरूप भी रखा।

हालांकि आस्टिन आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धांत की कटु आलोचना की गई तथापि यह स्वीकार करना होगा कि सम्प्रभुता के जिस कानूनी पहलु पर उसने बल दिया है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। डायसी, जेम्स ब्राइस, हालैंड, बिलोभी जैसे विद्वानों ने आस्टिन के सिद्धांत का अनुसरण किया है। मैक्सी के अनुसार, 'राजनीतिक बहुलवादियों की आलोचनाओं के बावजूद आस्टिन का सिद्धांत प्रभावी है। यह सिद्धांत आज भी राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बना हुआ है। आस्टिन को विश्लेषणात्मक विधि शास्त्र का प्रमुख प्रतिपादक माना जाता है। उसने नैतिकता एवं कानून को पूर्णरूप से पृथक कर विधि शास्त्र का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है।

20.9 शब्दावली

प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)	वह अधिकार जो प्रकृति की देन माना जाता है और वैधानिक सत्ता उसको किसी भी मनुष्य से वापस नहीं ले सकती है।
सकारात्मक कानून (Positive Laws)	उन नियमों को समुच्चय जो किसी प्रभुसत्ताधारी (sovereign) की इच्छा को व्यक्त करती है। उनके अधिकार क्षेत्र में आने वाले सब लोगों के लिए इन नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है और इसका उल्लंघन करने वालों को प्रभावशाली रूप में दंड दिया जाता है।
लोक विधि (Common Law)	इंग्लैंड का वह कानून जो प्रचलित प्रथाओं (convention) की देन माना जाता है। वहां के न्यायधीश अपनी सूझबूझ (common sense) और तर्कबुद्धि (Reasoning) से अपने निर्णयों में इस कानून की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और निर्णय भावी मुकदमों में पूर्वदृष्टांत (Precedent) के रूप में मान्य होते हैं।

20.10 अभ्यास प्रश्न

- प्र. आस्टिन ने विधि को किन तीन वर्गों में बांटा था:
- उ. 1. निश्चित कानून (Proper Laws)
2. अनिश्चित कानून (Improper Laws)
3. प्रतीकात्मक कानून (Metaphorical Laws)
- प्र. आस्टिन की सम्प्रभुता की प्रकृति क्या थी?
- उ. विधिक (Legal)
- प्र. आस्टिन के सम्प्रभुता के तीन प्रमुख लक्षण
- उ. 1. पूर्णता (Absoluteness)
2. सार्वभौमता (Universality)
3. अदेयता (Inalienability)

20.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. राजनीतिक विचारों की रूपरेखा - ओ.पी. गाबा
2. पाश्चात्य राजनैतिक विचारों का इतिहास - पी.डी. शर्मा
3. History of Political Thought vol-2 - Sukhbir Singh
4. A History of Political Thought - G.H. Sabine

20.12 सहायक/उपयोगी सामग्री

1. Grammar of Politics - H.J. Laski
2. Political Philosophies - C.C. Maxey

20.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता क्या है ? आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धांत के प्रमुख विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
2. आस्टिन के विधि संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।

ईकाई 21: इमैनुअल काण्ट

21.1 प्रस्तावना

21.2 उद्देश्य

21.3 इमैनुअल काण्ट का जीवन परिचय

21.3.1 नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना

21.3.2 नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

21.3.3 व्यवहारिक विवेक और मानव गरिमा

21.4 राजनीति का स्वरूप

21.4.1 नैतिक प्रेरणा और कानूनी प्रेरणा में अंतर

21.4.2 क्रान्ति पर काण्ट के विचार

21.4.3 काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन

21.5 सारांश

21.6 शब्दावली

21.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

21.8 संदर्भग्रन्थ

21.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

21.10 निबन्धात्मक प्रश्न

21.1 प्रस्तावना:-

उदारवाद के अन्तर्गत मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हुए यह सोचा जाने लगा था कि मनुष्य का विवेक केवल अपने स्वार्थ का सही-सही हिसाब लगाने की क्षमता लगाने की क्षमता है। आदर्शवाद वह सिद्धान्त है, जिसमें विचार-तत्व (Idea) या चेतन-तत्व (Consciousness) को सृष्टि का सार-तत्व और संपूर्ण परिवर्तन का प्रेरक तत्व मानकर चलते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, भौतिक जगत की तरह सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ भी विचार तत्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। किसी सामाजिक संस्था में निहित विचार-तत्व जितना उन्नत, उत्कृष्ट या उदात्त होगा, वह संस्था उतनी उन्नत और महान होगी। आदर्शवाद का यह सिद्धान्त आदर्श ;ष्कमंसद्ध की कल्पना से अनुप्राणित होकर समाज को नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित करता है। आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है और राजकीय संगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकशील और नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। प्लेटो, अरस्तू की भाँति आदर्शवादी राज्य को उपयोगितावादी पैमाने से नहीं नाप कर उसे एक सर्वोच्च नैतिकता का संस्थागत रूप मानते हैं। जर्मन दार्शनिक हीगल तो बिस्मार्क के राष्ट्रीय राज्य को भगवान का अवतार तक बतलाता है। इमैनुअल काण्ट भी उसमें रूसों की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व ढूँढता है, किन्तु अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन ने इस उग्र आदर्शवाद को उदार ब्रिटिश परम्पराओं में ढालकर एक लोकतांत्रिक राज्य का दर्शन बनाया।

21.2 उद्देश्य:-

आदर्शवादियों के अनुसार नैतिक संस्था होने के कारण राज्य का समाज में अस्तित्व आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" इसलिए वह समाज अथवा राज्य से पृथक् रहकर कभी शांति प्राप्त नहीं कर सकता। आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं मानता। राज्य बनाम व्यक्ति जैसे किसी भी सम्भावित विवाद को वह एक भ्रान्त धारणा मानता है। राज्य का उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है। अतः राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के संपूर्ण विचार को ही त्याग देना चाहिए। आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जड़े व्यक्ति के हृदय में हैं और एक असभ्य, बर्बर एवं मूर्ख पशुवत आचरण करने वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव एवं दिव्य बनाने वाली यह संस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है।

21.3 इमैनुएल काण्ट का जीवन परिचय:-

इमैनुएल काण्ट का जन्म 1724 ई0 में जर्मनी के कोनिंग्सबर्ग प्रदेश में हुआ और 1804 में उनका देहावसान हो गया। जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहकर उसने अपना सारा समय दर्शन, गणित और नीति शासन के गहन अध्ययन में व्यतीत किया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कोनिंग्सबर्ग

विश्वविद्यालय में काण्ट की प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई और वहीं पर बाद में उसने आचार्य का पद संभाला। उसने अपने जन्म स्थान से बाहर कभी भ्रमण नहीं किया। वह 30 वर्ष से अधिक समय तक कोनिंग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में ही न्याय शास्त्र और आध्यात्म शास्त्र का शिक्षक रहा। फ्रांस की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम ने काण्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन इंग्लैण्ड की स्थिति का भी उसे प्रचुर ज्ञान था। काण्ट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन में कोई नवीनता व्यक्त नहीं की। रूसों एवं माण्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके विचारों को ही अपने ढंग से क्रमबद्ध किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डनिंग के शब्दों में- 'राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में काण्ट का सिद्धान्त ठीक वही था जो रूसों का था और उसी को उसने अपनी तर्कपूर्ण शैली से अपने शब्दों में व्यक्त किया है।' उसने मानव को सर्वथा साध्य मानकर प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की आधारशिला रखी। काण्ट ने 40 से भी अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। जिनमें कुछ निम्न है-

1. The Critique of Pure Reason-1781
2. The Critique of Practical Reason-1788
3. The Critique of Judgement-
4. Metaphysical First Principal of the theory of Law, 1799
5. Eternal Peace – 1796

21.3.1 नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना:-

नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना काण्ट के राजनीतिक-दर्शन का सार-तत्व है। यह विचार तात्विक इच्छा (Real Will) के बारे में जे जे रूसों की संकल्पना से प्रेरित है, परन्तु काण्ट ने इसे अपने ढंग से विकसित किया। काण्ट के विचार से तर्कबुद्धि या विवेक मनुष्य के चरित्र का आधार तत्व है। इसकी प्रेरणा से वह यह सीखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप में साध्य माना जाए, किसी दूसरे के स्वार्थपूर्ति का साधन न माना जाए। यह विचार उसे अपने कर्तव्य का बोध कराता है। इस कर्तव्य की भावना से प्रेरित इच्छा में ही उसकी स्वतन्त्रता निहित है। अतः उसकी नैतिक स्वतन्त्रता ही उसकी सच्ची स्वतन्त्रता है।

काण्ट नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करते हुए बतलाता है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, जो बुद्धि प्रधान और सदाचरण से सम्बन्धित है। ये स्वतन्त्र इसलिए है कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन नहीं कर उन नियमों का पालन करता है, जो

स्वयं उसके अन्तःकरण की आवाज है। काण्ट ने इस प्रकार के नियमों को, अटल आदेश (Categorical Imperative of Duty) की संज्ञा दी है। कर्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या से काण्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारण और स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। काण्ट का कथन है कि कर्तव्य भी अटल आदेश है, जो एक विशेष प्रकार के कार्य की मांग करता है, लेकिन सशर्त की अपेक्षा यह 'निरपेक्ष' है। वास्तव में हमारे कर्तव्य पालन का कर्तव्य न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न ही किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार पालन करें। ऐसा उसे इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की कामना करता है बल्कि केवल इसलिए कि वह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस हद तक शुभ है जहाँ तक हमारे 'कर्तव्य के सापेक्ष आदेश' से निर्धारित होती है। इसलिए नहीं कि वह क्या करती है या नहीं करती है। काण्ट के शब्दों में, "संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप की अपेक्षा अच्छी हो। निरपेक्ष रूप की अपेक्षा केवल सद्भावना ही शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णय शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत सी बातों से शुभ और वांछनीय होते हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र शुभ नहीं है, तो प्रकृति के ये उपहार अत्यन्त अशुभ और आपत्तिजनक हो जाते हैं।" काण्ट के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि नैतिकतापूर्ण आचरण से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, क्योंकि नैतिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी गई वस्तु नहीं होकर उसके स्वयं के अन्तःकरण का ही आदेश है।"

काण्ट के अनुसार मानव जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है, जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है, अतः प्रश्न यह उठता है कि, "इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए? काण्ट के मतानुसार हम बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्तव्य पालन में संलग्न रहें। हम स्वयं में एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने आप में स्वयं शुभ हों। काण्ट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ पंक्तियां निगमित की हैं जो निम्न हैं।

1. व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को वहीं कार्य करना चाहिए जिसे सब कर सके, जो सबके लिए उचित हों।
2. अपने में अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति में जो मानवता है, उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चतर बनती जाती है।
3. आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यों के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हमें मानव जाति के प्रति भ्रातृत्व की भावना रखनी चाहिए।

21.3.2 नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण:-

नैतिक स्वतन्त्रता का स्रोत स्वयं व्यक्ति है- कोई बाह्य व्यवस्था नहीं, इसलिए काण्ट का चिंतन व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु जब सब व्यक्ति अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करके एक जैसी इच्छा करने लगते हैं, तब वह सार्वजनिक नियम के रूप में व्यक्त होती है। जैसे कि जब प्रत्येक व्यक्ति की तर्कबुद्धि उसे शिक्षा देती है- 'चोरी मत कर' तब यह विचार सार्वजनिक नियम का रूप धारण कर लेता है। इस तरह के नियमों का समुच्चय कानून के रूप में सामने आता है, और उसे लागू करने के लिए राज्य की जरूरत पैदा होती है। अतः नैतिक स्वतन्त्रता का विचार ही राज्य के अस्तित्व का कारण है। इसी तर्क के अनुसार राज्य सामाजिक अनुबंध का परिणाम है। अनुबंध के माध्यम से मनुष्य अपनी बाह्य स्वतन्त्रता का त्याग कर देते हैं ताकि वे एक 'सार्वजनिक व्यवस्था' के सदस्यों के रूप में तुरन्त अपनी स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त कर सकें। इसके माध्यम से वे अपनी जंगली नियम विहीन स्वतन्त्रता को इसलिए तिलांजलि दे देते हैं, ताकि वे उसकी जगह 'परिपूर्ण स्वतन्त्रता' स्थापित कर सकें। यह स्वतन्त्रता कभी लुप्त नहीं होती क्योंकि यह उनकी अपनी स्वतन्त्र विधायी इच्छा की देन है। काण्ट के अनुसार मनुष्य केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतः किसी भी अनुबंध का ध्येय 'परस्पर लाभ' होना चाहिए। किसी एक पक्ष के स्वार्थ को बढ़ावा देना नहीं। काण्ट ने व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर बार-बार बल दिया। हीगल के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु तथा आरम्भ स्थल है। काण्ट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वयं है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नहीं माना जा सकता है। काण्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा। वह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करें। काण्ट के शब्दों में, "सदेच्छा के अतिरिक्त संसार में या उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिसे निर्बाध इच्छा कहा जा सके। काण्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाया था। वह स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि राज्य की वेदी पर उसका बलिदान नहीं करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियंत्रण उसे पसंद नहीं। यद्यपि वह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक अथवा सार्वजनिक हित के अधीन माननी चाहिए, किन्तु हीगल की भाँति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नहीं है। वाहन ;टनहींदद्ध के अनुसार, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसे मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक संघर्ष चल रहा है और उसे दोनों में समन्वय स्थापित करने का कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना ईमानदार है कि दोनों में से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।

काण्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर इतना बल दिया है, जिससे व्यक्ति का राज्य की सदस्यता के सामन्जस्य मुश्किल लगता है, क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही व्यक्ति सच्ची

स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, तो उसके जीवन में स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, तो फिर राज्य की आवश्यकता क्यों हैं? काण्ट के अनुसार मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति पायी जाती है। वह सदैव स्वयं को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है। चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यों न हों? बाह्य रूप से मनुष्य समान है, किन्तु उनकी प्रवृत्तियों में बहुत अधिक असमानता है। राज्य ही एकमात्र संस्था है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन्नति करने की अवस्थाएं प्रदान करती है। इसके लिए राज्य केवल व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है-उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता और कर्तव्य पालन के लिए आवश्यक हैं। काण्ट राज्य के अस्तित्व में जन इच्छा को महत्व देता है। जनता द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसे नियंत्रित और व्यवस्थित रखें, पर जनता को विद्रोह अथवा विरोध करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि जनता की कोई एकीकृत इच्छा नहीं होती बल्कि विभिन्न एवं विरोधी इच्छाएं होती हैं। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है, जिसके समक्ष जनता को अपना समर्पण करना चाहिए। काण्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करें वह यथा सम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे सार्वभौमिक नियम का रूप दिया जा सके। काण्ट के अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए आवश्यक शर्त है। नैतिक नियम से नियमित किए जा सकने वाले सर्वव्यापक कानूनों को राज्य ही भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है, और इसलिए वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक अच्छाई है न कि आवश्यक बुराई। काण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनों को ही महत्व दिया है।

सामान्य आदर्शवादियों की भाँति काण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय में उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी है। उसकी मान्यता है कि, "सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।" फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ोसी के अधिकारों के सम्मान का बन्धन अवश्य लगाता है। इस विचार के मूल में उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुतः प्राकृतिक नहीं होकर समाज प्रदत्त है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए उन समस्त व्यक्तियों की आवश्यकता होनी चाहिए जिनकी उसमें रूचि हो सकती है।

21.3.3 व्यवहारिक विवेक और मानव गरिमा

ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में अपने 'अनुभवातीत आदर्शवाद' का प्रतिपादन करते हुए काण्ट ने यह तर्क दिया है कि सृष्टि के बारे में हमारा ज्ञान केवल ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होने वाले गूढ़ और बिखरे हुए संकेतों पर आधारित होता है, जिन्हे हमारा मन तर्कसंगत रूप में समन्वित कर के सार्थक अनुभव का आकार देता है। अतः हम इस जगत का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उस पर ज्ञाता की छाप लगी होती है। परन्तु यह सृष्टि अपने-आप में क्या है, कैसी है-इसका ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम अपने अनुभव के आधार पर सृष्टि के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

इसके लिए हमारे पास एक ही उपाय रह जाता है, और वह यह है कि हम अपने व्यवहारिक विवेक का सहारा लेकर 'मन' और 'जगत' के परस्पर सम्बन्ध का पता लगा सकते हैं। यह बात महत्वपूर्ण है कि हमारी सारी संकल्पनाएं मानवीय गतिविधियों के सन्दर्भ में जन्म लेती हैं। ये गतिविधियां श्रम, विज्ञान, और सब तरह की कलाओं के रूप में व्यक्त होती हैं जो विश्व को मानवीय उद्देश्यों और योजनाओं के अनुरूप ढालना चाहती हैं। अतः दर्शन की स्थापना इस ज्ञान के आधार पर करनी चाहिए कि मनुष्य अपने जीवन की मुख्य-मुख्य गतिविधियों के द्वारा विश्व को मनचाहा रूप देने के लिए कौन-कौन से तरीके अपनाते हैं? मनुष्य का व्यवहारिक विवेक भौतिक जगत के कार्य-कारण सम्बन्ध के नियमों से नहीं बंधा है, बल्कि यह 'सद-असद' अर्थात् भले-बुरे में अन्तर करने में समर्थ है। अतः वह 'नैतिक नियम' से मार्गदर्शन प्राप्त करता है जो कि तत्वमीमांसा की बुनियाद है। इस तरह काण्ट ने नैतिक नियम की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसने आदर्शवादी दर्शन को विशेष रूप से आगे बढ़ाया है।

काण्ट के अनुसार बुद्धि में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह इस बाह्य जगत के मूल तत्व को प्रकट कर सके। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है, जिसका उसे अनुभव होता है, लेकिन ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनुभवातीत हैं। बुद्धि केवल अनुभवजन्य ज्ञान तक सीमित है, अतः वह है जो अनुभवातीत पदार्थों के बारे में कुछ नहीं कर सकती। वॉल्टेयर ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि काण्ट ने कहा कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परे है। ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु श्रद्धागम्य है।

यद्यपि काण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य नहीं मानता, तथापि वह ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। काण्ट का यह आधार उस नैतिक नियमों पर आश्रित है जो उसके अनुसार गणित शास्त्रीय नियमों की भाँति पूर्ण एवं शाश्वत सत्य है। काण्ट का कहना है कि नैतिक कर्तव्यों की भावना मानव अन्तःकरण में जन्म से ही इतनी सुदृढ़ होती है कि इसे सिद्ध करने के लिए तर्क अथवा बुद्धि का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इस नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। नैतिक भावना सदैव सद्कर्तव्य और सत्कार्य को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव अन्तःकरण के लिए आदेश, निरपेक्ष या परम ;इंसानजमद्ध होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का पालन इसलिए करता है कि ये उसके अन्तःकरण की आवाजें होती हैं। नैतिक भावना का आदेश सब परिस्थितियों में समान होता है। काण्ट के अनुसार, 'हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वहीं मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।' काण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड है, नैतिकता से पृथक् राजनीति सर्वथा मूल्यहीन रहती है, जबकि नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतया उपयोगी एवं सार्थक होता है।

मानव प्रकृति के संबंध में काण्ट के यही विचार मानव गरिमा के सिद्धान्त का आधार है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते विशेष सम्मान का पात्र है, और किसी भी सांसारिक वस्तु के मूल्य (Value) से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते अपने-आप में साध्य है, वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को इस दृष्टि से देखने की सद्इच्छा एक निरपेक्ष आदेश है, अर्थात् यह एक ऐसा नियम है जिसके साथ कोई शर्त नहीं जोड़ी जा सकती।

अभ्यास प्रश्न:-

प्र0.1. काण्ट के नैतिक इच्छा एवं नैतिक स्वतन्त्रता को स्पष्ट कीजिए।

प्र0.2 काण्ट के नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बताइये।

प्र0.3. मानव गरिमा और व्यवहारिक विवेकपर काण्ट के विचारों का उल्लेख कीजिए।

प्र0.4. आदर्शवाद क्या हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न:-

प्र02. राज्य एक नैतिक संस्था है। यह कथन किसका है?

(क) उदारवादी (ख) आदर्शवादी

(ग) व्यक्तिवादी (घ) मार्क्सवादी

प्र02. निम्न में से कौन सा आदर्शवादी विचारक है?

(क) हरबर्ट स्पेंसर (ख) बेंथम

(ग) इमैनुएल काण्ट (घ) कार्ल मार्क्स

प्र03. "हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।" यह कथन किसका है?

(क) रूसों (ख) हीगल

(ग) काण्ट (घ) मिल

21.4 राजनीति का स्वरूप:-

राजनीति के स्वरूप के बारे में काण्ट की अवधारणा उसकी नैतिक मान्यताओं के साथ जुड़ी है। उसने नैतिकता को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह विचार प्रकट किया है कि राजनीति को नैतिकता के सामने सदैव नतमस्तक रहना चाहिए। सच्ची राजनीति को नैतिकता के सामने सदैव नतमस्तक रहना चाहिए। सच्ची राजनीति तब तक एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकती जब तक वह नैतिक आदर्शों को प्रणाम न कर लें। काण्ट के अनुसार नैतिकता की प्रेरणा 'सद-इच्छा, से आती है, परन्तु राजनीति केवल कानूनी संस्थाओं का पुनर्निर्माण कर सकती है। यदि राजनीति को नैतिकता से जोड़ दिया जाए तो वह युद्ध पर प्रतिबन्ध लगाकर, शाश्वत शान्ति और मानव-अधिकारों पर बल देकर सार्वजनिक कानूनी न्याय को बढ़ावा दे सकती है।

काण्ट के अनुसार, अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द हैं। उसके ही शब्दों में, "मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, वह है स्वाधीनता"। काण्ट के अनुसार, "स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे पड़ोसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचे। इस तरह काण्ट अधिकारों को उसके अनुरूप कर्तव्यों से संयुक्त मानता है। अधिकारों और कर्तव्यों के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे, तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे। अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्तव्य उसकी आन्तरिक चेतना के फलस्वरूप अपने आप मनुष्य पर लागू होता है। काण्ट ने व्यक्ति के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है-स्वयं के प्रति कर्तव्य, अन्य नागरिकों के प्रति कर्तव्य एवं राज्य के प्रति कर्तव्य।

काण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के साथ अधिकार प्रदान नहीं किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया है, चाहे शासन तंत्र कितना ही अत्याचारी क्यों नहीं हो? विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है। जनता को नहीं। वह जनक्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। व्यक्ति को राज्य का दास नहीं बनाने का विचार करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल देकर एक ओर उसने स्वयं को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में ला खड़ा किया है और दूसरी ओर राज्य को सर्वशक्तिमान भी बना दिया है। हाब्स एवं रूसों के इस विचार से सहमत है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यों ने समस्त अधिकार राज्य को समर्पित कर दिये थे, जिससे राज्य के अधिकार निरपेक्ष एवं निरंकुश बन गए थे। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' में काण्ट ने लिखा है कि, "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, अतः परिणामस्वरूप यह कानून सम्मत नहीं होती।" काण्ट के अनुसार नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक हैं, और इसलिए उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार मान्य नहीं हो सकता। राज्य के आदेशों का पालन

करना ही उचित है, क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति किन्हीं दूसरे आदेशों का पालन नहीं कर अपनी स्वेच्छा का ही पालन करते हैं।

राज्य को सर्वशक्तिमान एवं अपरिहार्य बतलाते हुए और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार का निषेध करते हुए भी काण्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य को अधिक कार्य सौंपना नहीं चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित तथा निषेधात्मक है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से "नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार" के लिए कुछ नहीं कर सकता। यह काम तो व्यक्तियों को स्वयं ही करना होगा। राज्य का कर्तव्य तो इतना ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं पर रोक लगाये तथा ऐसी वाह्य सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना करें, जिससे नैतिक विकास सम्भव हो सके।

शासन तंत्र के विवेचन में मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करते हुए काण्ट ने शासन कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया है-विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिका व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका विभाग एक-दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र रहें। लोक और माण्टेस्क्यू की भाँति काण्ट भी शक्ति - विभाजन के सिद्धान्त में विश्वास करता था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखने का समर्थक था। व्यवस्थापिका और न्यायपालिका को वह तीनों में कोई भी एक-दूसरे की शक्ति नहीं हड़प सकता। काण्ट ने राज्य तीन प्रकार के बतलाए हैं- राजतन्त्र (Autocracy), कुलीनतंत्र(Aristocracy) , प्रजातन्त्र (Democracy)इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागों में विभाजित करता है- ;i. गणतन्त्रात्मक (Republican)और ii. निरंकुश (Despotic)

काण्ट के अनुसार शासनतन्त्र का चाहे कोई भी स्वरूप हों, उसके द्वारा जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए। जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। काण्ट को सरकार के स्वरूप से कोई सरोकार नहीं था। उसके अनुसार सरकार को राज्य में नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करे। काण्ट ने प्रतिनिधात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इससे उसके राजतंत्रवादी होने का आभास मिलता है।

21.4.1 नैतिक प्रेरणा और कानूनी प्रेरणा में अंतर:-

नैतिक प्रेरणा (Moral Motive) और कानूनी प्रेरणा (Legal Motive) में अन्तर करते हुए काण्ट ने यह संकेत दिया है कि नैतिक प्रेरणा 'सद्-इच्छा' और नैतिक नियमों के प्रति सम्मान की भावना से जन्म लेती है जबकि कानूनी प्रेरणा केवल विवशता की अनुभूति को व्यक्त करती है चूँकि

राजनीति का सरोकार कानूनी प्रेरणा से है, इसलिए वह अपने-आप में 'सद-इच्छा' की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

काण्ट ने लिखा है कि 'साध्य लोक (Kingdom of Ends) की संकल्पना सार्वजनिक कानूनी न्याय और नैतिकता के बीच सेतु का निर्माण कर सकती है, क्योंकि सार्वजनिक कानूनी न्याय भी उन साध्यों का समर्थन करता है जो नैतिक भावना के अनुरूप हों। इसी तरह 'साध्य लोक की संकल्पना कला कौशल (Arts) और नैतिकता के बीच भी सेतु का निर्माण कर सकती है। ऐसी हालत में कला कौशल उसी उद्देश्य को समर्पित होंगे जो नैतिक भावना को व्यक्त करता है।

यदि सब व्यक्ति 'सद-इच्छा' से प्रेरित होते तो वे सब व्यक्तियों को अपने-आप में साध्य के रूप में देखते। पर चूंकि मनुष्य के स्वभाव में 'असद' (Evil) की ओर झुकाव भी देखा जाता है, इसलिए नैतिक साध्य की सिद्धि के लिए कानूनी सहारा लेना जरूरी हो जाता है।

सर्वशक्तिमान या प्रभुसत्ताधारी शासक मनुष्य को अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन मानकर 'मनुष्य के अधिकारों' का हनन करते हैं। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण युद्ध है जो अनैतिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है। नैतिकता से प्रेरित राजनीति युद्ध की संभावना को समाप्त करने के उद्देश्य से गणतंत्रवाद का समर्थन करती है। ताकि लोग किसी शासक की प्रजा के स्तर से ऊँचे उठकर नागरिकों का दर्जा प्राप्त कर लें। संक्षेप में, काण्ट के अनुसार राजनीति को कानून के माध्यम से नैतिक साध्यों भी सिद्धि का साधन बनना चाहिए।

21.4.2 क्रान्ति पर काण्ट के विचार:-

काण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के अधिकार प्रदान नहीं किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया है, चाहे शासन तंत्र कितना ही अत्याचारी क्यों नहीं हो? विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है। जनता को नहीं। वह जनक्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। काण्ट को क्रान्ति से घृणा थी। अतः "उसने एक ऐसी परिवर्तनशीलता का उपदेश दिया जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता था।" नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसके प्रति विद्रोह को यह 'धर्मशास्त्र पर आधारित पवित्र कार्य के प्रति विश्वासघात के समान समझता था जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में क्षमा नहीं मिल सकती। यहाँ काण्ट जर्मन आदर्शवादियों का अनुसरण करते हुए कहता है कि "यदि विधान में कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल शासन द्वारा ही हो सकता है, जन-क्रान्तियों द्वारा नहीं।" वास्तव में यह आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का उग्र समर्थक काण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का इतना तीव्र विरोध करता

था। प्रो० डनिंग के अनुसार, जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों, उपद्रवों एवं अव्यवस्था के प्रति घृणा ने उसे क्रान्ति विरोधी बना दिया।

21.4.3 काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन:-

आलोचक काण्ट के आदर्श को काल्पनिक तथा अव्यवहारिक मानते हैं। केवल काल्पनिक अधिकारों और कर्तव्यों का जीवन में कोई विशेष महत्व नहीं है। उनसे समाज का कोई विकास नहीं होता। काण्ट इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सका कि साधारण रूप से व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। काण्ट के विचारों में व्यक्तिवाद ओर आदर्शवाद दोनों का ही पुट है, अतः उसके चिंतन में अनेक विरोधाभास एवं विसंगतियां हैं। उदाहरणार्थ, 'स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय कभी वह उच्चतर व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए आवश्यक व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है तो कभी उसे 'परिस्थितियां, कहने लगता है। इसी तरह एक ओर तो वह जनता की संप्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर ऐसे शासक को उचित मानता है कि जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियंत्रण न हो। सम्पत्ति, दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र आदि सभी विषयों पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। वाहन ने ठीक लिखा है कि 'काण्ट इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा'। राज्य को एक नैतिक संस्था समझते हुए काण्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्यापूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह स्थिर नहीं हो सका।

काण्ट के शासन संबंधी विचारों में कोई नवीनता नहीं है। उसकी सामान्य और शुभ इच्छा का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। विशेष रूप से उसका यह कहना है कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, गलत है। काण्ट अनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने में भी असफल रहा। आलोचकों के अनुसार काण्ट के दर्शन में अव्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है। अन्य जर्मन दार्शनिकों की भांति काण्ट भी राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिससे जन-भावना मूर्त होती है। आगे चलकर हीगल आदि के दर्शन में राज्य की यह परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान बना देती है। अतः यह एक घातक परिभाषा है। जो आदर्शवादी विचारधारा यूरोप में फैली वह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामूहिक जीवन' का अनुभव होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिये जाने के कारण काण्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरह ही झुक गया था। काण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन में कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग में एक संक्रान्ति काल था। रसेल (Russell) जैसे विचारक काण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य' माने, किन्तु राजनीति का गंभीर विद्यार्थी यह जानता है कि वह आदर्शवाद का एक सच्चा संस्थापक था। काण्ट के विचार मौलिक नहीं थे, परन्तु उसने जो कुछ भी किया उसके कारण उसका दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ० क्लिंक (Klinke) का

मत है कि "काण्ट ने एक नए दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास में उनकी दार्शनिक रचनाओं ने मील का पत्थर रखा। वह उन महान एवं गंभीर विचारकों में से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओं से ही बल्कि अपने जीवन से भी समकालीन बुद्धिजीवियों और भावी पीढ़ियों को प्रभावित किया। उसकी विशुद्ध बुद्धि मीमांसा दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में एक महान देन है। काण्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। अनुभववाद और संशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की पुष्टि की। दृश्य जगत और वस्तु-तत्त्व में जिस द्वैत की काण्ट ने कल्पना की थी, उसका परिहास कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया। काण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और संश्लेषण में पार्थक्य (Separation) का फिक्टे (Fichte) की दर्शन पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा।

शापनहोवर के संकल्पवाद और लाट्स के प्रयोजनमूलक विज्ञानवाद पर भी काण्ट के विचारों का प्रभाव है। फ्रीस जॉर्ज सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए काण्ट का ऋणी है। सीमित अर्थ में यद्यपि काण्ट राजनीतिशास्त्री नहीं था, तथापि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा।

काण्ट ने ही सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा प्रसारित कर नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया। उसने विवेकको अनुभूति से उच्च बतलाया और विशुद्ध विवेकको सत्य और असत्य अनुभूतियों को पहचानने का साधन माना। काण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला विचारक था जिसने विश्व-राज्य की कल्पना की। काण्ट के राजनीति विचारों के कारण जर्मनी में उदारवादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहुँचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट के अनुसार, "1781 ई0 से अब तक प्रत्येक महत्वपूर्ण दार्शनिक किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, जाने-अनजाने काण्ट और उसके उत्तराधिकारियों के ऋणी रहे है।"

अभ्यास प्रश्न:-

- प्र0.1. काण्ट के राजनीतिक विचार क्या थे?
- प्र0.2. काण्ट के अनुसार नैतिक प्रेरणा ओर कानूनी प्रेरणा में क्या अन्तर है?
- प्र0.3. क्रान्ति पर काण्ट के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
- प्र0.4. काण्ट के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न:-

- प्र01. काण्ट के अनुसार एकमात्र मौलिक अधिकार क्या है?

(क) संपत्ति का अधिकार (ख) स्वाधीनता का अधिकार

(ग) समानता का अधिकार (घ) जीवन का अधिकार

प्र02. किसने इस बात पर बल दिया है कि राज्य सर्वोच्च नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है?

(क) बोदां (ख) काण्ट

(ग) हॉब्स (घ) बर्क

प्र03. "अहम इसके लक्ष्यों से पूर्व है" और "अधिकार हित से पूर्व है" सिद्धान्तों का समर्थन किया था-

(क) इमैनुएल काण्ट (ख) एफ. डब्ल्यू. जी0 हेगल

(ग) चार्ल्स टेलर (घ) माइकल वॉल्जर

21.5 सारांश:-इस ईकाई को पढ़ने के बाद-

आदर्शवाद का उदय एवं महत्व को समझ गये होंगे। इमैनुएल काण्ट का जीवन परिचय भी भलीभाँति जान गये होंगे। काण्ट के नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी समझ गये होंगे। काण्ट के व्यावहारिक विवेक एवं मानव गरिमा के महत्व को जान गये होंगे। काण्ट के अनुसार राजनीति का स्वरूप क्या है, समझ गये होंगे। काण्ट के अनुसार नैतिक प्रेरणा एवं कानूनी प्रेरणा में अंतर को जान गये होंगे। क्रान्ति पर काण्ट के विचारों को भली भाँति समझ गये होंगे। काण्ट के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन समझ गये होंगे।

21.6. शब्दावली

निरपवाद नैतिक कर्तव्यादेश:	-	Categorical Imperative of Duty
शुद्ध बुद्धि की मीमांसा	-	Critique of Pure Reason
अनुभववाद	-	Impericism
आदर्शवाद	-	Idealism
भौतिकवाद	-	Materialism
बुद्धिवाद	-	Rationalism

भावप्रवणतावाद	-	Emotionalism
स्वतन्त्र इच्छा	-	Free will
स्वआरोपित आदेशात्मक कर्तव्य	-	A Self Imposed Imperative Duty
आधारहीन धारणा	-	Concept Within Content
संक्रान्ति काल	-	Transitional Stage

21.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

21.3 के उत्तर, प्र01. (ख), प्र02. (ग), प्र03. (ग)

21.4 के उत्तर : प्र01. (ख), प्र02. (ख), प्र03. (क)

21.8 सन्दर्भ ग्रन्थ:-

1. शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014
2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006
3. गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014
4. जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस0 बी0पी0डी0 पब्लिकेशन्स आगरा,
5. काण्ट इमैनुएल- द क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1949

21.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2
2. शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013
3. **Dunning- History of Polical Theories, Vol III**
4. **Barker- Political Thought in England**

21.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- प्र01. 'इमैनुअल काण्ट' के नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना का वर्णन करें।
- प्र02. काण्ट की क्रान्ति पर विचारों का वर्णन करें।
- प्र03. काण्ट के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।
- प्र04. काण्ट के अनुसार राजनीति का स्वरूप क्या है। विवेचना करें।

इकाई 22. जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हीगल

इकाइयों की रूपरेखा

22.1 प्रस्तावना

22.2 उद्देश्य

22.3 हीगल का इतिहास दर्शन

22.3.1. हीगल का राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त

22.3.2 हीगल का अलगाव की संकल्पना

22.4 परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना

22.4.1 स्वतंत्रता की संकल्पना

22.4.2 हीगल का मूल्यांकन

22.5 सारांश

22.6 शब्दावली

22.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

22.8 संदर्भ ग्रन्थ

22.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

22.10 निबन्धात्मक प्रश्न

22.1 प्रस्तावना-

जार्ज विल्हेल्म फ्रैड्रिक हीगल उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध का प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक था। हीगल का जन्म जर्मनी के एक नगर स्टुटगर्ट में सन् 1770 में हुआ था। उसे जर्मन आदर्शवाद के सिद्धान्तों के विकास को चरम शिखर तक पहुँचाने तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का शक्तिशाली ढंग से प्रतिपादित करने का श्रेय प्राप्त है। अपने अध्ययन काल में उस पर यूनानी दार्शनिक के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसका कहना था कि “यूनान का नाम सुनते ही सुसंस्कृत जर्मन प्रफुल्लित हो उठता है। यूरोपियन संस्कृति में धर्म के अतिरिक्त विज्ञान का कला का तथा जीवन को उन्नत बनाने वाली आय सभी कलाओं का आदि स्रोत यूनान है।” जब वह विद्यार्थी था, तभी फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई और उससे भी वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसे ‘शानदार बौद्धिक उषाकाल’ की संज्ञा दी। मानव इतिहास में पहली बार उसने सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। हीगल ने प्रत्येक विषय को तर्क के आधार पर समझाने का प्रयास किया। उसके दर्शन का महत्व दो ही बातों पर निर्भर करता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति एवं राज्य का आदर्शीकरण। 1831 में इस महान दार्शनिक का आकस्मिक निधन हो गया।

22.2 उद्देश्य - प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. हीगल के इतिहास दर्शन तथा द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझ सकेंगे।
2. हीगल के राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को जान सकेंगे।
3. हीगल के अलगाव की संकल्पना को जान सकेंगे।
4. हीगल के परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना को समझ सकेंगे।
5. हीगल के दास प्रथा पर विचार को जान सकेंगे।

हीगल की रचनाएं -

1. Philosophy of law
2. Philosophy of History
3. Science of Logic
4. The phenomenology of spirit
5. Encyclopedia of Philosophical Sciences
6. Constitution of Germany
6. हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पना समझ सकेंगे।

22.3 हीगल का इतिहास-दर्शन - हीगल का विश्वास था कि इतिहास एक निरन्तर विकास की प्रक्रिया है, जिसकी मूल प्रेरणा विवेक (Reason) या चेतना (Spirit) है। इस प्रक्रिया के द्वारा चेतना अपने परम लक्ष्य, अर्थात् परम चैतन्य (Absolute consciousness) अथवा परम सत्य (Absolute Truth) की ओर अग्रसर होती है। यह प्रक्रिया अपने अंतर्निहित नियमों से बंधी है जिसे बाहर से नियंत्रित या परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इस मान्यता के आधार पर हीगल ने व्यक्तिवाद के दार्शनिक आधार पर प्रहार किया जो इस मान्यता पर आधारित था कि मनुष्य अपने चंचल चित्त की इच्छा के अनुसार समाज को मनचाहे रूप में ढाल सकते हैं। हीगल के अनुसार केवल तर्क बुद्धि या विवेक से ही इतिहास को संचालित करने वाली यथार्थ शक्तियों का पता लगा सकते हैं और इस प्रक्रिया की अनिवार्यता को समझ सकते हैं। हीगल मानता है कि यह विश्व एक स्थायी वस्तु (Static) न होकर गतिशील (Dynamic) क्रिया है, अतः उसका अध्ययन सदैव एक विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। विश्व के समस्त पदार्थों का विकास अविकसित तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है जिसके कारण विरोधी वस्तुओं ने उच्च कोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस प्रक्रिया में वस्तुओं की निम्नता नष्ट होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है। विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो पहले थी, वह कुछ उन्नत हो जाती है। इस विकासवादी क्रिया को हीगल ने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (Dialectic Process) का नाम दिया है। 'द्वन्द्ववाद' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'Dialego' से हुई है जिसका अर्थ है वाद-विवाद करना। इसमें सत्य तक पहुँचने के लिये तर्क-वर्तिक प्रणाली (Dialectic) को अपनाया था। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस प्रकार है - "सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप होता है। विकासवाद के अनुसार यह बढ़ती है और इसका विकसित रूप कालान्तर में इससे मौलिक रूप में बिल्कुल विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते हैं। कालान्तर में विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ये मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं और इन

दोनों के मेल से वस्तु का नया सामंजस्य (Synthesis) स्थापित होता है। यह सामंजस्यपूर्ण रूप कुछ दिनों में फिर मौलिक रूप बन जाता है और वही क्रिया आवृत होने लगती है।

हीगल के अनुसार प्रत्यय या विचार-तत्व (Idea) सृष्टि का सार-तत्व है। अतः विकास की संपूर्ण प्रक्रिया शुरू से अन्त तक प्रत्ययों या विचारों के उत्थान पतन की कहानी है जिनका मूर्त रूप सामाजिक संस्थाओं के उदय और अस्त में देखने को मिलता है। हीगल का विचार है कि सारा सामाजिक परिवर्तन और विकास परस्पर - विरोधी तत्वों या विचारों के संघर्ष का परिणाम है। इस पद्धति को द्वन्द्वात्मक पद्धति कहा जाता है जो हीगल के प्रत्ययवाद (Idealism) के साथ निकट से जुड़ी है। हीगल के अनुसार परस्पर विरोधी विचारों का द्वन्द्व ही संपूर्ण प्रगति की कुंजी है। इस तरह सामाजिक परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से संपन्न होती है और जब तक वह पूर्णत्व (perfection) की स्थिति में नहीं पहुंच पाती तब तक यह प्रक्रिया अपने आपको दोहराती रहती है। ये अवस्थाएं हैं - पक्ष या वाद (Thesis), प्रतिपक्ष या प्रतिवाद (Antithesis) और संपक्ष या संवाद (Synthesis)। शुरू में 'पक्ष' का अस्तित्व होता है जो पूर्णतः सत्य नहीं होता, चूंकि सत्य का स्वरूप ही स्थायी और स्थिर है, इसलिये 'पक्ष' स्वभावतः अस्थिर होता है। परिणामतः उसका विपरीत रूप 'प्रतिपक्ष' अपने-आप अस्तित्व में आ जाता है। यह 'प्रतिपक्ष' भी पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता। चूंकि 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, इसलिए इनमें तनाव, टकराव पैदा होता है जिसमें वे यथाशक्ति एक दूसरे के उन अंशों को नष्ट कर देते हैं जो असत्य होते हैं। इस संघर्ष में वे अंश बच जाते हैं जो 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' दोनों की तुलना में सत्य के निकट होते हैं। इनके संयोग से संपक्ष का जन्म होता है। इस तरह परिवर्तन का एक चक्र पूरा होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की तुलना में संपक्ष सत्य के निकट होता है। परन्तु वह भी पूर्णतः सत्य नहीं होता, इसलिये वह अस्थिर सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में 'संपक्ष' स्वयं नये 'पक्ष' का रूप धारण कर लेता है और फिर क्रमशः नए 'प्रतिपक्ष' और 'संपक्ष' का आविर्भाव होता है। यह प्रक्रिया जब तक चलती है कि समाज 'परम चैतन्य' की स्थिति में स्थिर नहीं हो जाता है।

हीगल ने राष्ट्र-राज्य को विशेषतः पश्चिमी यूरोप के तत्कालीन राज्य को 'परम चैतन्य' का प्रतिरूप मानते हुए उसे मानव-इतिहास की चरम परिणति स्वीकार किया है। हीगल की ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार राष्ट्र ही इतिहास की सार्थक इकाई है।

व्यक्ति या उनके कोई अन्य समूह नहीं। दर्शन का ध्येय द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से यह स्पष्ट करना है कि एक उदीयमान विश्व सभ्यता के घटक के रूप में प्रत्येक राष्ट्र क्या-क्या भूमिका निभाता है? राष्ट्र की प्रतिभा या चेतना व्यक्तियों के माध्यम से कार्य तो करती है, परन्तु वह उनकी इच्छा या प्रयोजन से नहीं बँधी होती है। राष्ट्र की यही चेतना, कला, कानून, नैतिक आदर्शों और धर्म का सृजन करती है। अतः सभ्यता का इतिहास राष्ट्रीय संस्कृतियों की श्रृंखला है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र संपूर्ण मानवीय उपलब्धि में अपना-अपना विलक्षण और समयोचित योगदान प्रस्तुत करता है।

केवल पश्चिमी यूरोप के आधुनिक इतिहास में ही राष्ट्र की सहज सृजनात्मक प्रेरणा आत्मचेतना और विवेकसम्मत अभिव्यक्ति की स्थिति में पहुँची है। अतः राज्य (State) राष्ट्रीय विकास की चरम परिणति है। हीगल के शब्दों में, “राज्य पृथ्वी पर ईश्वर की शोभा यात्रा है” (The state is the March of God on Earth) हीगल ने राष्ट्र-राज्य को द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति का परिणाम माना है, हालांकि इन दोनों में कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है।

सेबाइन के अनुसार, “ हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को बहुत महत्व नहीं दिया है। उसने इतिहास की जो व्याख्या की उसमें मुख्य ईकाई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समुदाय नहीं होकर राज्य था। हीगल के दर्शन का उद्देश्य द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करना था।”

हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सामाजिक संस्थाओं के विकास में भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारंभिक रूप मानकर उसने राज्य को सामाजिक विकास का सर्वोच्च रूप बतलाया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है, तो वह विकास क्रम में आगे बढ़ता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यों में यह भावना विद्यमान रहती है कि ‘हम सब एक हैं।’ व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार की स्थिति वाद है, लेकिन यही वाद आगे-चलकर ‘प्रतिवाद’ की रचना कर लेता है। कोई भी मनुष्य अपने दृष्टिकोण में एक ही स्थान पर रहकर या कुटुम्ब पर आश्रित होकर प्रगति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के पोषण की भावना, जो पहले स्नेह थी, बाद में मोह बन जाती है और तेरे-मेरे का भाव उत्पन्न कर देती है। इस तरह कालान्तर में ऐसे समाज का निर्माण होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिये संघर्ष करता है। इस सर्वांगीण संघर्ष में प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवों को व्यापक बनाता है। वह सामाजिक प्रतिवाद का रूप लेता है, लेकिन वाद और प्रतिवाद का समन्वय होना भी अवश्यम्भवी है। समाज में अव्यवस्था, अशांति, अनाचार आदि व्यक्तियों की नैतिकता को अस्त-व्यवस्त कर देते हैं। विकास का क्रम शांति में ही सम्भव है। शांति में निर्माण होता है और संघर्ष में विनाश, अतः समाज में शांतिमय वातावरण उत्पन्न करने पर राज्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् राज्य विवेक का परिणाम है। यह राज्य कुटुम्ब और समाज का अर्थात् वाद और प्रतिवाद का सामंजस्यपूर्ण रूप अथवा संश्लेषण हुआ। राज्य के अन्दर भी मनुष्य जीवन के लिये संघर्ष करता है, लेकिन यह संघर्ष सृजनात्मक होता है। इससे उसकी शक्तियों का विकास होता है।

हीगल ने जिस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे शासन के स्वरूप पर भी लागू किया जा सकता है। निरंकुश तंत्र का वाद अपने प्रतिवाद प्रजातंत्र को जन्म देता है निरंकुश तंत्र और प्रजातंत्र के समन्वय से एक सांविधानिक राजतंत्र की उत्पत्ति होती है जो संवाद अथवा संश्लेषण है।

‘हीगल’ इतिहास को मूलतः रहस्यात्मक अथवा विवेक निरपेक्ष नहीं मानता। उसके विचार से इतिहास में अविवेक का नहीं, बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊँचे विवेक के एक नए रूप का

निवास होता है “वास्तविक ही विवेक-सम्मत है और विवेक-सम्मत ही वास्तविक है।” इतिहास के संबंध में हीगल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह अस्त-व्यस्त खण्डों का विकास नहीं बल्कि एक सक्रिय विकास मानता था।

द्वन्द्वात्मक पद्धति को ऐतिहासिक विकास की आवश्यकताओं को स्पष्ट करने वाला उपकरण माना जाता था, लेकिन ‘आवश्यकता’ शब्द उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि ह्यूम ने उसे प्रभावित कर दिया था। हीगल ने इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी को एक राज्य बनाना आवश्यक है, तो उसका तात्पर्य यह था कि उसे ऐसा करना चाहिए। सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियां भी हैं, जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं, अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णय भी सम्मिलित है और ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी। नैतिक निर्णय आवश्यकता और आकस्मिक नियम का आधार अस्पष्ट है।

सेबाइंब के शब्दों में, “हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्श और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। व्यवहार में उसने वास्तविक और आभासी आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दों के मनमाने अर्थ में प्रयोग किया। हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियों से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नहीं दे सकती थी। इतने विभिन्न तत्वों और प्रयोजनों को एक सॉगोपाँग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपलब्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयों को एक तार्किक रूप प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हों, तो इन्हें व्यवहारिक लक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णयों को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते हैं, जो हरेक के लिये खुली होती है। इन दोनों को संयुक्त करने की कोशिश में द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकी बल्कि इन दोनों के अर्थ को उलझा दिया।”

22.3.1. हीगल का राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त - हीगल राष्ट्र-राज्य (Nation-State) को मानव समाज के राजनीतिक संगठन का अंतिम और परम विकसित रूप मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता है कि इसके बाद मानव समाज के राजनीतिक रूप का उससे किसी और उच्च अवस्था में विकास सम्भव नहीं है। काण्ट की तरह से वह न तो अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थक था और न विश्व-शांति की स्थापना हेतु किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना में विश्वास रखता था। अपने पूर्ण रूप में अन्तर्राष्ट्रवाद का विचार उसके लिये एक मूर्खतापूर्ण विचार था। राष्ट्र-राज्य उसके लिये सर्वोच्च है। मानव समाज के राजनीतिक विकास का अंतिम शिखर है। इस राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व को बनाये

रखने के लिये वह युद्ध को एक अनिवार्य साधन मानता है और उसे अपने हितों के संरक्षण के लिये अपनी इच्छानुसार युद्ध करने का अधिकार प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रवाद में राज्य को यह युद्ध करने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती और इसलिये अन्तर्राष्ट्रवाद और उसके एक सबसे प्रमुख स्तम्भ शांति की भावना का विरोध करता है।

हीगल के शब्दों, “ राज्य स्वयं पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई, लज्जा और तुच्छता, लम्पटता और धोखेबाजी आदि के भावात्मक नियमों को स्वीकार नहीं करता।” हीगल शांतिपूर्ण उपायों और समझौतों को अस्वीकार करता है। हीगल के अनुसार युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते हैं। युद्ध व्यक्ति के अहम का नाश करता है और मानव जाति की पतन से रक्षा कर उसमें क्रियाशीलता का संचार करता है। हीगल के अनुसार, “एक समय में केवल एक ही जाति में परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। इसलिए युद्ध में किसी राज्य की सफलता दैवीय योजना के व्यंग्य (Irony of Devine Idea) को व्यक्त करती है।” इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है। युद्ध राज्य की शक्ति का द्योतक है। हीगल का विश्वास है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नहीं मानना चाहिए। मानव के विश्व प्रेम की भावना एक निर्जीव अविष्कार है। युद्ध स्वयंमेव एक नैतिक कार्य है।

हीगल अतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून परम्परा मात्र है जिन्हे कोई भी प्रभुत्व सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस बात की चिंता करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना राज्य का सर्वोपरि दायित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता के आधार पर राज्य पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

हीगल के अनुसार, “राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है वरन् स्वयं में ही पूर्ण स्वतंत्र सम्पूर्णता हैं, अतः राज्यों के पारस्परिक संबंध निजी अथवा नैतिकता मात्र नहीं है। बहुधा ऐसा सोचा जाता है कि राज्य को नैतिकता और निजी अधिकारों के दृष्टिकोण से देखा जाए पर व्यक्तियों की स्थिति कुछ इस प्रकार है कि उनसे सम्बंधित न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि उनके कौन से कार्य यर्थाथ रूप से उचित है। राज्यों के पारस्परिक संबंधों को भी यर्थाथ यरू से ठीक होना चाहिए लेकिन राज्य के संबंध में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो एक तो इस बात का निर्णय कर सके कि यर्थाथ क्या ठी है दूसरे अपने निर्णय को क्रियान्वित सके। अतः राज्य पूर्ण अधिकार सम्पन्न है। किसी अन्य शक्ति को राज्य पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य पारस्परिक संबंधों में पूर्णतः स्वतंत्र है और पारस्परिक निर्णयों को केवल सामयिक और अस्थायी मानते है।”

22.3.2 हीगल का अलगाव की संकल्पना-

हीगल ने एतिहासिक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए ‘अलगाव’ की भूमिका पर भी प्रकाश डाला है, हालांकि आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद के अमानवीयकारी प्रभाव का

संकेत देने के लिये 'अलगाव' की संकल्पना को नए ढंग से विकसित किया। हीगल ने चेतना (Consciousness or Spirit) को सृष्टि का सार-तत्व मानते हुए यह मान्यता प्रस्तुत की कि चेतना 'अलगाव' की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं पार करते हुए उत्तरोत्तर उन्नत रूपों से विकसित होती है जिससे मानव-इतिहास का सृजन होता है। चेतना की इस यात्रा पर व्यक्ति के अपने उद्देश्यों और प्रयोजनों का वश नहीं चलता। 'अलगाव' के बारे में हीगल की संकल्पना इस प्रकार है - शुरू-शुरू में मानव-शिशु अपने-आपको अपनी माता से अलग नहीं कर पाता। कालांतर में वह अपने-आपको एक अलग प्राणी के रूप में पहचानने लगता है। जिसकी अपनी अलग आवश्यकताएं और इच्छाएं होती हैं। इस तरह शैशव से बाल्यकाल में परिवर्तन की प्रक्रिया 'अलगाव' की एक अवस्था है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के अनेक चरणों में से एक है। फिर युवावस्था में जब युवक-युवती एक दूसरे के प्रति प्रेम से आकर्षित होते हैं, तब वे प्रेम के नए रूप से परिचित होते हैं जो उनके माता-पिता के प्रेम से अलग तरह का होता है। इस तरह अपने माता-पिता के प्रेम से उनका 'अलगाव' हो जाता है।

इसी तरह ज्ञान-विज्ञान या कला-कौशल के क्षेत्र में मनुष्य शुरू-शुरू में अपने कोई आदर्श चुनता है और अपने-आपको उनसे बहुत छोटा समझते हुए उनके अनुकरण का प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह स्वयं इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर लेता है तब पुराने आदर्श उसे बहुत साधारण लगने लगते हैं और वह किसी नए आदर्श की ओर आकर्षित होता है। ऐसी हालत में पुराने आदर्श से उसका 'अलगाव' हो जाता है। 'अलगाव' की यही प्रक्रिया संपूर्ण मनुष्य जाति के ऐतिहासिक विकास पर लागू होती है। ऐतिहासिक विकास के क्रम में मनुष्य जाति उत्तरोत्तर अलगाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए अपनी नई-नई विशेषताएं अर्जित करती चलती है। इस तरह चेतन-तत्व अपनी पुरानी अभिव्यक्तियों से अपने-आपको अलग करते हुए नए-नए रूपों में ढलता चला जाता है। इस अर्थ में अलगाव मानव-प्रगति के इतिहास का आवश्यक लक्षण है।

अभ्यास प्रश्न-

1. हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. हीगल के इतिहास की व्याख्या पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।
3. हीगल के राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त क्या है?
4. हीगल के 'अलगाव' की संकल्पना पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. हीगल का जन्म किस सन् में हुआ था।

क. 1780

ख. 1771

ग. 1770

घ. 1772

2. स्पिरिट आफ फिलासफी पुस्तक किसके द्वारा लिखी गयी है।

क. वेपर ख. सेबाइन ग. मैक्सी घ. हीगल

3. हीगल का राज्य के संबंध में निम्न में से कौन का कथन है।

क. राज्य एक आवश्यक बुराई है।

ख. राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं

ग. राज्य एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण किया जाता है।

घ. राज्य पृथ्वी पर ईश्वर की अवधारणा है।

22.4 परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना -

हीगल के अनुसार, सब वस्तुएं आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर आत्मा द्वारा धारण किये गये अनेक रूप है। ये अभौतिक संसार से वनस्पति और पशुओं के भौतिक संसार में प्रगति करती हुई आती है और यह प्रगति उस समय तक निरंतर चलती है जब तक आत्मा मानव-जीवन की अपूर्ण चेतना की स्थिति में नहीं पहुँचती है। मानव-जीवन में आत्मा की शारीरिक और पाशविक शक्तियों का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है, बाह्य जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए आत्मा सामाजिक आचार की संस्थाओं में प्रकट होती है। इन संस्थाओं में कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के लिये आत्म-बलिदान की भावना है। कुटुम्ब अर्थात् वाद की वृद्धि साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब का प्रतिवाद है। कुटुम्ब में तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण काम करते हैं, किन्तु समाज में प्रतियोगिता और संघर्ष दिखाई देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस तरह संघर्ष जन्म लेते हैं। सामाजिक संघर्ष में व्यक्तियों को आत्मनिर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है, लेकिन यह निरन्तर और असीमित संघर्ष अन्ततः व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का जीवन-संग्राम में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब और समाज दोनों के गुणों का सामंजस्य है। राज्य के रूप में आत्मा का बाध्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसलिए हीगल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है - राज्य विश्वात्मा अर्थात् ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय इच्छा है, वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है।

जान लाक और रूसो जैसे उदारवादी विचारकों ने प्राकृतिक दशा के अंत का संकेत देने के लिये 'नागरिक समाज' और 'राज्य' शब्दावली का प्रयोग एक अर्थ में किया है, किन्तु हीगल ने 'नागरिक समाज' और राज्य में स्पष्ट अंतर करते हुए इन्हे नैतिक और आध्यात्मिक विकास की भिन्न-भिन्न

अवस्थाओं के रूप में पहचाना है। हीगल के अनुसार, राज्य या राजनीतिक समाज ऐसा साधन नहीं है जिसे मनुष्य की व्यवहारिक तर्कबुद्धि के द्वारा व्यक्ति-उन्मुख लक्ष्यों की सिद्धि के लिये गढ़ा गया हो। हीगल के अनुसार, सामाजिक जीवन की नैतिक प्रकृति में तीन 'गतियां पाई' जाती हैं जो सब मिलाकर मानव-जीवन के बहुपक्षीय स्वरूप को उजागर करती हैं। ये तीन गतियां हैं: 'परिवार', 'नागरिक समाज' और 'राज्य'। इनमें से प्रत्येक संस्था मानवीय संबंधों का ऐसा संगठन प्रस्तुत करती है जो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित है। इन तीनों के बीच जो द्वंद्वात्मक संबंध पाया जाता है, वह मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों को सार्थक करता है।

'परिवार' ऐसा मानवीय संबंध है जो 'विशेषोन्मुखी' परार्थवाद पर आधारित है, अर्थात् इसमें मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊँचा उठकर दूसरों के लिये त्याग करने को तत्पर होता है। पन्तु उसकी यह परार्थ भावना या परोपकार वृत्ति किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित होती है। दूसरे शब्दों में, यहाँ मनुष्य स्वार्थ से हटकर केवल अपने परिवार के सदस्यों का उपकार करने को तैयार होता है। उदाहरण के लिए, यहाँ व्यक्ति माता-पिता, भाई-बहनों, पति-पत्नी या संतान की सेवा में व्यक्तिगत स्वार्थ को भूल जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की चिंता करता है, या बूढ़े माता-पिता के कल्याण की व्यवस्था करता है, तब उसकी गतिविधियां संकीर्ण स्वार्थ भावना से प्रेरित नहीं होती, बल्कि दूसरों को लाभ पहुंचाने की तत्परता से प्रेरित होती है जिसे सामाजिक लोकाचार के अन्तर्गत एक कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। परन्तु यह संबंध विशिष्ट व्यक्तियों के समूह तक सीमित होता है। अतः यह ऐसा परार्थवाद है जो कठोर सीमाओं से बंधा है।

अन्तर्वैक्तिक संबंधों की दूसरी महत्वपूर्ण गति को हीगल ने 'नागरिक समाज' की संज्ञा दी है। यह 'विश्वजनीन' स्वार्थवाद या 'अंहवाद' का क्षेत्र है। यहाँ मनुष्य (अपने परिवार के सदस्यों को छोड़कर) अन्य सब मनुष्यों के साथ स्वार्थ के आधार पर संबंध रखता है।

जहाँ परिवार के अन्तर्गत मनुष्य गिने-चुने लोगों के साथ संबंधों का निर्वाह करता है, नागरिक समाज उसे बहुत बड़े समुदाय या संपूर्ण समाज के साथ संबंध बनाने का अवसर प्रदान करता है। परन्तु परिवार की भावना के विपरीत ये संबंध स्वार्थ पर आधारित होते हैं। यहाँ व्यक्ति अपने हितों की अधिकतम सिद्धि का प्रयत्न करता है, और अन्य सभी मनुष्यों के हितों को केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन समझता है। अतः नागरिक समाज विशेष रूप से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र है। समाज में व्यक्ति की हैसियत को निजी संपत्ति के आधार पर आंका जाता है। परन्तु वह केवल स्वार्थ-पूर्ति का साधन है, समाज-कल्याण का साधन नहीं। हीगल ने निजी सम्पत्ति के वितरण का समर्थन करता है। वह चेतावनी देता है कि व्यापक निर्धनता उस संरचना को खोखला कर देगी जिसका वह निर्माण करना चाहता है।

बाजार को सुचारू और नियमित रूप से चलाने के लिये कुछ नियमों और विश्वजनीन सिद्धान्तों की जरूरत होती है ताकि आगे चलकर उनके आधार पर कानून बनाये जा सकें, और ऐसे न्यायालय

स्थापित किए जा सके जो इन नियमों को लागू करने में समर्थ हो। हीगल ने नागरिक समाज के इस ढाँचे को बाह्य राज्य (External State) की संज्ञा दी है। हीगल ने लिखा है कि टामस हाब्स, और जान लॉक के बाद से आधुनिक राजनीतिक चिंतन के अन्तर्गत 'बाह्य राज्य' को ही सचमुच का 'राज्य' मान लिया गया है जिसका मतलब यह था कि तर्कसंगत स्वार्थ ही राजनीतिक दायित्व का आधार है। परंतु हीगल के अनुसार सामाजिक जीवन की तीसरी गति, अर्थात् 'राज्य' को केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की नींव पर खड़ा नहीं किया जा सकता। अतः नागरिक समाज और राज्य में अंतर करना जरूरी है। स्वार्थ के आधार पर नागरिकों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे अपने राष्ट्र के सम्मान की रक्षा के लिये युद्ध में कूदकर अपनी जान पर खेल सके।

हीगल ने यह मान्यता प्रस्तुत की है कि राज्य की आधार-शिला व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, बल्कि विश्वजनीन परार्थवाद है। हीगल ने ऐतिहासिक विकास का जो प्रतिरूप प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार परिवार को हम 'पक्ष' मान सकते हैं, नागरिक समाज उसका 'प्रतिपक्ष' है और राज्य इनका 'संपक्ष' है। यह परिवार के 'परार्थवाद' को नागरिक समाज के 'विश्वजनीन' चरित्र के साथ जोड़कर इन दोनों से श्रेष्ठ रचना प्रस्तुत करता है। जो विश्वजनीन परार्थवाद पर आधारित है।

हीगल के अनुसार राज्य आत्मा के उच्चतम विकास का प्रतीक है। ईश्वर ही महायात्रा का अंतिम पड़ाव है। अब इससे आगे कोई विकास नहीं है। हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर परमात्मा का अवतरण कहा है। जैसा कि गार्नर ने लिखा है कि, "हीगल की दृष्टि में राज्य ईश्वरीय है, जो कोई गलती नहीं कर सकता, जो सर्वथा शक्तिशाली और अभ्रान्त है तथा नागरिकों के हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग एवं बलिदान के लिये राज्य अपने नागरिकों को आदेश देता है उसके फलस्वरूप वह न केवल व्यक्ति का उत्थान करता है बल्कि उसे श्रेष्ठत्व भी प्रदान करता है।" हॉबहाउस के शब्दों में, "हीगल का राज्य सिद्धान्त राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्पा और एक अभिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उसके अन्तःकरण उसके दावे तथा अधिकार, उसके हर्ष और दुःख ये सब केवल गौण तत्व हैं।" वेपर की व्याख्या के अनुसार हीगल के राज्य की कई विशेषताएं हैं जिनमें एक यह कि राज्य दैवी है। यह आत्मविकास के उच्चतम शिखर की प्राप्ति है। यह पृथ्वी पर विद्यमान दैवीय अवधारणा है।

22.4.1. दास प्रथा से संबंधित विचार:-हीगल ने अपने सामाजिक चिंतन के अन्तर्गत दास प्रथा की समीक्षा भी की है। इस विषय पर उसके विचार प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू के विचार से सर्वथा भिन्न हैं। प्राचीन समाज स्वामी (Master) और दास (Slave) इन दो वर्गों में बँटा था। अरस्तू ने दास-प्रथा का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया था कि सद्गुण अर्जित करने की क्षमता केवल स्वामी में पाई जाती है। दास में यह क्षमता नहीं पायी जाती, अतः वह स्वामी की सेवा करके ही सद्गुण का लाभ उठा सकता है। हीगल के समय दास-प्रथा उस रूप में प्रचलित नहीं थी। ऐसा लगता है कि हीगल ने अपने समय के निर्धन, कामगार वर्ग ही दुर्दशा के प्रति सरोकार अनुभव करते

हुए उसे दास वर्ग की संज्ञा दे दी, उसे इस दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। स्वामी और दास के चरित्र में अन्तर करते हुए हीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि दास अपनी स्थिति से स्वयं सद्गुण अर्जित करता है जबकि स्वामी सद्गुण शून्य हो जाता है। हीगल ने तर्क दिया कि दास अपने जीवन को भ्रम में मिलाकर तीन गुण अर्जित करता है। 1. ज्ञान (Knowledge) 2. प्रकृति का नियंत्रण (Power over Nature) 3. आत्मसंयम (self Discipline) दूसरी ओर, स्वामी श्रम से दूर रहने के कारण इनमें से कोई भी गुण अर्जित नहीं कर पाता। दास में एक ही कमी पाई जाती है वह अपने भय (Fear) के कारण दास बना रहता है। यदि वह अपने भय पर विजय प्राप्त कर ले तो वह दासता से मुक्त हो जायेगा। हीगल ने आशा प्रकट की कि कालान्तर में स्वामियों का अस्तित्व निरर्थक हो जाएगा, और वर्तमान दास ही नए समनतामूलक समुदाय का सृजन करेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि हीगल ने उभरते हुए पूंजीवाद के अन्तर्गत धनवान और निर्धन वर्गों के परस्पर संबंध को स्वामी और दास के परस्पर संबंध के रूप में देखा। वह निर्भर श्रमिक-वर्ग को अपनी क्षमताओं के प्रति सचेत करना चाहता था और उसके मन से डर को भगाना चाहता था ताकि वह अपनी तथाकथित दासता से मुक्त होकर एक नए समाज का निर्माण कर सके। हीगल के इन विचारों में कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का विशेषतः सर्वहारा की चेतना (Class consciousness) और वर्गहीन समाज (Classless Society) की संभावना का पूर्व संकेत मिलता है।

22.4.2. हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पना:-

जर्मनी की तत्कालीन विखंडित राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हीगल जर्मन राष्ट्र को सुदृढ़ करना चाहता था। हीगल स्वीकार करता था स्वतंत्रता का नारा आधुनिक जगत का मूल मंत्र है। उसकी मान्यता थी कि कर्तव्यों का पालन किये बिना आत्म साक्षात्कार असम्भव है। फिर भी अपने “राज्य दर्शन द्वारा उसने उस मानव-स्वतंत्रता का सर्वथा हनन ही किया। जिसका प्रवर्तन मिल्टन, लॉक आदि ने किया था।” हीगल का कहना था कि पूर्व में एक सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य ही स्वतंत्र था। पूर्व के लोग उस बात से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतंत्र है। यूनान में आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता का उदय हुआ और रोम में अर्मूत मान्यता की प्रधानता हुई। यूनान और रोम में कुछ ही व्यक्ति स्वतंत्र थे, क्योंकि वहां दास-प्रथा विद्यमान थी, किन्तु मानव-स्वतंत्रता का उदय जर्मनी में ही हुआ। जर्मन राष्ट्रों ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि मनुष्य, मनुष्य के नाते स्वतंत्र है। हीगल ने स्वतंत्रता को व्यक्ति के ‘जीवन का सार’ मानते हुए कहा था कि “स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना है। इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारों और कर्तव्यों को तिलांजलि दे देना, क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नहीं हो सकती है। हीगल के अनुसार राज्य स्वयं में एक साध्य होते हुए भी स्वतंत्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार-तत्त्व स्वतंत्रता ही है और स्वतंत्रता चेतना की प्रगति विश्व का इतिहास है। जर्मन जाति को ही सर्वप्रथम इस चेतना की

अनुभूति हुआ कि मनुष्य एक मनुष्य के नाते स्वतंत्र है। हीगल ने राज्य के सार्वभौम स्वरूप की पुष्टि की है, परंतु इसमें व्यक्ति के जीवन के निजी (क्षेत्र) और सार्वजनिक (क्षेत्र) पक्ष एक-दूसरे से एकदम कटे हुए नहीं होते। राजनीतिक स्वतंत्रता ऐसी प्रवृत्तियों के बीच नाजुक संतुलन की स्थिति है। जो परस्पर-विरोधी होते हुए भी आपस में जुड़ी होती है। हीगल के अनुसार यह समन्वय केवल आधुनिक राज्य में ही संभव है जो 'आत्मपरकता के क्षेत्र' (Sphere of Subjectivity) को वैध ठहराता है। नागरिक समाज आत्मपरक इच्छा की स्वयत्ता का क्षेत्र है। हीगल के अनुसार, राज्य 'मानवीय चेतना का विराट् रूप' है; यह विश्व में 'विवेक की यात्रा' है यह मनुष्य की स्वतंत्रता की उच्चतम अभिव्यक्ति है जो परिवार और नागरिक समाज के द्वन्द्व-संघर्ष के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आती है। चूंकि राज्य, विवेक और चेतना की साकार प्रतिमा है, इसलिए राज्य का कानून 'वस्तुपरक चेतना' (Objective Spirit) का मूर्तरूप है। अतः जो कोई कानून का पालन करता है, वही स्वतंत्र है।"

हीगल ने इस उदारवादी संकल्पना का खण्डन किया है कि स्वतंत्रता का अर्थ 'प्रतिबंध का अभाव' (Absence of Restraint) है। हीगल के अनुसार, ऐसी स्वतंत्रता औपचारिक, स्वार्थपूर्वक और निस्सार होती है। उसने तर्क दिया है कि मनुष्य की इच्छा, आवेग और भावावेश पर लगाए गए प्रतिबंध उसकी स्वतंत्रता को सीमित नहीं करते बल्कि ये प्रतिबंध उसकी स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है, क्योंकि वे मनुष्य को अपना व्यवहार राज्य के उच्चतर विवेक के अनुरूप ढालने को विवश करते हैं। 'मनुष्य इन प्रतिबंधों को स्वेच्छा से स्वीकार करता है, या विवश होकर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ वर्तमान विकल्पों में से मनपसंद तरीके का चुनाव नहीं: इसका अर्थ अपने आचरण को निर्धारित नियमों के अनुरूप ढालना है।'

22.4.3. हीगल का मूल्यांकन -हीगल को महान दार्शनिक माना जाता है लेकिन अन्य विचारकों द्वारा उसके दर्शन की कटुतम आलोचना भी की गई है। हीगल का द्वन्द्ववाद बहुत अस्पष्ट है। उसकी तर्क प्रणाली दूषित और अत्यन्त दुरूह है। उसके द्वन्द्ववाद के प्रमुख उपकरण ऐतिहासिक आवश्यकता को पूर्णतः स्वीकार करना कठिन है। नैतिक निर्णय और उसकी आवश्यकता एवं भेद का आधार अस्पष्ट है। कैटलिन के अनुसार, "जीवन के अनुभवों को वाद, प्रतिवाद और संवाद के अनुसार वर्गीकृत करना एक मनोरंजक मानसिक व्यायाम है। द्वन्द्ववादमानसिक व्यायाम के रूप में महत्वहीन नहीं है, किन्तु विवेचन सिद्धान्त के रूप में अविश्वसनीय है।"

हीगल ने अपनी द्वन्द्व-संघर्ष पद्धति द्वारा राज्य की निरंकुशता को प्रकट किया है। वह चरम राष्ट्रीयतावादी दार्शनिक था जिसने व्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया। वह एक सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का पुजारी था। बार्कर के शब्दों में उसने "राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर तक पहुँचा दिया है।" हीगल का सर्वाधिकारवादी राज्य जनतंत्र के साथ मेल नहीं खाता। आइवर ब्राउन के अनुसार व्यवहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का आशय

है आत्मिक दासता, दैहिक अधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध, शांतिकाल में लेवियाथन दैत्य की और युद्धकाल में मलोक (Maloch) की उपासना। आलोचकों ने हीगल को 20वीं सदी की दो बड़ी सर्वाधिकारवादी विचारधाराओं-फासीवाद और साम्यवाद का मूल स्रोत माना है।

स्वतंत्रता के बारे में हीगल की संकल्पना मनुष्य को राज्य का दास बना देती है। यह इस तर्क पर आधारित है कि मनुष्य विवेक का अनुसरण करके ही सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करता है; राज्य 'विवेक' का मूर्त रूप है; इसलिए स्वतंत्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन है। इसके विपरीत, लोकतंत्रीय परंपरा के अनुसार स्थूल प्रकृति और मानव जगत के नियम भिन्न-भिन्न कोटि के हैं। प्राकृतिक नियम अटल और अनन्य हैं, परंतु मानव निर्मित नियम परिवर्तनीय और सुनम्य हैं, अतः उसकी वैधता को चुनौती दी जा सकती है। सैद्धांतिक दृष्टि से हम राज्य को चाहे जितना भी विवेकपूर्ण मान ले, व्यवहारिक दृष्टि से राज्य के आदेश और कानून साधारण मनुष्यों के द्वारा जारी किये जाते हैं, जो सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकते। हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विचार अराजकता की सीमा के दूरे हैं। हीगल की विचारधारा के आधार पर राज्य अपने अनैतिक और सिद्धान्तहीन कार्यों को भी नैतिकता और औचित्य का जामा पहना सकते हैं। हीगल का राजदर्शन आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। यह एक अनुभव शून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप में प्रकट होता है। भ्रमवश वह यह मान बैठा है कि विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है। वाहन के मत में हीगल की इस दार्शनिकता का प्रमुख कारण स्थापित व्यवस्था के प्रति उसका एक अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान परिवर्तन तथा संशोधन करने वाली प्रत्येक इकाई के प्रति अविश्वास था।

कुछ भी हो, हीगल ने 'राज्य' को परिवार और 'नागरिक समाज' में निहित सिद्धान्तों के संश्लेषण का प्रतीक मानते हुए एक नया विचार प्रस्तुत किया। हीगल ने 'राज्य' संस्था के अन्तर्गत स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व - इन तीनों सिद्धान्तों के सार-तत्त्व को एक दूसरे के साथ मिलाने का भव्य प्रयत्न किया है। 19वीं सदी में हीगल का नाम तत्कालीन विश्व-विख्यात दार्शनिकों में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गया जिस प्रकार अरस्तू तथा सन्त टॉमस एक्वीनास के नाम उनके समय में प्रसिद्ध हो गये थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान सम्पूर्ण ज्ञान का विश्लेषण करने की चेष्टा की और मौलिक नियमों की खोज की। ग्रीन, बोसांके, ब्रैडले उससे बहुत प्रभावित थे।

अभ्यास प्रश्न:

1. "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है" इस कथन को दृष्टिगत रखते हुए हीगल के राज्य संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. राज्य एवं समाज के पारस्परिक संबंधों के विषय में हीगल के क्या विचार हैं?

3. हीगल की स्वतंत्रता की संकल्पना को स्पष्ट करो।

4. हीगल के दास प्रथा से संबंधित विचार को स्पष्ट करो।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. हीगल का दर्शन निम्न में से कौन से वाद का आधार है -

क. उपयोगितावाद ख. साम्यवाद ग. समाजवाद घ. सर्वाधिकारवाद

2. हीगल ने सभ्य समाज को देखा -

क. विशिष्टता के साकार रूप में ख. एकता के साकार रूप में

ग. सार्वभौमिकता के साकार रूप में घ. समुदाय के साकार रूप में

3. 'राज्य स्वतंत्रता का वास्तविक कारण है' यह कथन किसका है?

क. ग्रीन ख. रूसो ग. हीगल घ. स्पेंसर

4. 'विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है' यह कथन किसका है?

क. मार्क्स ख. कांट ग. लॉक घ. हीगल

22.5 सारांश- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

हीगल के इतिहास दर्शन को भलीभाँति जान गये होंगे। हीगल के राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को समझ गये होंगे। हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पना को भली भाँति जान गये होंगे। परिवार, नागरिक समाज एवं राज्य की संकल्पना को समझ गये होंगे। हीगल के अलगाव की संकल्पना को भी समझ गये होंगे। हीगल के दासप्रथा सम्बन्धी विचार को जान गये होंगे। हीगल के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन भी समझ गये होंगे।

22.6 शब्दावली-

द्वन्द्वात्मक पद्धति	-	Dialectic Method
राज्य का आदर्शीकरण	-	Idealisation
वाद, प्रतिवाद, संश्लेषण	-	Thesis, Antithesis, Synthesis
निरंकुशतंत्र	-	Despotism
सर्वाधिकारवादी राज्य	-	Totalitarian State
विवेचन सिद्धान्त	-	Interpretative Principles

विश्वात्मा - World Spirit

सांविधानिक राजतंत्र - Constitutional Monarchy

22.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-

22.3 के उत्तर - 1 - ग, 2 - घ, 3 - ग,

22.4 के उत्तर - 1 - घ, 2 - ग, 3 - ग, 4 - घ

22.8 सन्दर्भ ग्रन्थ:-

1. शर्मा, डॉ० पी०डी०-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014
2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006
3. गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014
4. जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस० बी०पी०डी० पब्लिकेशन्स आगरा।
5. अविनेरी एस, प्राब्लम ऑफ वार इन हीगल्स थॉट, जर्नल ऑफ हिस्ट्री आइडिया, 1961
6. हीगल एण्ड नेशनलिज्म, रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स, 24 (1962) 461-484

22.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

- 1.सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2
- 2.शर्मा, डॉ० प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013
- 3.Dunning- History of Polical Theories, Vol III.
- 4.Barker- Political Thought in England.
- 5.Hegal: The Philosophy of Rights, Sec.270, Note
6. फोस्टर माइकेल, दि पॉलिटिकल फिलासफीज ऑफ प्लेटो एण्ड हीगल, न्यूयार्क रसेल, 1995.

22.10 निबंधात्मक प्रश्न-

- प्र०.1. हीगल के इतिहास दर्शन पर एक निबन्ध लिखिए।
- प्र०.2. हीगल के प्रमुख राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक विविचन कीजिए।
- प्र०.3. हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करें।

इकाई 23 : टामस हिल ग्रीन

23.1 प्रस्तावना

23.2 उद्देश्य

23.3.1 राजनीति का नैतिक आधार

23.3.2 ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त

23.3.3 ग्रीन के अधिकार विषयक विचार

23.3.4 सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार

23.4.1 सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार

23.4.2 ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य

23.4.3 कल्याणकारी राज्य के आधार-तत्व

23.4.4 ग्रीन के विश्व-बन्धुत्व एवं युद्ध विषयक विचार

23.5 सारांश

23.6 शब्दावली

23.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

23.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

23.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

23.10 निबन्धात्मक प्रश्न

23.1 प्रस्तावना:-

टॉमस हिल ग्रीन का जन्म 7 अप्रैल 1836 को यार्कशायर के बरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसके पिता इंग्लैण्ड के चर्च में एक विख्यात पादरी थे। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर में ही विद्यापार्जन किया। उसके बाद उसे रग्बी भेजा गया। वहाँ उसने पाँच वर्ष व्यतीत किये। सन् 1855में ग्रीन ने आक्सफोर्ड के बेलियन कालेज में प्रवेश प्राप्त किया। आक्सफोर्डमें उनका सम्पर्क प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर बेन्जामिन जावेट के साथ हुआ, उनके ही प्रोत्साहन से ग्रीन का बौद्धिक क्षेत्र में पदार्पण हुआ। 1860 में ग्रीन बेलियल में फेलो निर्वाचित हुए। 1866 में ट्यूटर बनाये गये और 1878 तक उसी पद पर कार्य करते रहे। 1878 में उन्हें आक्सफोर्ड में नैतिक दर्शन का प्रोफेसर बनाया गया। 26 मार्च 1882 को 46 वर्ष की अल्पायु में बीमारी से आक्सफोर्ड में मृत्यु हो गयी।

23.2. उद्देश्य-

ग्रीन के राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्त के व्याख्यानों का उद्देश्य राज्य, समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करते हुए जन-स्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना था। ग्रीन का विचार-दर्शन एक क्रमबद्ध ईकाई है जिसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है - आध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीति दर्शन। ग्रीन के सम्पूर्ण विचारों का केन्द्र आचारशास्त्र वाला भाग है। ग्रीन का विचार है कि राज्य मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता, परन्तु वह निश्चय ही ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है जिनमें मनुष्य की नैतिक उन्नति हो सके।

ग्रीन की कृतियां-

- i. Prolegomena to Ethics (नीतिशास्त्र की प्रस्तावना) 1883
- ii. Lectures on the Principals of Political Obligations (राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्तों पर व्याख्यान) - 1882
- iii. Lectures on Liberal Legislation and Freedom of contract (उदार व्यवस्थापन और अनुबन्धीय स्वतंत्रता पर भाषण)
- iv. Lectures on the English Revolution (अंग्रेजी क्रान्ति पर भाषण)
- v. Hume's Treatise ह्यूम पर प्रतिबन्ध- 1874

23.3.1 राजनीति का नैतिक आधार- ग्रीन के अनुसार राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य में सब व्यक्ति समान है, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का अधिक प्रभाव था। अरस्तू की भांति उसने भी अपने नीतिशास्त्र की पूर्ति राजनीति से की। उसका विश्वास था कि “राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य अपने सदस्यों के लिये ऐसे कल्याण की सिद्धि सम्भव बनाना है जो सार्वजनिक कल्याण हो।” अपने नीतिशास्त्र में वह आत्मसंतोष या आत्मानुभूति को आचरण का लक्ष्य बतलाता है और अपनी राजनीति में सार्वजनिक कल्याण को परम कल्याण की संज्ञा देता है। ग्रीन के आध्यात्मिक विचारों पर काण्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का आरंभ बिन्दु ही काण्ट का यह विश्वास था कि विशुद्ध बुद्धि एवं यदा-कदा आत्मानुभूति द्वारा अंतिम अथवा परम सत्य को जाना जा सकता है। ग्रीन ह्यूम के अनुभववादी और स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त का विरोधी है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य में आत्म-चेतना है, जबकि निम्न कोटि के प्राणी में केवल ‘चेतना’ ही होती है। हीगल तथा फिक्टे की भांति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार और आत्मा में एक ही तत्व व्याप्त है। यह तत्व बुद्धिगम्य होता है। इस बुद्धिगम्यता के कारण ही ज्ञान हो पाता है। ग्रीन की आत्मा चेतना का काण्ट के आत्म-ज्ञान से पर्याप्त साम्य है, तो उसकी शाश्वत चेतना हीगल के परम विवेक और आर्दश में ही है।

ग्रीन का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में शाश्वत चेतना का निवास रहता है। यही विश्वास उसके राजनीतिक एवं नैतिक विचारों का जन्मदाता है। मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा चेतना भी होती है। जो विश्व चेतना के साथ मिलकर कार्य करती है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य का कल्याण केवल सुखदायी विचारधारा को अपनाने से ही नहीं होता, व केवल सुख की कामना नहीं करता बल्कि वह परम सुख

का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन में अनेक संघर्षों को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। और इस पूर्णता को प्राप्त करने की धुन में भौतिक सुख को भी भूल जाता है। मनुष्य यदि अपने जीवन को वास्तव में सुखी बनाना चाहता है, तो उसे पूर्णता की प्राप्ति का लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। स्पष्ट है कि ग्रीन सुखवाद की धारणा का खण्डन कर नैतिकता का समर्थन करता है। ग्रीन ने नैतिक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान के रूप में मान्यता देते हुए नीतिशास्त्र को ऐसी कड़ी का दर्जा दिया जो राजनीति को तत्व मीमांसा के साथ जोड़ती है। ग्रीन का विचार था कि उदारवाद की परंपरा को जीवित रखने के लिये उसे दार्शनिक और नैतिक कसौटी पर खरा उतरना होगा।

23.3.2 ग्रीन का स्वतंत्रता सम्बन्धी सिद्धान्त- ग्रीन ने भी रूसों और काण्ट की भांति आने सम्पूर्ण व्यवहारिक दर्शन को स्वतंत्र नैतिक इच्छा पर आधारित किया है। ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि समाज में सबको आत्म-विकास के लिये समान अवसर और परिस्थितियां प्राप्त हों, ऐसी परिस्थितियां जुटाना राज्य का दायित्व है। ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता दो प्रकार की होती है। प्रथम- आन्तरिक स्वतंत्रता, जिसका अर्थ होता है अपनी मनोवृत्तियों को वशमें रखना जो आचारशास्त्र का विषय है। द्वितीय- बाह्य स्वतंत्रता जिसका अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिनमें व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के निम्मित क्रियाशील हो सकें। ग्रीन के मानव चेतना संबंधी विचार नैतिक और आध्यात्मिक है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना है और राज्य का कर्तव्य व्यक्ति के आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता तथा आदर्श चरित्र के निर्माण के मार्ग में बाधा उत्पन्न नहीं कर उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का सार-तत्व 'आत्म-निर्णय' है। राज्य के लिये यह उचित नहीं है कि वह दमन और हस्तक्षेप की नीति अपनाकर या पैतृक शासन-व्यवस्था स्थापित करके व्यक्ति के 'आत्म-निर्णय' की प्रक्रिया में बाधा उपस्थित करें। उसके विपरीत राज्य का कर्तव्य यह है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्र नैतिक इच्छा को मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर दे और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें।

स्वतंत्रता केवल योग्य कार्यों की ही होती है- ग्रीन के अनुसार "मानव चेतना में स्वतंत्रता निहित है। स्वतंत्रता में अधिकार निहित है और अधिकारों के लिये राज्य आवश्यक है" ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता का कार्य केवल शुभ इच्छा की स्वतंत्रता ही हो सकती है। अतः स्वतंत्रता का ऐसा नकारात्मक अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह 'प्रतिबन्ध का अभाव' है जैसे सुंदरता का यह नकारात्मक अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह 'कुरूपता का अभाव' है। ग्रीन के शब्दों में, "स्वतंत्रता ऐसा करने या पाने की सकारात्मक शक्ति है जो करने योग्य या पाने योग्य हो।" करने योग्य कार्य को करने या पाने योग्य वस्तु को पाने की इच्छा ही 'सद्-इच्छा' है। और 'सद्-इच्छा' की पूर्ति की क्षमता या सकारात्मक शक्ति ही सकारात्मक स्वतंत्रता का सार-तत्व है। ग्रीन की स्वतंत्रता

आत्मपरक और आन्तरिक होने के साथ-साथ वास्तविक और सकारात्मक भी है। ग्रीन के शब्दों में, “हमारा आधुनिक कानून जो श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण हमारी स्वतंत्रता में अधिकाधिक हस्ताक्षेप प्रतीत होता है। इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भलाई में वृद्धि करना नहीं है तथापि उन परिस्थितियाँ का निर्माण करना है जिनके बिना मानव-शक्तियों का स्वतंत्र रूप से कार्य करन असम्भव है” राज्य को चाहिए कि वह उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें।

निश्चयात्मक स्वतंत्रता- स्वतंत्रता कार्य करने का अवसर प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यों का स्वरूप निश्चयात्मक होता है अर्थात् निश्चित कार्य करने की स्वतंत्रता-ऐसे कार्य जो किये जाने योग्य है, न कि प्रत्येक कार्य। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों को जो हमारे आत्मबोध में सहायक हो, करने की स्वतंत्रता हो सकती है। ग्रीन के अनुसार, “स्वतंत्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कामों का निश्चयात्मक अधिकार है।” स्वतंत्रता का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करे। स्वतंत्रता शब्द अपने-आप में भी स्वतंत्र है और दूसरों को भी उतनी स्वतंत्रता प्रदान करता है जितना वह स्वयं स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का वास्तविक उपयोग तभी किया जा सकता है जब वह अधिकारयुक्त है। अधिकार विहीन स्वतंत्रता उच्छश्रृंखलता में परिवर्तित हो जाती है।

23.3.3 ग्रीन के अधिकार विषयक विचार-

ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के विकास में राज्य द्वारा आवश्यक सहायता पहुँचाने का सर्वोत्तम माध्यम यह है कि वह पक्षपातहीन और सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं। ग्रीन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न उचित कार्य करने की सनक अर्थात् स्वतंत्रता चाहता है और उसके लिये उसे कुछ परिस्थितियों की अपेक्षा होती है। उन परिस्थितियों और सुविधाओं द्वारा ही वह आत्मानुभूति कर सकता है, आत्मविश्वास की चरम अवस्था में पहुँच सकता है। ये परिस्थितियाँ और सुविधाएं ही अधिकार हैं। अधिकार का निर्माण दे तत्वों से मिलकर होता है। (1) व्यक्ति की मांग (2) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी एक तत्व के नहीं होने पर अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता। स्वयं ग्रीन के शब्दों में, “किसी भी व्यक्ति को समाज कल्याण को महत्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के अलावा दूसरे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। प्राकृतिक अधिकार अर्थात् प्राकृतिक स्थिति में अधिकार, व्यवस्थित अधिकारों के विपरीत है, क्योंकि प्राकृतिक स्थिति में अधिकार व्यवस्थित समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव में अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता है।” समुदाय का दायित्व और अधिकार व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से संबंधित है। ग्रीन के अनुसार,

“केवल ऐसे मनुष्यों के लिये ही अधिकारों की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से मनुष्य हो। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारों का नियम पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।” ग्रीन के मतानुसार अधिकार स्वाभाविक उस अर्थ में है, जिस अर्थ में अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हें आदर्श अधिकार कहना अधिक श्रेष्ठ होगा। इन अधिकारों को सद्भावना के आधार पर सुसंगठित समाज द्वारा अपने सदस्यों को प्रदान करना चाहिए और वह प्रदान भी करेगा।

अधिकार, नैतिकता और कानून का संबंध- ग्रीन अधिकारों का नैतिकता तथा कानून से घनिष्ठ संबंध और भेद मानता है। अधिकार नैतिक जीवन से घनिष्ठ संबंध रखते हैं क्योंकि अधिकारों के बिना नैतिक जीवन बिताना संभव नहीं है। अधिकार का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है, जबकि नैतिकता का संबंध आन्तरिक मनःस्थिति से है, उसका पालन बल प्रयोग द्वारा नहीं कराया जा सकता।

अधिकार और कानून में भी घनिष्ठ संबंध है। अधिकार प्रारंभ में नैतिक मांगे होती है जिन्हे बादमें कानूनी रूप देकर अधिकार का दर्जा प्राप्त हो जाता है। किसी भी अधिकार को कानूनी रूप देकर राज्य द्वारा बलपूर्वक पालन कराया जा सकता है। अधिकार और कानून में अन्तर भी है। सभी कानून नैतिक दृष्टि से न्यायोचित हो यह आवश्यक नहीं। राज्य द्वारा अन्यायपूर्ण कानून भी बनाये जा सकते हैं। जैसे- प्राचीन यूनान में दास प्रथा प्रचलित थी, उसी प्रकार हिन्दू समाज में छुआछूत की अन्यायमूलक व्यवस्था थी।

23.3.4 सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार-

राज्य अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसके पास बाध्यकारी शक्ति है, जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या कायम रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राजदर्शन में राज्य की सर्वोच्च सत्ता या सम्प्रभुता कहते हैं जहाँ रूसो के अनुसार ‘सम्प्रभुता’ सामान्य इच्छा या जनता में निहित होती है, वही जॉन आस्टिन के अनुसार ‘सम्प्रभुता’ का निवास ‘किसी निश्चित सर्वोच्च मानव’ में होता है। ग्रीन सम्प्रभुता संबंधी दोनों दृष्टिकोणों को विरोधी न मानकर पूरक मानता है। रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को राज्य का आधार मानते हुए वह कहता है कि समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार करती है और इन्हीं अधिकारों की रक्षा करने के लिये सर्वोच्च सम्पन्न राज्य का जन्म होता है। राजा की सम्प्रभुता का आधार समाज की सामान्य इच्छा है। इसके साथ ही ग्रीन आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त के इस आधार को स्वीकार कर लेता है कि एक पूर्ण रूप ले विकसित समाज में कोई निश्चित मानव या समूह ऐसा होना चाहिए जिसके पास अन्ततः कानून

निर्मित कर क्रियान्वित करने की शक्ति होनी चाहिए तथा जिसकी शक्ति पर किसी प्रकार का वैधानिक अंकुश न हो।

ग्रीन के अनुसार सम्प्रभुता सामान्य हित पर आधारित ऐसी सर्वोच्च नैतिक शक्ति जो सामाजिक मान्यता प्राप्त किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और जिसे सामाजिक हित में मानकर सभी लोगो द्वारा उसके आदेशों को स्वीकार किया जाता है। वह उसे 'सार्वभौम बुद्धि का पूर्ण इच्छा' के नाम से पुकारता है।

अभ्यास प्रश्न -

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस विचारक के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसने आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया है?

- | | |
|--------------|-------------------|
| (क) स्पेन्सर | (ख) टी. एच. ग्रीन |
| (ग) बैन्थम | (घ) डायसी |

2. ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा आधारित है -

- | | |
|--------------------------------|--------------------------------|
| (क) रूसो और हीगल के विचारों पर | (ख) रूसो और बेथम के विचारों पर |
| (ग) बेथम और मिल के विचारों पर | (घ) हीगल और मिल के विचारों पर |

3. "स्वतंत्रता के लिये अधिकार और अधिकारों के लिये राज्य चाहिए" इस विचार का प्रतिपादक है।

- | | |
|------------|------------|
| (क) लास्की | (ख) प्लेटो |
| (ग) लॉक | (घ) ग्रीन |

4. 'मानवीय चेतना स्वतंत्रता का आधार प्रस्तुत करती है; स्वतंत्रता के साथ अधिकार जुड़े होते हैं और अधिकार राज्य की मांग करते हैं।' यह कथन किसका है-

- | | |
|------------|-----------------|
| (क) लास्की | (ख) ग्रीन |
| (ग) रूसो | (घ) जे. एस. मिल |

23.4.1 सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार -

सामान्य इच्छा की धारणा के संबंध में ग्रीन, हॉब्स, लाक और रूसो से बहुत प्रभावित है तथापि इनके सिद्धान्तों में एक गंभीर दोष यह है कि संप्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यथार्थता से दूर चले जाते हैं। ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन 'सामान्य इच्छा' (General Will) की संज्ञा देता है। जहाँ अनुभववाद और उपयोगितावाद के समर्थक व्यक्तियों को पृथक-पृथक इकाइयों के रूप में देखते हैं, वहाँ ग्रीन ने मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर विशेष बल दिया है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य वस्तुतः आत्म चेतना प्राणियों (Self Conscious Beings) के रूप में उस 'शुभ', हित या कल्याण (Good) कह सिद्धि करना चाहते हैं जिसे वे अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर अपने मन में उतारते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहते हैं। जिसे वे अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर अपने मन में उतारते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने स्वार्थ या व्यक्तिगत शुभ को उतनी अच्छी तरह नहीं पहचानते जितनी अच्छी तरह वे सामान्य शुभ या सामान्य हित को पहचानते हैं। ग्रीन ने इच्छा के दो रूप माने हैं। (प) वास्तविक इच्छा (Actual will) यथार्थ इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है इसका निर्माण मनुष्य की काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं के वशीभूत होता है। यह इच्छा विवेकहीन होती है और यथार्थ इच्छा अर्थात् सदेच्छा (Real Will or Good Will) मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करती है। इन सद्-इच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने सामान्य इच्छा की संज्ञा दी है। ये सद्-इच्छाएं ही राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका प्रतिनिधित्व करता है। यदि वास्तविक इच्छाओं अर्थात् भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाए, तो मानव के नैतिक विकास का वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा। यही कारण है कि सामान्य चेतना किसी ऐसी नैतिक संस्था को आवश्यक समझती है, जो स्वतंत्र कार्यों के लिये आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है।

ग्रीन के अनुसार राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है। राज्य व्यक्तियों की सामान्य हित कामना का फल है। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उल्लंघन करने पर दण्ड का भय होता है। वरन् इस अनुभूति के फलस्वरूप करती है कि राज्य और उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित हैं। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य में सामान्य इच्छा का निवास होता है। ग्रीन की सामान्य इच्छा 'राज्य की इच्छा' नहीं अपितु राज्य के लिये इच्छा है।

कभी-कभी राज्य हमारे विरुद्ध बल प्रयोग करता है, पर वह हमारी सबकी इच्छा से ही वैसा करता है, क्योंकि इसी कार्य के लिए हमने उसकी स्थापना की है।

23.4.2 ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य –

ग्रीन के राज्य संबंधी विचार पूर्णतया मौलिक है। उसने राज्य के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए रचनात्मक तथ्यों पर बल दिया। उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की है पर राज्य के जिन कार्योंका उल्लेख किया है वह यथार्थ राज्यों के ही कार्य है। ग्रीन राज्य को बाह्य तथा आन्तरिक दोनों दृष्टियों से सीमित मानता है। राज्य के कार्य सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो कार्य करने योग्य है और इनके करने में जहाँ बाधाओं के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करें। ग्रीन राज्य को अधिकार देता है कि नैतिकता के विकास के लिये उचित होने पर वह नागरिकों के कार्य में हस्तक्षेप करें तथा आवश्यक होने पर बल प्रयोग से भी न हिचके। नकारात्मक दृष्टि से राज्य का यह कर्तव्य किसी भी प्रकार व्यक्ति का आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है अपितु उसका कार्य तो बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे व्यक्ति में अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिये दण्ड की व्यवस्था करें जो सामाजिक उन्नति के मार्ग में बाधक हो। राज्य उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास में बाधक हो। राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन-निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन के अनुसार, राज्य की शक्ति या प्रभुसत्ता मनुष्यों के नैतिक अधिकारों को लागू करने का साधन मात्र है। यदि सभी मनुष्य सब जगह सबके लिए आदर्श वस्तुओं की कामना करते हैं, और कोई किसी के मार्ग में बाधा उपस्थित न करता तो समाज स्वयं चालित होता और उसमें राज्य की सत्ता या प्रभुसत्ता स्थापित करने की आवश्यकता ही न होती। परन्तु व्यवहारतः मनुष्य में दो तरह की इच्छा पायी जाती है। 'सद्-इच्छा और तात्कालिक-इच्छा सद्-इच्छा तो मनुष्य को दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने की प्रेरणा देती है, परन्तु तात्कालिक इच्छा उसे उससे विमुख कर सकती है। ऐसी हालत में तात्कालिक इच्छा के दमन के लिए कानून की जरूरत पैदा होती है। अतः कानून मनुष्य को कुछ कार्य करने या न करने के लिए विवश कर सकता है, परन्तु ऐसे कार्य बाह्य कार्य होंगे। कोई भी कानून मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता क्योंकि नैतिकता ऐसी प्रेरणा पर आधारित है जिसकी स्वतन्त्र रूप से इच्छा की गयी है। अतः ग्रीन ने लिखा है ' राज्य का आधार इच्छा है, बल प्रयोग नहीं'।

ग्रीन के अनुसार राज्य नैतिकता को लागू नहीं कर सकता क्योंकि नैतिकता तो व्यक्ति के अन्तःकरण की वस्तु है: नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे सकारात्मक तरीके अपनाकर राज्य के द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता। राज्य व्यक्ति को अपने कानूनों के माध्यम से नैतिक नहीं बना सकता। ग्रीन के शब्दों में, व्यक्ति के बाहरी आचार-विचार को प्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार के दण्ड की धमकी देकर कोई प्रतिबन्ध लगाना सामान्य हित के विरुद्ध है। व्यक्ति के आचरण की सारी क्रियाएं सामान्य

हित की दृष्टि से, स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिए। सरकारी प्रतिबन्ध सामान्य हित के स्वाभाविक संचालन में हस्तक्षेप है और उस क्षमता के विकास में रूकावट है, जो अधिकारों के लाभकारी प्रयोग की आवश्यक शर्त है। अतः राज्य का प्रत्येक हस्तक्षेप रूकावटें दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिए।

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहां तक होगा तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा? ग्रीन ने उसकी कोई निश्चित सीमाएं निर्धारित नहीं की है, किन्तु उसने अपनी समकालीन व्यवहारिक परिस्थितियों को देखते हुए कुछ उदाहरण अवश्य दिया है। नकारात्मक दृष्टि से वह मानता है कि अज्ञानता, बर्बरता आदि के निराकरण द्वारा राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य को भूमि व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। व्यक्तियों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिए। मद्यपान का निषेध करना चाहिए। भिक्षावृत्ति को मिटाना चाहिए आदि। ग्रीन उन्हें मानव-विकास के मार्ग की बाधाएं मानता है और इसलिए इन्हें दूर करने के लिए राज्य के प्रयत्नों की वकालत करता है।” बार्कर के अनुसार, ”ग्रीन स्वाधीनता की सृष्टि के लिये बल का प्रयोग करता है।” ग्रीन का यह दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को प्रतिबन्धित करता है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस संबन्ध में बार्कर का मत है कि ”ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है, जो मानवीय क्षमता को करणीय कार्य करने से रोकती है। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठतर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कार्य नहीं है। उसका कार्य तो उन बाधाओं को दूर करने का है, जो व्यक्तियों को श्रेष्ठतर बनाने से रोकती है और यह एक नकारात्मक कार्य है।

ग्रीन के मतानुसार शासन को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मानव-नैतिक सिद्धान्तों पर चलता हुआ अपने कर्तव्यों का निष्काम भाव से निष्पादन कर सके। इन कर्तव्यों को निभाने के लिए उपर्युक्त अवस्था का निर्माण ही अधिकार है। राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता में कमी न होकर वृद्धि होती है। क्योंकि इस हस्तक्षेप में ही समाज का हित निहित है- ”स्वतन्त्रता विरोधी शक्तियों को दबाने के लिए राज्य को बल प्रयोग अवश्य करना होगा।” ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न संघों के पारस्परिक संबन्धों को सुव्यवस्थित करना भी है। वह प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार व्यवस्था का संतुलन करता है। और ऐसी प्रत्येक अधिकार व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ वाह्य समन्वय करता है। समन्वय स्थापित करने के अधिकार के कारण राज्य को अंतिम सत्ता प्राप्त है। निष्कर्ष रूप में ग्रीन द्वारा निर्धारित राज्य के कार्य इस प्रकार हैं:-

1. नैतिकता में बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियों का दमन करना।
2. सदाचरण, पवित्रता तथा संयम को प्रोत्साहित करना।

3. उन साधनों की व्याख्या करना जिनसे नागरिकों में नैतिक भावनाओं का विकास हों।
4. ऐसे लोगो के लिए दण्ड व्यवस्था करना जो नैतिक नियमों में बाधक हों।
5. शिक्षा-प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिशाप को समाप्त करना।
6. सामान्य इच्छा और जन-कल्याण में प्रतिरोध उपस्थित करने वाले मद्य-निषेध हेतु कानून लागू करना।
7. व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करना एवं भूमि नियन्त्रण लागू करना।
8. विभिन्न वर्गों एवं स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करना और बहुसंख्यक वर्ग के लाभ के कार्य करना।
9. नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रत्यक्ष रूप से बल-प्रयोग नहीं करना।
10. अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में सहायक बनाना।

राज्य के ये कार्य केवल निषेधात्मक ही प्रतीत नहीं होते, अपितु व्यवहारिक रूप में ग्रीन ने राज्य के विधेयात्मक कार्यों पर भी बहुत बल दिया है। ग्रीन के राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने व्यक्ति को विशेष महत्व और गरिमा प्रदान करते हुए उसे हीगल की भाँति राज्य का साधन नहीं माना, अपितु साध्य बना दिया है। ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है।

23.4.3 कल्याणकारी राज्य के आधार तत्व:-

ग्रीन ने रूसों काण्ट और हेगेल जैसे आदर्शवादी विचारकों की शिक्षाओं को उदारवाद की मान्यताओं के साथ जोड़कर इसे 'कल्याणकारी राज्य; की दिशा में आगे बढ़ाया। ग्रीन ने जिस नैतिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया, वह कल्याणकारी राज्य का महत्वपूर्ण तत्व है। उसके विचार से, नैतिक स्वतन्त्रता तो मनुष्य का उपर्युक्त गुण है। सच्ची स्वतन्त्रता अधिकारों की मांग करती है। अधिकार मनुष्यों के नैतिक चरित्र से जन्म लेते हैं, किसी अनुभवातीत कानून से जन्म नहीं लेते, जैसा कि जॉन लॉक ने सोचा था। अधिकारों की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है कि उसे स्वयं और उसके सहचरों को आदर्श उद्देश्यों की सिद्धि का समान अधिकार है।

ग्रीन ने राज्य को समाजों का समाज माना है। इन समाजों का निर्माणकर्ता राज्य नहीं किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित समन्वय स्थापित करने का राज्य को अधिकार है। बार्कर के शब्दों में, 'राज्य प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार - व्यवस्था का संतुलन और ऐसी प्रत्येक अधिकार व्यवस्था का

शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ समन्वय करता है।” इसी समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य एक अंतिम राजसत्ता प्राप्त संस्था है। राज्य एक संगठित शक्ति का प्रतीक है, शक्ति सम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का द्योतक है, क्योंकि समाज की रचना विविध और विभिन्न वर्गों, तत्वों, स्वार्थों और व्यक्ति से होती है। समाज में व्यक्ति और राज्य के मध्य परिवार, धर्म, संघ, आर्थिक-संघ, व्यावसायिक और औद्योगिक संघ, शिक्षण संघ आदि अनेक उपयोगी समुदाय होते हैं। जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, लेकिन राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों में नियन्त्रण तथा सामन्जस्य कायम रखना है, उन्हें मिटाना अथवा छीनना राज्य का उद्देश्य नहीं होता। समुदायों की तुलना में राज्य को प्राथमिकता दी जाती है। समाज में बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। राज्य के माध्यम से ही समाज के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारों, विधियों, नियमों का स्रोत है।

ग्रीन ने सम्पत्ति के विनियमन पर विशेष बल दिया है जो कि कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषता है। वैसे अधिकारों के समर्थक के नाते उसने सम्पत्ति के अधिकार का भी समर्थन किया है क्योंकि सम्पत्ति सामाजिक हित को बढ़ावा दे सकती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता भी यह मांग करती है कि मनुष्य को भौतिक वस्तुएं अर्जित करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु सम्पत्ति की विषमता ग्रीन को दुविधा में डाल देती है। जब सम्पत्ति का अधिकार ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है कि कुछ लोगों के उसका बहुत बड़ा हिस्सा मिल जाता है, और दूसरों के लिए नैतिक स्वतन्त्रता के प्रयोग में बाधा उपस्थित हो जाती है तब सम्पत्ति के अधिकार का नियमन जरूरी हो जाता है। ग्रीन ने विशेष रूप से भूमि के स्वामित्व को ऐसी स्थिति के लिए दोषी ठहराया है।

दण्ड पर ग्रीन के विचार ;

ग्रीन के अनुसार अपराधी की समाजविरोधी इच्छा स्वतन्त्रता विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थिति में दण्ड उस शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। अधिकारों का उपर्युक्त प्रयोग संभव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। वस्तुतः समूह में रहने का अधिकार इस योग्यता पर प्राप्त होता है कि मनुष्य सामान्य हित के लिए कार्य करेगा। तथा इसमें यह अधिकार निहित है कि विघनों और बाधाओं से उसकी रक्षा की जायेगी। ग्रीन के अनुसार दण्ड-विधान का महत्व यह है कि यदि स्वेच्छा से कभी समाज के विनाश पर उतारू हो जाए, तो समाज का अन्त करने से पूर्व ही उस व्यक्ति को फासी पर चढ़ा देना चाहिए। ग्रीन के दण्ड सिद्धान्त में प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक तीनों की तत्वों का समावेश है। प्रतिशोधात्मक तत्व इस रूप में विद्यमान हैं कि दण्ड द्वारा अपराधी के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उसके किए हुए कर्म का ही प्रतिफल है। प्रतिशोधात्मक तत्व का समावेश इस रूप में है कि दण्ड का उद्देश्य समाज में अपराध के प्रति भय का संचार करता है ताकि मनुष्य अपराधी मनोवृत्ति कापरित्याग कर दें। सुधारात्मक तत्व का उद्देश्य

है कि दण्ड द्वारा अपराधी में आन्तरिक सुधार की भावना जाग्रत होनी चाहिए। ग्रीन ने इन तीनों ही तत्वों पर न्यूनाधिक बल दिया है, किन्तु सर्वाधिक मान्यता प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक ; कमजमतपंदज वत च्त्पअमदजपअंद्ध सिद्धान्त को ही दी गई है।

ग्रीन के अनुसार बदला एक विशिष्ट स्थिति है जबकि विधि एक सार्वजनिक वस्तु है। जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध जैसे निम्न स्तर की भावना उचित नहीं हैं। प्रतिशोध में वैर भाव निहित है। किन्तु जब राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है तो उसमें अपराधी के प्रति कोई वैर भाव निहित नहीं होती। राज्य वैर भाव से कभी दण्ड नहीं देता। राज्य का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक नहीं होकर केवल अधिकारों को भंग होने से रोकना है। "दण्ड विधान का न्यायपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी को इस बात का आभास होता है कि अधिकार क्या है। और उसके कौन से अधिकार का उल्लंघन किया है जिसके कारण से दण्ड मिला है।" आवश्यक केवल यह है कि अधिकार सामान्य हित पर आधारित हो। यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वयं ही यह भान हो जायेगा कि दण्ड उसके कार्यों का ही प्रतिफल है और इस रूप में दण्ड प्रतिशोधात्मक कहा जा सकता है। न कि इस बदले के विचार से कि आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत निकाल लो। दण्ड का यह तरीका एकदम असभ्य और जंगली है।

ग्रीन के निराधात्मक तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है, क्योंकि इस सिद्धान्त के आधार पर दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीड़ा के लिए पीड़ा देना नहीं है। और न ही मुख्यतः भविष्य में उसको फिर से अपराध करने से रोकना है, वरन् उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय का संचार करना है जो अपराध के लिए उद्यत है। दण्ड का उद्देश्य उन वाह्य परिस्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्यों के लिए आवश्यक है।

ग्रीन के अनुसार प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त में एक बुराई यह है कि इससे किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों को शिक्षा देने का साधन बना लिया जाता है, जबकि वास्तव में व्यक्ति स्वयं साध्य है, साधन नहीं है। पर इस कमी के बावजूद प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त का महत्व कम नहीं है। दण्ड-विधान के इस सिद्धान्त को न्यायपूर्ण बनाने के लिये आवश्यक है कि अपराधी को जिस अधिकार का उल्लंघन करने के लिए दण्डित किया जा रहा है, वह काल्पनिक नहीं होकर वास्तविक हो। यह भी आवश्यक है कि केवल उतना ही दण्ड दिया जाए जितना कि पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक बकरी चुराने के अपराध में मृत्युदण्ड देना न्यायपूर्ण नहीं है।

प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के अनुसार कठोर दण्ड का अर्थ ऐसा दण्ड होगा जिससे अन्य लोगों के मन में अधिक भय उत्पन्न हो। अपराध की गंभीरता उस बात पर निर्भर होगी कि जिस अधिकार का उल्लंघन किया गया वह कितना महत्वपूर्ण है? इसी अनुपात में भय का संचार किया जाना चाहिए।

दण्ड देने और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य अपराध को सार्वजनिक बनाने से रोकना है। राज्य का कार्य नकारात्मक है, अतः दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त ही सबसे अधिक उपर्युक्त है।

सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य:-

अपराधी में सुधार करना होता है, क्योंकि सुधार भी अपराधों को रोकने में अत्यधिक सहायक होता है, अतः इस सिद्धान्त का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के साथ सम्बन्ध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है जो दण्ड उसे दिया गया है। उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य से समाज-विरोधी रूप को समझकर तद्गुण पश्चात्ताप करता है, वहाँ तक दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारात्मक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुकल है। इस प्रकार अपराधी अपराध करने की अपनी आदत से मुक्त हो जाता है। अपराधी में भी सुधार की क्षमता होती है। इसलिए ग्रीन मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन कारावास को उचित नहीं मानता। मृत्युदण्ड केवल उन्हीं परिस्थितियों में दिया जाना चाहिए जब राज्य यह निश्चय कर ले कि अमुक व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देना समाज हित की दृष्टि से उचित है और उस अपराधी में सुधार की कोई सम्भावना नहीं है। ग्रीन के शब्दों में, " राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप की नहीं बल्कि अधिकारों की रक्षा करने के लिये तथा गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिए "

23.4.4 ग्रीन के विश्व बंधुत्व एवं युद्ध विषयक विचार:-

ग्रीन विश्व बंधुत्व एवं विश्व शान्ति के समर्थक है। उसकी विश्व-भ्रातृत्व की धारणा इस विचार पर आधारित है, कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। वह युद्ध की निन्दा और विश्व शान्ति की प्रशंसा करता है, क्योंकि युद्ध एवं संघर्ष जीवन के अधिकार में बाधक है। जीवन के अधिकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय जाग्रति ही विश्व समाज का निर्माण करती है। ग्रीन के अनुसार मानवता के सामूहिक हित में व्यक्ति का हित निहित है, और इसलिए यह भी काण्ट की भाँति यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है और चाहता है कि वह समाज स्वतन्त्र राष्ट्रों की ऐच्छिक स्वीकृति पर आधारित हो। हीगल के सर्वथा विपरीत ग्रीन का विश्वास है कि राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता संभव है, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारणा कोरी कल्पना नहीं है। राष्ट्रीय ईश्याओं में कमी और युद्ध के गम्भीर कारणों के दूर हो जाने से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न साकार हो सकता है, जिसकी शक्ति स्वतन्त्र राज्यों की स्वीकृति पर निर्भर हों। वर्ण अथवा रंगभेद की नीति विश्व शांति के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। ग्रीन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को पूरी मान्यता दी जाए, और क्षेत्रीय संप्रभुता की सीमा स्वीकार की जाए। बेयर के शब्दों में ग्रीन के सार्वभौम बन्धुत्व का अभिप्राय यह है कि "यदि ग्रीन का राज्य अपने अन्तर्गत कम बड़े समाजों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर बड़े

समाजों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। ”अर्थात् ग्रीन के अनुसार राज्य न तो पूर्ण है और न ही सर्वशक्तिमान। वह वाह्य तथा आन्तरिक दोनों रूपों में सीमित है।

युद्ध के प्रति ग्रीन के विचार हीगल से बिल्कुल अलग हैं। ग्रीन के मतानुसार, ”युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार हो सकता है। युद्ध मनुष्य के स्वाधीन जीवन यापन के अधिकार का अतिक्रमण करता है। पहले की ;त्तमअपवनेद्ध किसी बुराई अथवा अपराध को सुधारने के लिए एक दूसरी बुराई के रूप में उसका औचित्य माना जा सकता है अर्थात् युद्ध एक निर्दयी आवश्यकता के रूप में उचित माना जा सकता है, तथापि वह एक अपराध ही है।” ग्रीन के अनुसार युद्ध एक नैतिक अपराध है। युद्ध कभी भी एक सही नहीं हो सकता। वह अपूर्ण राज्य का प्रतीक है।

ग्रीन उन सब तर्कों का खण्डन करता है, जो युद्ध के प्रक्ष में दिये गए हैं। युद्ध के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि सभ्य जातियों के बीच होने वाले युद्धों में सैनिक स्वेच्छापूर्वक मौत का खतरा स्वीकार करते हैं, और इसलिए स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का अतिक्रमण नहीं होता। ग्रीन इस तर्क का खण्डन करता है। उनका कहना है कि व्यक्ति को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह अपने जीवित रहने के अधिकार को चाहे तो कायम रखे ओर चाहे छोड़ दें। सेना में चाहे लोग अपने मन से भर्ती हुए हो या अनिवार्य भर्ती के आधार पर भर्ती हुए हो, पर राज्य कुछ लोगों पर जीवनक का खतरा बलात लादता है। युद्ध का मतलब है, मानव जीवन का संहार जो जानबूझकर किया जाता है। कभी-कभी युद्ध के समर्थक युद्ध के प्रक्ष में यह तर्क देते हैं कि भौतिक जीवन का अधिकार का अतिक्रमण नैतिक जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न अधिकार द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में कभी-कभी यह कहा जा सकता है कुछ विशेष परिस्थितियों में युद्ध न करना युद्ध करने से भी बुरा होता है। ग्रीन इस तर्क पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि इस तर्क के द्वारा केवल युद्ध भी जिम्मेदारी उन लोगों पर थोप दी जाती है जो उन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार थे, पर युद्ध तो फिर भी एक वैसी ही बुराई और अपराध बना रहता है। युद्ध में मानव जीवन का संहार करना अपराध है, अपराध करने वाले चाहे जो भी हों।

कुछ लोगों का मानना है कि युद्ध में मनुष्य के कुछ खास गुणों का विकास होता है जैसे वीरता और आत्म विश्वास का एवं युद्ध मानव प्रगति के लिए आवश्यक है। इस तर्क के दम को मानते हुए भी ग्रीन का कहना है कि युद्ध में जीवन का संहार हमेशा एक अपराध है। फ्रांस में सीजर के विजय अभियानों और भारत में अंग्रेजी युद्धों के बाद अवश्य ही लाभदायक परिवर्तन हुए, पर ग्रीन का कहना है कि यह परिवर्तन अन्य साधनों से भी ठीक उसी प्रकार लाए जा सकते हैं जैसे युद्ध द्वारा लाए गए। युद्ध मनुष्य के अधिकारों का अतिक्रमण करता है। यदि मनुष्य का अप्रत्यक्ष कल्याण केवल युद्ध द्वारा होता है तो इसका कारण मनुष्य की दुष्टता ही है। ग्रीन के अनुसार मानव जाति के कल्याण की

उच्च मंशा को लेकर युद्ध प्रारम्भ नहीं किये जाते, मनुष्य जाति की सामान्य स्वार्थपरता ही युद्ध का कारण हैं।

अभ्यास प्रश्न:-

प्र01. ज्णभ्ण् ग्रीन की मृत्यु के बाद उनके मुख्य शिष्य थे-

(क) आर0 एल0 नैटिलशिप (ख) हीगल

(ग) मिल (घ) वेयर

प्र02. 'राज्य का वास्तविक आधार बल नहीं है, वरन् इच्छा है' यह किसका मत है।

(क) जान लॉक (ख) रूसो

(ग) ग्रीन (घ) मिल

प्र03. निम्नलिखित में से किस विचारक के बारे में यह कहा जाता है कि उसने आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया?

(क) स्पेन्सर (ख) टी.एच.ग्रीन

(ग) बैन्थम (घ) डायसी

23.5 सारांश:-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप ग्रीन के अनुसार राजनीति का नैतिक आधार क्या है, जान गये होंगे। ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी सिद्धान्त को भी भलीभांति समझ चुके होंगे। ग्रीन के अधिकार विषयक विचार का ज्ञान प्राप्त कर चुके होंगे। अधिकार, नैतिकता और कानून का संबंध किस प्रकार एक दूसरे से जुड़े है, इसको समझ गये होंगे। सामान्य इच्छा, जिसको ग्रीन सामान्य हित की सामान्य चेतना कहता है इसको भली भाँति जान गये होंगे। ग्रीन के अनुसार राज्य के क्या कार्य है तथा क्या कार्य नहीं समझ चुके होंगे। दण्ड पर ग्रीन के विचारों से अवगत हो गये होंगे। ग्रीन के विश्व-बंधुत्व एवं युद्ध विषयक विचार को जान चुके होंगे। निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि ग्रीन ने उदारवादी परंपरा को आदर्शवादी परंपरा के साथ जोड़कर उसे नकारात्मक स्वतन्त्रता और संकीर्ण व्यक्तिवाद के दायरे से बाहर निकाला। ग्रीन के उदारवाद ने व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का खण्डन नहीं किया, बल्कि उसने स्वतन्त्रता के विचार को समानता और सामान्य हित की संकल्पनाओं के साथ जोड़ दिया। उसने राजनीतिक सहभागिता को नागरिकता का अनिवार्य लक्षण मानते हुए यह मांग की कि व्यक्ति को अपने जीवन में निरन्तर 'सामान्य हित' के प्रति सतर्क रहना चाहिए, और लोकतन्त्रीय

राज्य को भी अपने लक्ष्य निर्धारित करते समय 'सामान्य हित' को सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। इस तरह के विचार रखकर ग्रीन ने नकारात्मक उदारवाद को सकारात्मक उदारवाद की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

23.6 शब्दावली:-

प्रतिशोधात्मक	-	बदले की भावना से दिया जाने वाला दण्ड।
प्रतिरोधात्मक	-	दूसरों के मन में भय उत्पन्न करने हेतु कठोर दण्ड।
सुधारात्मक	-	अपराधी में सुधार हेतु दण्ड।

23.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

23.3 के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर -

- i. (ख) ii. (क) iii. (घ) iv. (ख)

23.4 के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर :-

- i. (क) ii. (ग) , iii. (ख)

23.8 सन्दर्भ ग्रन्थ:-

1. शर्मा, डॉ० पी०डी०-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014
2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006
3. गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014
4. जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस० बी०पी०डी० पब्लिकेशन्स आगरा,

23.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2
2. शर्मा, डॉ० प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013

3. Dunning- History of Polical Theories, Vol III

4. Barker- Political Thought in England.

23.10 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. ग्रीन के राजनीतिक विचारों का वर्णन कीजिए।
2. ग्रीन के अधिकार सम्बन्धी अवधारणा का वर्णन कीजिए।
3. "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है" ग्रीन के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 24: ऑगस्ट कॉम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर

इकाइयों की रूपरेखा

24.1 प्रस्तावना

24.2 उद्देश्य

24.3 ऑगस्ट कॉम्टे- जीवन परिचय

24.3.1 ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाएं

24.3.2 विज्ञानों के श्रेणीतन्त्र

24.3.3 समाज विज्ञान का स्वरूप

24.3.4 प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त

24.4 हरबर्ट स्पेन्सर - जीवन परिचय

24.4.1 सामाजिक विकास का सिद्धान्त

24.4.2.सामाजिक डार्विनवाद

24.4.3.स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन

24.5 सारांश

24.6 शब्दावली

24.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

24.8 संदर्भ ग्रन्थ

24.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

24.10 निबन्धात्मक प्रश्न

24.1. प्रस्तावना:-

उन्नीसवीं सदी के विज्ञानवाद ने भी उपयोगितावाद और आदर्शवादी चिंतन के समान ही राजदर्शन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यहाँ विज्ञानवाद से अभिप्राय वैज्ञानिक विचार पद्धति से नहीं होकर जीव-विज्ञान सम्बन्धी विचारधाराओं से है, जिनका प्रतिनिधित्व सेंट साइमन, आगस्त काम्टे, बेजहाट, हरबर्ट स्पेन्सर, ग्राह्व वैलास, हक्सले आदि विचारक थे। इनमें सेंट साइमन और आगस्त काम्टे की विशेषकर काम्टे की प्रत्यक्षवादियों में, स्पेन्सर तथा हक्सले की जीवन-विज्ञानवादियों में तथा बेजहाट, वैलास और मैक्डूगल की मनोविज्ञानवादियों में गणना की जाती है। विज्ञानवादी दार्शनिकों ने मानव-जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के रूप में करने का प्रयास किया। उन्होंने राजनीति को भिन्न दृष्टिकोणों से देखा। जैसे- हरबर्ट स्पेन्सर जीव शास्त्रीय व्याख्या का जनक था तो बेजहाट मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अग्रदूत था। वस्तुतः विज्ञानवाद मानव-मूल्यों के प्रति एक आक्रामक लक्ष्य लेकर राजनीति में प्रविष्ट हुआ, किन्तु वह अपने प्रयत्न में अधिक सफल नहीं हुआ, क्योंकि अन्ततः उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि मनुष्य एक प्राणी ही नहीं उससे भी ऊपर एक नैतिक-मानव है। अतः प्राकृतिक विज्ञान के नियमों को राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में ठीक-ठीक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। विज्ञानवाद का सबसे गम्भीर दोष यह था कि इसने मानव-मूल्यों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की। प्रत्यक्षवाद ; च्वेपजपअपेउद्ध के प्रतिनिधि आगस्त काम्टे, जीव विज्ञानवाद के प्रतिनिधि हरबर्ट स्पेन्सर है। इकाई के पूर्वार्द्ध में हम आगस्त काम्टे के ज्ञान के विकास की अवस्थाएँ, विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र व समाज विज्ञान का स्वरूप समझेंगे। वही इकाई के उत्तरार्ध में हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक विकास का सिद्धान्त एवं सामाजिक डार्विनवाद समझेंगे।

24.2 उद्देश्य:- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप-

- विज्ञानवाद एवं वैज्ञानिक समाजवाद के अर्थ को समझ सकेंगे।
- आगस्त काम्टे के ज्ञान के विभिन्न अवस्थाओं को जान सकेंगे।
- आगस्त काम्टे के विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र को समझ सकेंगे।
- आगस्त काम्टे के समाजविज्ञान के स्वरूप को जान सकेंगे।
- हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक सिद्धान्त को भलीभाँति जान सकेंगे।
- हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद को समझ सकेंगे।

24.3 ऑगस्ट कॉम्टे-जीवन परिचय

ऑगस्ट कॉम्टे का जन्म फ्रान्स के मांटपिलर नामक शहर में हुआ था। कॉम्टे का स्वभाव इतना विलक्षण था कि उसे अपने जीवन में दुःख भोगने पड़े। वह हठी प्रकृति का था और महत्वपूर्ण कार्यों तथा विचारों में किसी के साथ समझौता नहीं कर सकता था। कई वर्षों तक वह सेंट साइमन के सेक्रेटरी के रूप में काम किया और उसके विचारों से प्रभावित हुआ। कॉम्टे एक नवीन समाज के वैज्ञानिक आधारों के खोज कार्य में लगा रहा, क्योंकि उसे विश्वास था कि जब लोग इन आधारों को एक बार समझ सकेंगे, तो वे उसकी नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे। 1824 से 1842 के बीच वह इस वृहद कार्य में लगा रहा और उसके अथक परिश्रम के फलस्वरूप 'Course of Positive Philosophy' के छह भाग प्रकाश में आये। कॉम्टे की अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक रचनाओं में 'System of Positive Philosophy' (1851-54) तथा 'Catechism of Positivism' (1852) उल्लेखनीय हैं। कॉम्टे में औद्योगिक प्रगति और वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रति अत्यधिक आशावाद था। उसे विश्वास था कि औद्योगिक तथा वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप एक नवीन और वैज्ञानिक ईसाइयत का उदय होगा और ज्यों-ज्यों औद्योगिक विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा त्यों-त्यों मानव विकास भी पूर्णता प्राप्त करता जायेगा। प्राचीन मान्यताओं और परंपराओं के स्थान पर नवीन मूल्य जन्म लेंगे और एक नए समाज की रचना होगी। ऑगस्ट कॉम्टे प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक एवं सामाजिक वैज्ञानिक थे। समाज विज्ञान (या समाजशास्त्र) शब्द का आविष्कार का श्रेय कॉम्टे को ही है। अतः उसे 'आधुनिक समाजविज्ञान का जनक' माना जाता है-

24.3.1 ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाएं-

कॉम्टे के अनुसार एक विज्ञान के रूप में समाज विज्ञान का विकास मानवीय चिंतन के सामान्य विकास का परिणाम है। कॉम्टे की प्रसिद्ध कृति 'द पाजिटिव फिलासफी (1830-1842) के अनुसार, मानवीय ज्ञान की प्रत्येक शाखा को अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुंचने से पहले तीन सैद्धान्तिक या पद्धति वैज्ञानिक अवस्थाओं से गुजरना होता है। ये अवस्थाएं हैं-

1. धर्ममीमांसीय अवस्था Theological Stage इसमें सब घटनाओं की व्याख्या अलौकिक Supernatural या आध्यात्मिक शक्तियों (Spiritual Forces) के सन्दर्भ में दी जाती है: यह ज्ञान की आरंभिक अवस्था है। वस्तुतः इस अवस्था में ज्ञान की जगह अंधविश्वास (Superstition) की प्रधानता रहती है।

2. तत्वमीमांसीय अवस्था:- (Metaphysical Stage) इसमें सब घटनाओं की व्याख्या अमूर्त तत्वों (Abstract Elements) और अनुमान (Conjecture) के आधार पर दी जाती है। यह ज्ञान की मध्यवर्ती अवस्था है। यह नकारात्मक अवस्था है, जिसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इसमें सामाजिक जीवन एवं संसार के बारे में पुरानी संकल्पनाओं की आलोचना करके उन्हें ध्वस्त किया जाता है। यह अवस्था सकारात्मक दर्शन (Positive Philosophy) या प्रत्यक्षवाद (Positivism) की स्थापना के लिये आवश्यक भूमिका तैयार करती है, क्योंकि नई व्यवस्था की स्थापना के लिये पुरानी अवस्था के अवशेषों को मिटाना जरूरी होता है।

3. वैज्ञानिक-सकारात्मक अवस्था ; (Scientific Positive Stage) इसमें यह मानते हैं कि सारी घटनाएं निर्विकार प्राकृतिक नियमों से बँधी हैं। निरीक्षण (Observation) और प्रयोग क्रिया (Experimentation) की सहायता से इन नियमों का पता लगा सकते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत यथाथ कार्य-कारण संबंधों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। कॉम्टे के अनुसार विज्ञान और दर्शन एक ही श्रेणी का ज्ञान है जिसे धर्ममीमांसा और तत्वमीमांसा से पृथक करके पहचान सकते हैं। फिर धर्ममीमांसा और विज्ञान एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि इनके बीच की दूरी तय करने के लिये तत्वमीमांसा के पुल को पार करना जरूरी है। इसके अलावा, विज्ञान का सरोकार केवल तथ्यों के ज्ञान से नहीं है; वह मूल्यों का ज्ञान भी प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में; 'सत्य' का ज्ञान होने पर 'कर्तव्य' का ज्ञान अपने आप प्रकट होता है। इस दृष्टि से कॉम्टे का विचार सुकरात की परंपरा को आगे बढ़ाता है।

कॉम्टे ने मानव-समाज के विकास के इतिहास की अपनी व्याख्या को ही प्रत्यक्षवाद ; च्वेपजपअपेउद्ध कहा है और अपनी समझ और कल्पना के अनुसार ही नियमों, शक्तियों और अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जिनमें होकर मानव-विकास आगे बढ़ता है। कॉम्टे ने यह मत व्यक्त किया कि 'प्रत्यक्ष सरकार' मानव विकास की अन्तिम व्यवस्था होगी और जितना जल्दी हम इस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे उतनी ही जल्दी धार्मिक और आधिभौतिक अन्धविश्वासों की समाप्ति होकर मानव-मन वैज्ञानिक ढंग से सोचने की प्रक्रिया अपना लेगा। कॉम्टे का कहना है कि यद्यपि विकास में तीनों अवस्थाएं अवश्य हैं तथापि मनुष्य अपने प्रयत्नों से उनके समय को कम कर सकता है। कॉम्टे का यह विचार मनुष्य को 'विकास का नियन्ता' बना देता है।

24.3.2 विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र:-

कॉम्टे के अनुसार, भिन्न-भिन्न विज्ञानों- चाहे वे प्राकृतिक विज्ञान हो या सामाजिक विज्ञान हो-एक ही ढंग से विकसित होते हैं। परन्तु सब विज्ञानों का विषय-वस्तु एक जितनी जटिल नहीं होती, अतः भिन्न-भिन्न विज्ञान भिन्न-भिन्न समय पर अपनी प्रौढ़ावस्था में पहुँचते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न विज्ञान एक नैसर्गिक और तर्कसंगत क्रम से विकसित होते हैं। सबसे पहले वह विज्ञान विकसित होता है। (क) जो सबसे कम जटिल हो या जिसका सरोकार सबसे सामान्य घटनाओं से हो, और (ख) जो मानव प्रकृति के ज्ञान से अत्यन्त दूर हो। सबसे अंत में वह विज्ञान विकसित होता है। (क) जो सबसे अधिक जटिल हो, और (ख) जो मानव प्रकृति के ज्ञान से अत्यन्त निकट हो। इस आधार पर कॉम्टे ने समस्त विज्ञानों को एक विकास-क्रम के अनुसार व्यवस्थित किया है जिसे 'विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र' कहा जाता है।

'विज्ञानों के श्रेणीतन्त्र' की बुनियाद गणित है। गणित अन्य विज्ञानों से भिन्न है क्योंकि (क) इसका सरोकार अत्यन्त सामान्य और अमूर्त विषयों से है; (ख) यह सब विज्ञानों से महत्वपूर्ण है और विज्ञान एवं दर्शन का आधार प्रस्तुत करता है; और (ग) इसमें शुरू से ही वैज्ञानिक-सकारात्मक पद्धति का अनुसरण किया जाता है, अतः इसे अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने के लिए ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाओं से नहीं गुजरना पड़ता, जैसा कि अन्य सब विज्ञानों को गुजरना पड़ता है। इसके बाद जैसे-जैसे इस श्रेणीतन्त्र में आगे बढ़ते हैं, (क) प्रत्येक विज्ञान की विषय-वस्तु अधिक जटिल होती जाती है, (ख) उसमें वैज्ञानिक पद्धति का निर्वाह अधिक कठिन हो जाता है; और (ग) मानव प्रकृति के ज्ञान से उसका

सरोकार बढ़ता जाता है। इस दृष्टि से कॉम्टे ने विज्ञानों के श्रेणीतन्त्र का यह क्रम निर्धारित किया-

1. गणित ,2. ज्योतिर्विज्ञान ,3. भौतिक विज्ञान ,4. रसायन विज्ञान ,5. शरीर क्रिया विज्ञान , और6. समाज विज्ञान

कॉम्टे का विश्वास है कि इस क्रम में बढ़ती हुई कठिनता के बावजूद प्रत्येक विज्ञान को वैज्ञानिक-सकारात्मक स्तर पर लाया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक परवर्ती विज्ञान को अपने पूर्ववर्ती विज्ञान के स्तर पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए, और यह प्रयत्न तब तक जारी रखना चाहिए जब तक समाजविज्ञान भी गणित जितनी यथातथ्यता के स्तर पर न आ जाए।

24.3.3. समाजविज्ञान का स्वरूप- कॉम्टे ने समस्त सामाजिक विज्ञानों को एक ही सर्वव्यापक विज्ञान 'समाजविज्ञान' के दायरे में रखा है। उसने अपने 'विज्ञानों के क्षेत्रीतंत्र' के अन्तर्गत मनोविज्ञान को कोई स्थान नहीं दिया है, क्योंकि उसके विचार से उन दिनों मनोविज्ञान 'तत्त्वमीमांसीय अवस्था' से आगे नहीं बढ़ पाया था। समाज विज्ञान के अन्तर्गत कॉम्टे ने 'व्यवस्था' (*order*) और 'प्रगति' (*Progress*) की समस्याओं के उपयुक्त अध्ययन के लिये 'सामाजिक स्थिति-विज्ञान' (*Social Statics*) और सामाजिक गति विज्ञान (*Social Dynamics*) में विश्लेषणात्मक अंतर पर बल दिया। कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद का अभिप्राय केवल यह नहीं था कि मानव-प्रकृति और समाज का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। उसका दावा था कि ऐसा समाजविज्ञान सामाजिक संगठन के लिये उपयुक्त मूल्यों की सूझ-बूझ प्रदान करेगा, और सामाजिक समस्याओं के सामाधान के लिये मार्गदर्शन भी देगा। इस आधार पर कॉम्टे ने एक नई समाज-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जो नैतिक भावना से प्रेरित थी। इसका प्रमुख सिद्धान्त 'मानव धर्म' था।

कॉम्टे ने अपना समाजविज्ञान तत्कालीन यूरोप के चिरकालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संकट के वैज्ञानिक प्रतिकार के रूप में विकसित किया। इन समस्याओं के समाधान के लिये रूढ़िवादी विचारक 'व्यवस्था' पर बल दे रहे थे, और जैकोबिन मतावलंबी 'प्रगति' का झंडा उठाकर चल रहे थे। इस विवाद का परिणाम बौद्धिक अराजकतावाद के रूप में सामने आया था। कॉम्टे ने अपनी विचार-प्रणाली के अन्तर्गत इन दोनों विचारधाराओं में समन्वय का प्रयत्न किया।

24.3.4. प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त:

कॉम्टे का प्रत्यक्षवादी सरकार का सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि औद्योगिक तथा उसका सहायक वैज्ञानिक वर्ग ही मानवता को पूर्णतः प्रदान कर सकेगा और आदिकाल से मानव-जाति का विकास इसी वर्ग को जन्म देने के लिए होता रहा है। कॉम्टे की प्रत्यक्षवादी सरकार का संक्षेप में अर्थ है- बैंकरों का अधिनायकवाद जिसे स्त्रियों के प्रभाव से नैतिक बनाया जाता था। तथा मानवता के नवीन धर्म के पुरोहित का अधिनायकवाद जिसका उद्देश्य परम्परागत विश्वासों का स्थान लेना था। मानवता के नवीन धर्म से अभिप्राय ईश्वर की पूजा नहीं है, बल्कि मानवीय उपलब्धियां हैं। और पुरोहित तत्व से वास्तविक आशय कुशल समाजशास्त्रियों से है। कॉम्टे के अनुसार समाज के सम्पूर्ण विकास और कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि शासन सत्ता बैंकरों के हाथ में आ जाये और वे ही सम्पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का निरंकुशता के साथ नियन्त्रण करें। बैंकरों या पूंजीपतियों को निरंकुश शासन इसलिए अपेक्षित है, क्योंकि समाज में जो कुछ विकास हुआ वह उद्योगपतियों और वैज्ञानिकों के कारण हुआ है। वैज्ञानिकों ने जो नये विचार प्रस्तुत किए, उद्योगपतियों ने अपनी पूंजी द्वारा उन विचारों को कार्य रूप दिया, इसलिए पूंजीवादी वर्ग को समाज में सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए और यह भार उन्हीं पर डाला जाना चाहिए कि वे सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का नियन्त्रण अपने हाथ में लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक योजनाओं

का निर्माण करें। कॉम्टे के अनुसार सरकार विशुद्ध ; बसमंदद्ध और गणित तथा नक्षत्र विद्या की तरह सही होनी चाहिए और यह भी तभी सम्भव है जबकि व्यापारी और हिसाबी बुद्धि वाले व्यक्ति ही शासन व्यवस्था संभालें। राज्य की आबादी, पूँजी, सहयोग, श्रम, कानून, दण्ड आदि बिल्कुल नपे-तुले होने चाहिए अर्थात् यह आवश्यक है कि नवीन प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में प्रत्येक चीज सुनियोजित और व्यवस्थित तथा सही और सिद्धान्त के अनुकूल हों। बैंक मालिकों का निरंकुश शासन होना चाहिए, और इन बैंकों या पूंजीवादी वर्ग की सदस्यों में इन तीनों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होना चाहिए-एक कृषि बैंकर, दूसरा उद्योग बैंकर, तीसरा उत्पादन बैंकर। इन तीन प्रधान शाखाओं की अधीनता में अन्य बैंकों और सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति को सुनियोजित और नियन्त्रित करने के लिए एक गणतन्त्र में कुल तीस बैंक होने चाहिए। कॉम्टे यह भी विचित्र व्यवस्था देता है कि इन बैंकों के निरंकुश शासन को नैतिक बनाने के लिए अथवा नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए और तो और समाजशास्त्रियों (कॉम्टे ने पुरोहितों की संज्ञा दी है) का सम्पर्क अनिवार्य है। औरतों के सम्पर्क में बैंकों में उदारता और नैतिकता की भावना जाग्रत होती रहेगी, और समाज शास्त्रियों का भी निरंकुश बैंकों पर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि वे समाज के नियमों के कुशल ज्ञाता होंगे। बैंकों के दिल ओर दिमाग को शान्त रखने में और तो और पुरोहितों अथवा समाज शास्त्रियों की सेवाओं की महती भूमिका होगी।

कॉम्टे ने अपने प्रत्यक्षवादी राज्य की बड़ी रोचक और गणितीय रूपरेखा दी है। विस्तृत सीमाओं और विशालकाय आबादी वाले राज्यों का ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। कॉम्टे की नयी व्यवस्था में एक राज्य की आबादी सामान्यतः 10 लाख से 30 लाख के बीच होनी चाहिए। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी तथा इटली राज्यों को 17 गणराज्यों में विभक्त कर देना चाहिए, और अकेले फ्रांस को ही 17 राज्यों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए था। कॉम्टे के अनुसार इन राज्यों में अव्यवस्था इसलिए रही होगी, क्योंकि सीमा और आबादी की दृष्टि से ये विशाल थे। कॉम्टे की योजना के अनुसार संसार में कुल 500 राज्य होने चाहिए, और प्रत्येक राज्य की जनसंख्या दो प्रमुख वर्गों अभिजात वर्गों और श्रमिक वर्ग में विभक्त कर देना चाहिए। जिसमें अभिजात वर्ग को श्रमिक वर्ग या सामान्य वर्ग पर नियन्त्रण रखना होगा। अभिजात वर्ग में सर्वप्रथम स्थान बैंक मालिकों का होना चाहिए। अभिजातीय लोगों की संख्या कुल जनसंख्या की 1/30 होनी चाहिए। जनसंख्या का विभाजन इस तरह होना चाहिए कि प्रत्येक अभिजातीय परिवार में 13 व्यक्ति और प्रत्येक श्रमिक परिवार में 7 व्यक्ति हों। कॉम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी राज्य की नवीन व्यवस्था में कुल तीन वर्ग होंगे- कृषक वर्ग, उत्पादक वर्ग, और औद्योगिक वर्ग तथा इन तीनों वर्गों में अलग-अलग अभिजातीय और श्रमिकों के पुनः दो-दो वर्ग होने चाहिए। गणितीय आधार पर कॉम्टे ने बताया कि एक अभिजात 35 श्रमिकों का, एक औद्योगिक अभिजात 60 श्रमिकों का और एक उत्पादक अभिजात 70 श्रमिकों पर नियन्त्रण रख सकता है।

कॉम्टे अपनी प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों पर जोर देता है। उसने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त, समझौता सिद्धान्त, शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त, जनमत द्वारा समर्थित संविधान आदि का उपहास किया है और कहा है कि सरकार का सही मूल्यांकन इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किस प्रकार के सिद्धान्त पर चलती है बल्कि इस बात पर निर्भर है कि समाज की सही-सही सामान्य स्थिति के निर्माण में उसका क्या हाथ है। एक वैज्ञानिक सभ्यता के निर्माण में उसका क्या योगदान है? श्रम विभाजन और प्रयत्नों के संकलन-इन दोनों के समुचित सामंजस्य में ही सरकार का आदर्श स्वरूप सन्निहित है। कॉम्टे 'शक्ति' को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए मानता है कि शक्ति प्रत्येक मानव-समाज और राज्य का आधार है। इस मान्यता में वह हॉब्स के निकट पहुंचता है जिसके अनुसार जो सरकार शक्ति को अपना आधार नहीं बनाती, वह काल्पनिक है।

कॉम्टे के आलोचक उसे नितांत कल्पनावादी और साथ ही अव्यवहारिक विचारक मानते हैं। कॉम्टे की योजना में औद्योगिक सामन्तवाद, पूंजीवादी अधिनायकवाद, अत्यधिक भौतिक सुखवाद की छाप दिखाई पड़ती है, यदि लंकास्टर की आलोचना के अनुसार कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद 'लेसेजफेयर'के सिद्धान्त का पूरक दिखाई देता है, जिसमें शासकों अथवा राजाओं के सिंहासन पर बैंकरों और उद्योगपतियों को बिठा दिया गया है, सर्वोच्च धर्मगुरु पोप की गद्दी पर शायद कॉम्टे स्वयं बैठना चाहता है, राजधानी भी शायद अपने घर को ही बनाना चाहता है, विषयों का स्थान अपने शिष्यों को देना चाहता है और सामन्तों का स्थान छोटे-बड़े दूसरे बैंकरों को प्रदान करने का इच्छुक है। इस तरह ऐसा लगता है मानो कॉम्टे का राज्य उसका खुद का परिवार है।

डनिंग ने राजदर्शन के क्षेत्र में प्राणिशास्त्रियों के सिद्धान्तों की तुलना में कॉम्टे का योगदान स्वीकार किया। हरबर्ट स्पेन्सर और अनेक प्राणिशास्त्री कॉम्टे से प्रभावित हैं। मैक्सी के अनुसार सेंट साइमन के विचारों की तरह कॉम्टे के विचारों में भी कुछ सार्वभौमिक तत्व के दर्शन होते हैं। कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद ने 19वीं सदी की राजनीतिक विचारधाराओं को बहुत प्रभावित किया तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास से शक्ति के संचार का काम किया। कॉम्टे के समाज के विकास संबंधी विचार तथा सरकार और राज्य के संचालन के लिए 'शक्ति' की महत्ता संबंधी विचार बड़े महत्व के हैं।

अभ्यास प्रश्न:

प्र01. 'आधुनिक समाज विज्ञान का जनक' किसे कहा जाता है-

(क) हरबर्ट स्पेन्सर (ख) लास्की (ग) आगस्ट कॉम्टे (घ) हक्सले

प्र02. पॉजिटिव फिलासफी किसकी रचना है-

(क) ग्राह्व वालास (ख) हरबर्ट स्पेन्सर (ग) बेजहाट (घ) ऑगस्ट कॉम्टे

प्र03. प्रत्यक्षवाद का सिद्धान्त किससे सम्बन्धित है-

(क) ऑगस्ट कॉम्टे (ख) ग्रीन (ग) बेंथम (घ) हरबर्ट स्पेन्सर

24.4 हरबर्ट स्पेन्सर-जीवन परिचय:-

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म 27 अप्रैल, 1820 को ब्रिटेन में हुआ। उसका जीवन निराला था। उसने जीवन में कभी प्रेम नहीं किया और न कभी विवाह ही किया। 1848 में वह सुप्रसिद्ध पत्रिका *Economist* के उप-सम्पादक के पद पर नियुक्त हुआ। इस सुविख्यात पत्रिका में उस समय के कुछ प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तियों की रचनाएं प्रकाशित होती थीं, अतः स्पेन्सर को हक्सले, टिण्डाल, न्यूमेन और इलियट जैसे महान प्रतिभाशाली व्यक्तियों के संपर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ विचार विमर्श से उसके जिज्ञाषु मस्तिष्क को बहुत प्रेरणा मिली।

अंग्रेज विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने अपने अध्ययन के आधार पर यह पाया कि शुरू-शुरू में सामाजिक जीवन कठोर अनुशासन में बंधा होता है। विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाता है। इस स्वतन्त्रता का अन्तिम लक्ष्य वह स्थिति है जिसमें राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। स्पेन्सर ने इस स्थिति को 'अराजकता के वरदान की संज्ञा दी है। स्पेन्सर के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता मुक्त प्रतियोगिता की मांग करती है जो समाज को प्रगति की ओर ले जायेगी। अतः प्रगति के लिए समाज में इति प्रतियोगिता को बढ़ावा देना जरूरी है, जिसमें 'योग्यतम की विजय' होती है। यदि हम ऐसी नीति अपनाते हैं जिसमें योग्य व्यक्तियों के अधिकारों में कटौती करके अयोग्य व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान किया जाता है तो यह नीति प्रगति के विरुद्ध होगी जो समाज को अधोगति की ओर ले जायेगी।

स्पेन्सर ने 17 से अधिक ग्रन्थ एवं लेख लिखे। हरबर्ट स्पेंसर के राजनीतिक विचार मुख्यतः उनके ग्रन्थों *Social Statistics, Man Versus State, The Proper Sphere of Government and Principles of Sociology* में मिलते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर उन्नीसवीं शताब्दी का ब्रिटिश दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्तकार था जिसने सामाजिक विकासवाद के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1903 ई0 में ब्राइटन (इंग्लैण्ड) में उसका देहावसान हो गया।

24.4.1 सामाजिक विकास का सिद्धान्त:-

स्पेंसर जीवन पर्यन्त व्यक्ति के अधिकारों और यद्वाव्य की ; *Laissez faire* की नीति का प्रबल समर्थक रहा, पर साथ ही समाज की सावयवी धारणा के प्रति भी उसके मन में गहरी आस्था रही। जिस तरह हॉब्स ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का राजाओं के निरंकुशवाद का समर्थन करने के लिए चातुर्यपूर्ण प्रयोग किया था, ठीक उसी प्रकार स्पेंसर ने विश्व विकास और सामाजिक सावयव की धारणा की सहायता से रेडिकलवाद अथवा व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करने का प्रयत्न किया।

स्पेंसर की पहली कृति 'सोशल स्टेटिक्स' (सामाजिक स्थिति विज्ञान) (1850) चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजन ऑफ स्पीशीज' (जीव-जातियों की उत्पत्ति) (1859) से नौ वर्ष पहले प्रकाशित हुई। इस तरह स्पेंसर ने अपना विकासवादी सिद्धान्त डार्विन से भी पहले रखा था। 'योग्यतम की विजय' (*Survival of the fittest*) शब्दावली स्पेन्सर का आविष्कार थी। हालांकि यह डार्विन के नाम के साथ जुड़कर प्रसिद्ध हुई। स्पेन्सर ने यह मान्यता रखी कि सामाजिक विकास का स्वरूप प्राकृतिक विकास से मिलता-जुलता है। वह मुख्यतः जीव-विज्ञान ; उपवसवहलद्ध के नियमों के अनुरूप विकासवादी दर्शन के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ।

'सोशल स्टेटिक्स' के अन्तर्गत स्पेंसर ने जीववैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर नैतिक नियमों तक पहुँचने का प्रयत्न किया। उसने समान स्वतन्त्रता के नियम के आधार पर प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने तर्क दिया कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्यों को दूसरों के विरुद्ध अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने से रोकते हैं। उसने लिखा कि मनुष्यों में 'अनुकूलन-क्षमताएं' पाई जाती हैं। अधिकांश सामाजिक विपत्तियों का कारण है: व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ; च्मतेवदंस स्पइमतजलद्ध पर विषमतामूलक प्रतिबंध और प्राकृतिक संसाधनों का निजी स्वामित्व जिन पर सब मनुष्यों का समान अधिकार होना चाहिए।

अपनी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी (समाज विज्ञान के मूल सिद्धान्त) (1867) के अन्तर्गत स्पेन्सर ने तर्क दिया कि सामाजिक जीवन में विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। आरम्भ में समाज व्यवस्था के रूप में बहुत सरल होते हैं, परन्तु आगे चलकर उसके जटिल रूप विकसित हो जाते हैं, और उसमें विविधता आ जाती है।

'द मैन वर्सेज द स्टेट' (मनुष्य बनाम राज्य 1884) के अन्तर्गत स्पेन्सर ने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की जोरदार पैरवी की। उसने आंगिक सादृश्य (*Organic Analogy*) के आधार पर सामाजिक संरचनाओं और कृत्यों के विकास का विवरण प्रस्तुत किया। उसने लिखा कि जैसे जीव वैज्ञानिक विकास 'विभेदीकरण और संयोजन' के नियम (*Law of Differentiation and Integration*) से निर्धारित होता है, उसी तरह समाज व्यवस्था भी असंगत समरूपता से सुसंगत विषमरूपता की ओर अग्रसर होती है। मतलब यह है कि शुरू-शुरू में

समाज व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंग स्पष्ट नहीं होते, परन्तु बाद में उसके भिन्न-भिन्न अंग अस्पष्ट होने लगते, और वे एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न करने लगते हैं। स्पेन्सर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन समाज व्यवस्था को 'सैनिक समाज' से 'औद्योगिक समाज' की ओर ले जाता है। सैनिक समाज में सारा संयोजन एक ही नियन्त्रण केन्द्र से सम्पन्न होता है। जैसा कि सेना के संगठन में देखने को मिलता है। इसके विपरीत, औद्योगिक समाज की व्यवस्था विभिन्न व्यक्तियों के सहज स्वाभाविक सहयोग का परिणाम होती है जैसा कि बाजार के प्रतिरूप से प्रकट होता है।

स्पेन्सर के अनुसार जिस प्रकार शरीर सावयवों से बना हुआ है, जो उसे जीवन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार राज्य का निर्माण भी व्यक्तियों से होता है, जिनसे उसे जीवन प्राप्त होता है। "श्रमिक जो कृषि करते हैं, खानों में काम करते हैं, कारखानों में काम करते हैं और जो घरों में काम करते हैं, समाज के तत्व हैं। थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता, महाजन, रेल तथा जहाज रानी आदि में काम करने वाले व्यक्ति इस शरीर की मांसपेशियों वाले अंग का काम करते हैं। व्यावसायिक जन तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, शासक, पादरी आदि इस शरीर के मस्तिष्क तथा नाड़ी संस्थान का काम करते हैं। इस प्रकार समाज या राज्य का संगठन एक मानव शरीर के समान है।" शारीरिक स्वास्थ्य शरीर के सावयव अथवा अंगों पर निर्भर होता है। यदि किसी भी सावयव में कोई रोग हो जाता है, तो सारे शरीर को कष्ट उठाना पड़ता है। इसी भाँति राज्य का स्वास्थ्य नागरिकों के स्वास्थ्य पर निर्भर है। नागरिकों द्वारा कर्तव्य पालन के अभाव में सम्पूर्ण राज्य को हानि होती है। जिस प्रकार किसी अंग के निर्बल अथवा बीमार होने से उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार यदि राज्य के नागरिक अस्वस्थ अथवा अशिक्षित होते हैं, अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से परिपूर्ण होते हैं, तो समूचे राज्य के हितों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

24.4.2 सामाजिक डार्विनवाद:-

स्पेन्सर के चिंतन को सामाजिक डार्विनवाद की मुख्य अभिव्यक्ति माना जाता है। उसने प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के आधार पर नैतिकता ;डवतंसपजलद्ध के निर्माण का प्रयत्न किया। परन्तु उसके निष्कर्ष सर्वथा अनैतिक और अमानवीय सिद्ध हुए। उसने प्राकृतिक चयन के नियम को सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया पर लागू करते हुए यह तर्क दिया कि कम योग्य व्यक्तियों को अधिक योग्य व्यक्तियों के हित में अपने हितों का बलिदान कर देना चाहिए। 'योग्यतम की विजय' का नियम यह मांग करता है कि प्रगति की प्रक्रिया को अयोग्य और निकम्मे लोगों के प्रभाव से मुक्त रखा जाना चाहिए, क्योंकि योग्य और परिश्रमी लोगों का हक छीन कर अयोग्य और निकम्मे लोगों का पालन करने का अर्थ होगा, प्रगति की शक्तियों को कुंठित करना। इस तर्क के आधार पर स्पेंसर ने सब तरह के कल्याण कार्यक्रमों (*Welfare Programmes*) का खण्डन किया। इसी आधार पर उसने मताधिकार के विस्तार (*Suffrage Extension*) का विरोध किया क्योंकि वह अनावश्यक विधि-निर्माण को बढ़ावा देगा। उसने तर्क दिया कि कानून के द्वारा समाज के दुर्बल अंगों के पुष्टि से समाज के स्वाभाविक विकास में रुकावट पैदा होगी। एक वैज्ञानिक होने के कारण स्पेंसर ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व में एक नियमित एवं निश्चित विकासवादी सिद्धान्त कार्य करता है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिकता के विकास का पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति करता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती है।

24.4.3 स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन:-

यद्यपि स्पेन्सर का दर्शन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक था तथापि वह अनेक त्रुटियों और असंगतियों से परिपूर्ण है। स्पेन्सर का दर्शन व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट नहीं है। एक ओर तो स्पेन्सर उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर विकास सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सामाजिक सावयव के सिद्धान्त की बात करता है। एक ही प्रणाली में इन दो विरोधी धारणाओं को संयुक्त कर देना असम्भव है। पुनः स्पेन्सर की यह मान्यता है कि संसार में एक विकास क्रम कार्य करता है और समाज का कोई भी रूप अन्तिम नहीं हो सकता। वह निरन्तर विकसित होता रहेगा, किन्तु आगे चलकर यह मानने लगता है कि एक आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा और समाज एक पूर्ण एवं अंतिम स्थिति प्राप्त कर लेगा। यथार्थ में ये दोनों ही परस्पर विरोधी हैं और स्पेन्सर इनकी संगति के लिए कोई बुद्धिसंगत तर्क नहीं देता। स्पेन्सर की अन्तिम सन्तुलन (जहाँ पर विकास की प्रक्रिया रूक जाती है) की धारणा आधुनिक विज्ञान को अमान्य है। विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इनमें प्रत्येक अनुकूलीकरण; एक नवीन स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। विज्ञान की यह धारणा स्पेन्सर के समन्वयात्मक दर्शन के मूल पर ही कुठाराघात करती है। मैक्सी के अनुसार, "कोई भी आधुनिक राजनीतिक विचारक स्पेन्सर को अपना गुरु नहीं मानता। आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में वह एक नैसिखिया वैज्ञानिक और दार्शनिक है। स्पेन्सर के बाद विज्ञान के क्रमिक विकास विषयक ज्ञान में बहुत वृद्धि हुयी है, जिससे अत्यधिक विश्वास की उन धारणाओं का खण्डन होता है जिनके आधार पर स्पेन्सर ने मानव-समाज की समस्याओं को हल करने का हठपूर्ण प्रयास किया था।" स्पेन्सर समाज रूपी प्राणी के अनेक टुकड़े करता है। इसलिए बार्कर ने अपनी व्यंग्यात्मक भाषा में कहा है, "स्पेन्सर ने अपने सामाजिक प्राणी की हत्या कर उसे अनेक टुकड़ों में बाँटकर दरवाजे के बाहर फेंक देता है।" अनेक कमियों के बावजूद स्पेन्सर 19 वीं सदी के विकासवादी चिन्तन का प्रमुख दार्शनिक और वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का महान प्रवक्ता था। स्पेन्सर का अध्ययन गम्भीर और विशाल था। समन्वयवादी होने के कारण उसकी तुलना अरस्तु, हीगल और कॉम्टे से की जा सकती है। उदारवादी परम्परा में स्पेन्सर का महत्व विशेषतः इस बात में है कि उसने वैज्ञानिकों का आधार ग्रहण कर और राज्य की हिंसात्मक एवं पापात्मकता की ओर ध्यान आकर्षित कर उग्र व्यक्तिवाद का पोषण किया है। प्रारंभिक उदारवाद का संबंध मानवतवाद के साथ था, लेकिन स्पेन्सर ने उदारवाद को प्रकृतिवाद का वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इसी तरह प्राणिशास्त्र सम्मत उदारवाद का निर्माण हुआ।

स्पेन्सर के दर्शन के महत्व पर सेबाइन ने लिखा है कि, "अनेक त्रुटियों के बावजूद उसने सामाजिक-शास्त्रों के अध्ययन के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसने मानव विकास और जीव विज्ञान का संबंध स्थापित किया और इस प्रकार पुराने साहचर्यपरक मनोविज्ञान के रूढ़िवाद को समाप्त किया। उसने राजनीति और नीतिशास्त्र पर समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय अनुसंधान और इस तरह सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में विचार किया। संश्लिष्ट दर्शन का युग ई० बी० टीलर और एल० एच० मोर्गन के मौलिक तथा अधिक महत्वपूर्ण कार्य का युग भी था। मिल की भांति स्पेन्सर ने भी पूर्ववर्ती उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक अध्ययन के बौद्धिक पृथक्त्व को समाप्त कर उसे आधुनिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र का एक अंग बना दिया। इस रूप में कॉम्टे के दर्शन का भी बौद्धिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व था।"

स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए फ्लूगन; थसनहंसद्ध का कथन है- "स्पेन्सर एक महान विचारक था तथा जीवन के तथ्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी प्रबल आकांक्षा थी। डार्विन के समान वह प्रकृति के निकट सम्पर्क में नहीं रहा तथापि उसके विचारों की महानता और उत्कृष्टता की समता आज तक कोई नहीं कर सका है। यदि पाठक ध्यानपूर्वक उसके सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे तो निश्चय की उसकी महानता की छाप उन पर पड़े बिना नहीं रहेगी।

समकालीन समाज विज्ञान और राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत संरचनात्मक-कृत्यात्मक उपागम का निर्माण मुख्यतः स्पेन्सर के प्रतिरूप ;डवकमसद्ध के आधार पर किया गया है। परन्तु स्पेन्सर के राजनीतिक दृष्टिकोण को आज के युग में कहीं भी स्वीकार नहीं किया जाता हालांकि मिल्टन फ्रीडमैन के चिंतन में उसकी कुछ-कुछ अनुगुंज सुनाई देती है।

अभ्यास प्रश्न:-

प्र01. स्पेन्सर के सामाजिक विकास के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

प्र02. स्पेन्सर का विकासवादी सिद्धान्त क्या है? समझाइये।

प्र03. स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद सिद्धान्त समझाइये।

प्र04. स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न:-

प्र01. *Man Versus the State* किसकी रचना है?

(क) अगस्ट कॉम्टे (ख) हरबर्ट स्पेन्सर

(ग) साइमन (ख) हक्सले

प्र02. *Social Statics* का लेखक कौन है।

(क) लास्की (ख) ग्रीन (ग) बॉसाके (ख) स्पेन्सर

प्र03. सावयव सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रतिपादन किस व्यक्ति ने किया।

(क) हॉब्स (ख) कॉम्टे (ग) बेंथम (घ) स्पेन्सर

24.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप कॉम्टे के ज्ञान के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को समझ गये होंगे। कॉम्टे के विज्ञानों का श्रेणीतंत्र भी जान गये होंगे। कॉम्टे के समाज विज्ञान के स्वरूप को समझ गये होंगे। कॉम्टे का प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त भी जान सके होंगे। हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक विकास का सिद्धान्त क्या है जान गये होंगे। हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद को समझ गये होंगे। स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन भी समझ गये होंगे।

24.6 शब्दावली:-

धर्ममीमांसीय अवस्था	-	<i>Theological Stage</i>
तत्वमीमांसीय अवस्था	-	<i>Metaphysical Stage</i>
वैज्ञानिक-सकारात्मक अवस्था	-	<i>Scientific Positive Stage</i>
सामाजिक गतिविज्ञान	-	<i>Social Dynamics</i>
सामाजिक स्थिति विज्ञान	-	<i>Social Statics</i>
बौद्धिक अराजकतावाद	-	<i>Intellectual Anarchism</i>
सामाजिक विकासवाद	-	<i>Social Evolutionism</i>
योग्यतम की विजय	-	<i>Survival of fittest</i>
अहस्तक्षेप	-	<i>Laissez faire</i>
असंगत समरूपता	-	<i>Incoherent Homogeneity</i>
सुसंगत विषमरूपता	-	<i>Coherent Hetrogeneity</i>

24.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

24.3 के उत्तर -

1 . ग, 2 . घ, 3 . क

24.4 का के उत्तर -

1 . ख, 2 . घ, 3 . घ

24.8 संदर्भ ग्रन्थ:-

1. शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014
2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006
3. अविनेरी एस, प्राब्लम ऑफ वार इन हीगल्स थॉट, जर्नल ऑफ हिस्ट्री आइडिया, 1961
4. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2

24.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1. शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक)-अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013.
2. फोस्टर माइकेल, दि पॉलिटिकल फिलासफीज ऑफ प्लेटो एण्ड हीगल, न्यूयार्क रसैल, 1995.
3. Dunning- History of Polical Theories, Vol III.
4. Barker- Political Thought in England.
5. W. Lancaster: Masters of Political Thought, Vol III
6. Spencer: Social Statics, P 126-127
7. Barker: Political Thought in England, 1818 to 1914'

24.10 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. आगस्ट कॉम्टे के विकास की तीन अवस्थाओं पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
2. आगस्ट कॉम्टे का प्रत्यक्ष सरकार के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
3. हरबर्ट स्पेन्सर के विचार आधुनिक व्यक्तिवाद का आधार है, समझाइये।
4. स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद पर लेख लिखिए।
5. स्पेन्सर के दर्शन का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

इकाई 25 : कार्ल मार्क्स

इकाई की संरचना

- 25.1 प्रस्तावना
- 25.2 उद्देश्य
- 25.3 जीवन परिचय
- 25.4 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
- 25.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद
- 25.6 वर्ग संघर्ष
- 25.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
- 25.8 युवा मार्क्स
- 25.9 सारांश
- 25.10 शब्दावली
- 25.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 25.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 25.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 25.14 निबंधात्मक प्रश्न

25.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हम उपयोगितावादी विचारकों बेंथम और मिल के विचारों का अध्ययन कर चुके हैं। जिसमें हमें बेंथम ने उपयोगितावादी विचार में सुख की गडना मात्रात्मक आधार पर की है और राज्य का आधार उसकी आमजनमानस के लिए उसकी उपयोगिता बताया है। जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में सुधार करने के प्रयास में उसमें इतना बदलाव ला दिया कि मिल का उपयोगितावाद बेंथम के उपयोगितावाद का समर्थक नहीं बल्कि आलोचक बन जाता है। मिल को बेंथम तथा मिल ने उपयोगितावाद के समर्थक के रूप में तैयार किया। मिल ने, बेंथम द्वारा दी गई सुख की मात्रात्मक व्याख्या, को गुणात्मक व्याख्या की है।

इस इकाई में मार्क्स के राजनीतिक विचारों का विस्तार से अध्ययन करेंगे। इसमें हम द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का भी अध्ययन करेंगे। जिसमें यह देखेंगे कि किस तरह से समाज के विकास का आधार भौतिक शक्तियां हैं। जिसमें उत्पादन संरचना ऐसी है कि उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। जिससे समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट हो जाता है। और इसी पूंजीवादी व्यवस्था में ही इसके विनास के बीज निहित होते हैं। इसका भी अध्ययन इस इकाई में किया जाएगा।

25.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मार्क्स के --

1. राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में विस्तार से जान सकेंगे।
2. द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे।
3. ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे।
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत और वर्ग संघर्ष के बारे में जान सकेंगे।
5. यह भी जान सकेंगे कि वे कौन से कारक हैं जो अंततः सर्वाहार वर्ग को संगठित होकर क्रांति के लिए अग्रसर करते हैं।

25.3 जीवन परिचय

मार्क्स को एक ऐसे सिद्धांतकार के रूप में जाना जाता है जिससे समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या के तत्व को शामिल कराया। राजनीति विज्ञान में मार्क्स साम्यवादी विचारधारा को लाया तथा सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना के लिए उसने क्रांति का समर्थन किया। मार्क्स का जन्म 1818 में प्रसा के एक यहूदी परिवार में हुआ। बाद में परिवार ने इसाई धर्म को अपना लिया तथा मार्क्स धर्म से विमुख होने लगा। 1935 में मार्क्स विधि की पढ़ाई करने वॉन विश्वविद्यालय पहुँचा, पर 1936 में वह बर्लिन पहुँच गया जहाँ पहुँचकर वह हीगल के प्रभाव में आ गया। अपनी शिक्षा के बाद उसने पत्रकार का पेशा अपनाया तथा पेरिस आ पहुँचा जहाँ उसकी मुलाकात उस युग के समाजवादी विचारको से हुई। इनमें कैबेट, प्रूदों तथा ऐंजल्स आदि का नाम महत्वपूर्ण है। 1844 में मार्क्स ने Economic and Philosophical manuscript लिखा किन्तु यह पुस्तक छिपी रही तथा 1930 के दशक में ही विश्व को इसका पता चल सका। फ्रांस की 1848 की क्रांति के बाद मार्क्स को ऐंजल्स के साथ मिलकर साम्यवादियों के लिए घोषणापत्र लिखने का कार्य दिया गया तथा इन्होंने Communist Manifesto की रचना की। यही पुस्तक मार्क्स की ख्याति का आधार बनी। 1859 में मार्क्स ने Critic of Political Economy लिखा तथा 1868 में दास कैपिटल का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। 1883 में लंदन में मार्क्स की मृत्यु हो गई।

25.4 द्वंद्वत्मक भौतिकवाद

मार्क्स का मूल सिद्धान्त द्वंद्वत्मक भौतिकवाद का सिद्धांत है। मार्क्स ने द्वंद्ववाद का दृष्टिकोण हीगल से तथा भौतिकवाद का दृष्टिकोण फेयर बैक से ग्रहण किया है। इनही दोनों जर्मन विचारकों के प्रभाव को देखते हुए लेनिन के बाद में कहा कि मार्क्स पर जर्मन दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है। द्वंद्ववादी प्रक्रिया में यह माना जाता है कि अंतर्विरोध ही परिवर्तन का मूल कारण है। मार्क्स इस विचार को स्वीकार कर कहता है कि संघर्ष सभी परिवर्तनों के मूल में है। दूसरी ओर भौतिकवाद कहता है कि हमारे विचार भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं। मार्क्स इन दोनों विचारों अर्थात् द्वंद्ववाद एवं भौतिकवाद को मिला देता है। किन्तु इस परिवर्तन की पद्धति द्वंद्वत्मक होती है। किसी भी समाज में भौतिकता आर्थिक ढाँचे में निहित होती है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी भौतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए करता है। मनुष्य का उद्देश्य अपने भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है एवं इन्हीं आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए समाज की आर्थिक प्रक्रिया समाज का आधारभूत ढाँचा बनाती है। मार्क्स कहता है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना में दो ढाँचे निहित होते हैं आधारभूत ढाँचा एवं उपरी ढाँचा। आधार का निर्माण आर्थिक प्रक्रिया से होता है एवं राजनैतिक विधिक वैचारिक एवं दार्शनिक व्यवस्थाएं ऊपरी ढाँचे में निहित होती हैं। भौतिकवादी दृष्टिकोण के आधार पर मार्क्स कहता है कि चूंकि भौतिकता आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है इसलिए आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव ही सामाजिक बदलाव को निर्धारित करता है। एक समाज कि विचारधारा धर्म, राजनीति आदि वैसी ही होती है जैसी उस समाज की आर्थिक प्रक्रिया होती है। दूसरे शब्दों में जैसी उस समाज की उत्पादन रीति होती है वैसी ही समाज होता है। इन्हीं सन्दर्भों में मार्क्स ने कहा है कि राज्य की जड़ राजनीति में निहित न होकर आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है। हीगल के द्वंद्वत्मक आदर्शवाद को भौतिकवादी आधार से जोड़ देने के कारण ही मार्क्स ने कहा कि हीगल सर के बल खड़ा था मैंने उसे पाँव पर खड़ा कर दिया। यहाँ सर का तात्पर्य चेतना से एवं पैर का तात्पर्य भौतिकता से है।

समाज की आर्थिक प्रक्रिया का निर्धारण उत्पादन रीति से होता है। मार्क्स का कहना है कि उत्पादन रीति में होने वाला हर बदलाव समाज को विकास की ओर ले जाता है। समाज विकास के विभिन्न चरणों में आने वाले पड़ाव एक निश्चित उत्पादन रीति द्वारा ही निर्धारित होते हैं। मार्क्स कहता है कि हर आर्थिक सामाजिक संरचना एक

निश्चित उत्पादन रीति पर आधारित होती है। यदि सामंतवाद कृषक उत्पादन रीति पर आधारित था, तो पूंजीवाद औद्योगिक उत्पादन रीति पर आधारित होती है। प्रत्येक उत्पादन रीति के दो मार्ग होते हैं- उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्ति के भी दो भाग होते हैं- उत्पादन के साधन तथा मानव शक्ति। उत्पादन के साधन के भी दो भाग होते हैं- श्रम का साधन तथा श्रम की वस्तु। श्रम की वस्तु वह है जिस पर श्रम आरोपित होता है तथा श्रम का साधन वह है जिसकी सहायता से हम श्रम आरोपित करते हैं। यदि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरणों से स्पष्ट किया जाये तो हम देखते हैं कि सामन्तवादी आर्थिक सामाजिक संरचना में कृषक उत्पादन पद्धति निहित होती है। यहाँ उत्पादन सम्बन्ध सामान्तों व कृषकों के बीच का सम्बन्ध है। मानव शक्ति का तात्पर्य कृषकों की उत्पादन शक्ति है। श्रम की वस्तु भूमि है तथा श्रम का साधन हल है। मार्क्स कहता है कि इसी आर्थिक प्रक्रिया के बदलाव से समाज आता है। आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव अन्तर्विरोध के कारण है।

यह अन्तर्विरोध उत्पादन शक्ति एवं उत्पादन सम्बन्ध के बीच होता है। उत्पादन शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं पर उत्पादन सम्बन्ध नहीं बदलते, यही इस अन्तर्विरोध का कारण है। उत्पादन सम्बन्ध का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण दो प्रकार से सम्भव है- निजी अथवा सामूहिक निजी नियन्त्रण की स्थिति में उत्पादन सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित होते हैं। मार्क्स कहता है कि हर वर्ग विभाजित समाज में दो मूल वर्ग होते हैं एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है दूसरा वह जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इन वर्ग विभाजित समाजों में उत्पादन सम्बन्ध वर्ग हित में होते हैं। अर्थात् इनमें उस वर्ग का हित होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है यह वर्ग उत्पादन सम्बन्ध को नहीं बदलने देना चाहता है। मार्क्स की परिकल्पना कहती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास निरन्तर होता रहता है जबकि उत्पादन सम्बन्ध नहीं बदलते। उत्पादक शक्ति का हर बदलाव उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव की अपेक्षा करता है, परन्तु जब उत्पादन सम्बन्ध नहीं बदलते तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों में तनाव बनने लगता है एवं उत्पादक शक्तियों का विकास अवरूद्ध होने लगता है।

परन्तु चूँकि उत्पादन शक्तियों का विकास होना ही है तो एक निश्चित अवस्था के बाद जब उत्पादक शक्ति और विकसित नहीं हो सकती, क्रान्ति होती है तथा उत्पादक पद्धति बदल जाती है। इस नई उत्पादन पद्धति अथवा उत्पादन रीति में नये सम्बन्ध होते हैं एवं इन नये सम्बन्धों के तहत उत्पादक शक्तियों का विकास होने लगता है। लेकिन अगर उत्पादन सम्बन्ध अभी भी वर्ग हित में हो तो उत्पादक शक्तियों का विकास फिर अवरूद्ध होने लगता है एवं नए सिरे से क्रान्ति होती है, नई उत्पादन रीति बनती है एवं उत्पादक शक्तियाँ बढ़ती रहती हैं। बदलाव की यह प्रक्रिया इन्हीं अन्तर्विरोधी के फलस्वरूप आगे बढ़ती जाती है। तबतक जब तक कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित न हो जाए वर्ग विभाजन समाप्त न हो जाए एवं उत्पादक शक्तियों के विकास पर कोई प्रतिबन्ध न रहे। बदलाव की इस पद्धति में अन्तर्विरोधी में सामंजस्य एवं नए अन्तर्विरोधों का विकास अन्तर्निहित है। उत्पादन रीति में आने वाला बदलाव अगर वाद है तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों के बीच का तनाव प्रतिवाद है, नई आर्थिक सामाजिक संरचना का निर्माण संवाद है।

25.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद

द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद की इसी पद्धति को जब मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या के लिए प्रयोग किया तो ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामने आया। ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है। मार्क्स कहता है कि इतिहास भौतिक आधारों और मूलतः उत्पादन रीति में आने वाले परिवर्तन से निर्धारित होता है। इतिहास का यह विकास एक निश्चित रेखा पर समान गति से न हो कर विभिन्न चरणों में होता है।

प्रत्येक चरण एक निश्चित सामाजिक आर्थिक संरचना से बनता है जिसका एक निश्चित उत्पादन रीति होती है। मार्क्स के अनुसार इतिहास में ऐसे पाँच चरण आते हैं। इनमें से चार चरणों से हम गुजर चुके हैं एवं पाँचवा भविष्य में सामने आएगा। प्रथम चार चरण

1. आदिम साम्यवाद
2. दासमूलक समाज
3. सामन्तवाद एवं
4. पूँजीवाद से बनते हैं।

पाँचवाँ चरण साम्यवाद का होगा किन्तु उसके पहले समाजवादी का एक मध्यवर्ती चरण आएगा जो पूँजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण काल के दौर में दिखेगा।

प्रथम चरण जिसे मार्क्स आदिम साम्यवाद कहते हैं। एक वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन स्थिति थी। उत्पादक शक्तियों का विकास काफी कम हुआ था, जिसके कारण उत्पादन, उपभोग से कम था। जो भी उत्पादित होता था वह उपभोग में आ जाता था, जिसके कारण किसी अधिशेष की उपस्थिति नहीं थी। अधिशेष न होने से निजी सम्पत्ति की अवधारणा भी नहीं थी। समाज में समानता थी एवं वर्ग का अस्तित्व नहीं था। वर्ग न होने से वर्ग शोषण के उपकरण की जरूरत भी नहीं थी, इस प्रकार राज्य भी अनुपस्थित था क्योंकि राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर उत्पादक शक्तियों का निरन्तर विकास हो रहा था। इसी विकास क्रम में एक ऐसी स्थिति आई जब उत्पादन ने उपभोग के स्तर को प्राप्त कर लिया। अब अधिशेष का बचना सम्भव हो गया। इससे समाज वर्गों में बटने लगा। सम्पत्तिवान वर्ग को अपनी संपत्ति को बचाए रखने की चिंता थी अतः वर्ग शोषण के उपकरण राज्य का निर्माण किया गया।

इसी के साथ हम दासमूलक समाज में आ गए। यह समाज विकास की दूसरी अवस्था थी। इसमें वर्ग एवं राज्य दोनों का अस्तित्व था। उच्च वर्ग अर्थात् दास स्वामियों ने दासों को नियन्त्रित का प्रयोग किया। मार्क्स कहता है कि आगे के समाज विकास के चरण भी वर्ग विभाजित थे। सामन्तवाद में सामन्त और कृषक तथा पूँजीवाद में मजदूर समाज वर्ग के प्रमुख थे। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद का विकास स्वयं ही पूँजीवाद को विनाश की ओर ले जायेगा तथा क्रांति के पश्चात् सर्वहारा अधिनायकतंत्र स्थापित होगा। अब समाज एक संक्रमण काल से गुजरेगा जिसे मार्क्स पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच का मध्यवर्ती चरण बताता है तथा समाजवाद का नाम देता है। इसकी पहचान सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के रूप में इसलिए है क्योंकि यह भी एक शोषण परक व्यवस्था होगी। इसमें सर्वहारा अर्थात् बहुसंख्यक, पूँजीपति अथवा अल्पसंख्यक का शोषण करेगा। इसका लक्ष्य शोषण को बनाए रखना नहीं वरन् इसे समाप्त करना होगा। इसमें सामाजिक वितरण प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक को उसके योग्यता के अनुसार होगा। इसमें पूँजीवादी प्रवृत्तियों को धीरे-धीरे समाप्त का दिये जायेगा तथा धीरे-धीरे वर्ग विभाजन समाप्त हो जायेगा।

यही साम्यवाद का चरण होगा जिसमें न तो वर्ग की उपस्थिति होगी न वर्ग शोषण के उपकरण राज्य की। यह धर्म विहीन राज्यविहीन स्थिति होगी। इसमें सामाजिक वितरण का आधार होगा प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार यहाँ वर्ग विरोध न होने के कारण उत्पादक शक्तियों को रोकने

वाला उत्पादन संबंध नहीं होगा। उत्पादन के साधन सामूहिक स्वामित्व में होंगे तथा सम्बन्ध समानता के होंगे अतः उत्पादक शक्तियों एवम् उत्पादन संबंधों में तनाव उत्पन्न नहीं हो पाएगा। उत्पादन शक्ति के विकास के कारण उत्पादन इतना बढ़ जाएगा कि सबके आवश्यकता की पूर्ति करना संभव हो जायेगा। मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद अंततः नियतीवादी दृष्टिकोण बन जाता है। इसमें इतिहास की एक निश्चित रेखा निर्धारित कर दी गई है। हर समाज को इसी रेखा से होकर गुजरना है। मार्क्स कहता है कि एक विकसित राष्ट्र एक पिछड़े राष्ट्र को उसके भविष्य की तस्वीर दिखाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि एक ही रेखा पर सभी बढ़ रहे हैं। कोई थोड़ा आगे है तो कोई थोड़ा पीछे। इस प्रकार का नियतीवादी दृष्टिकोण मानवीय प्रयास की संभावना को ब्यर्थ बना देता है। मानव समुदाय अपनी इच्छा एवम् सोच से समाज के भविष्य का निर्धारण नहीं कर सकता है, पर मार्क्स के बाद के इतिहास को देखने पर हम पाते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। रूस से सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना का प्रयास जरूर हुआ पर इससे राज्य के समाप्ति के प्रयास की झलक नहीं मिली एवम् साम्यवादी विचार को नकारकर लोकतंत्र की स्थापना की गई इसके अतिरिक्त साम्यवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर भी सही नहीं ठहरता मानव मनोविज्ञान कहता है कि आवश्यकता को संतुष्टि संभव ही नहीं है।

25.6 वर्ग संघर्ष

मार्क्स कहता है कि अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। यह वर्ग संघर्ष इस कारण है कि वर्ग विभाजित समाज में शोषण अन्तर्निहित है। वर्ग का निर्धारण उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है जिनका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है वे समाज में शक्तिशाली होते हैं। मार्क्स का मानना है कि हर सामाजिक आर्थिक संरचना में जिसकी एक निश्चित उत्पादन रीति होती है एवं जो वर्ग विभाजित होता है। दो मूलवर्ग होते हैं। एक वह जिसका उत्पादन के साधन पर नियन्त्रण है तथा दूसरे वे जिनका नियन्त्रण नहीं होता है। इन दो के अलावा और भी वर्ग उपस्थित हो सकते हैं परन्तु यही दो मूलवर्ग होते हैं। इनका सम्बन्ध संघर्ष पूर्ण सम्बन्ध होता है क्योंकि एक शोषित होता है और दूसरा शोषण करने वाला होता है। एक शोषण पर ही दूसरे का हित टिका होता है। इस कारण इन दोनों वर्गों में संघर्ष अन्तर्निहित होता है। हर वर्ग विभाजित समाज में यह संघर्ष देखा जा सकता है। दासों व दासस्वामियों, सामान्तों एवं कृषकों तथा मजदूरों एवं पूँजीपतियों में यह संघर्ष विद्यमान रहा है। इस संघर्ष के दो परिणाम संभव हैं या तो शोषित वर्ग की विजय होगी या दोनों वर्ग समाप्त हो जायेंगे। शोषितों की विजय सम्भव नहीं क्योंकि ये अल्पसंख्यक हैं जीतना तो शोषितों को ही है। पर न तो दास जीत सके न कृषक पर सर्वहारा इस संघर्ष में विजय प्राप्त करेगा। दास मूलक समाज की समाप्ति पर न दास बचे न दास स्वामी एवं सामन्तवाद की समाप्ति पर सामन्त रहे न कृषक परन्तु पूँजीवाद की समाप्ति सर्वहारा की जीत के साथ होगी। ऐसा कारण होगा कि जहाँ दास एवं कृषक स्वयं में एक वर्ग थे वही सर्वहारा स्वयं के लिए एक वर्ग में बदल जाएगा।

स्वयं में एक वर्ग का तात्पर्य वर्ग चेतना की अनुपस्थिति से है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति अपनी वर्ग स्थिति को अपनी चेतना से नहीं जोड़ पाता और इस कारण वर्ग एकता का अभाव होता है। इस एकता के अभाव में वह अपनी निम्न एवं शोषित स्थिति का कारण नहीं समझ पाता। वह इन्हें व्यक्तिगत कारणों से जोड़ता है। सत्य का उसे पता नहीं होता। वह विचारधारा, धर्म आदि की मिथ्या चेतना से जुड़ा होता है। एकता की अनुपस्थिति ही उसे कमजोर बनाती है और इस कारण वर्ग संघर्ष में उसकी जीत की संभावना कम हो जाती है। ऐसा ही दासों एवं कृषकों के साथ हुआ परन्तु पूँजीवाद की स्थिति भिन्न है। इसने औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है। लाखों मजदूर एक साथ कार्य कर रहे हैं। इससे उन्हें एक दूसरे का आभास मिलता है। अपने शोषण एवं अपने सहयोगियों के शोषण की समानता को वह पहचान जाते हैं। वे एकताबद्ध होने लगते हैं और स्वयं में एक वर्ग से स्वयं के लिए एक

वर्ग में बदल जाते हैं। अब उन्हें अपनी वर्ग स्थिति एवं अपने वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका का अहसास हो जाता है। अपनी भूमिका की इसी स्वीकृति का परिणाम है क्रान्ति के फलस्वरूप सर्वहारा अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है एवं उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित कर दिया जाता है। इससे अधिशेष किसी एक वर्ग अथवा व्यक्ति के पास नहीं जाता। वर्ग विभाजन समाप्त होने लगता है और अन्ततः साम्यवाद में जाकर वर्ग की अवधारणा समाप्त हो जाती है। अन्तर मात्र इतना रहता है कि जहाँ आय दिन साम्यवाद में उत्पादन शक्तियों के कम विकसित होने एवं प्राकृतिक बंधनों के मजबूत होने के कारण मानव जीवन पर अनेक बंधन होते हैं वही साम्यवाद में आकर मानव प्राकृतिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसकी सभी आवश्यकताएँ संतुष्ट हो जाती हैं और वह विवशता के लोक से स्वतंत्रता के लोक में पहुँच जाता है। वह आत्मप्रेरित व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का वर्ग विभाजन इतिहास के एक निश्चित दौर का यथार्थ है। वर्ग न तो हमेशा से थे न ही हमेशा रहेंगे। ये इतिहास की एक निश्चित अवस्था में उत्पन्न हुए तथा इतिहास की एक निश्चित अवस्था में जाकर समाप्त हो जाएँगे। उत्पादक शक्तियों के विकास से जब उत्पादन उपभोग से अधिक हो गया तो इस अधिशेष ने वर्गों को उत्पन्न कर दिया एवं जब उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व हो जायेगा तो वर्ग समाप्त हो जायेंगे। पूर्ण समानता के इस समाज में ही वास्तविक स्वतन्त्रता निहित होगी।

वर्ग विभेद रहित समाज के इस स्वप्न ने पीढ़ियों तक लोगों को मार्क्सवादी विचार से जोड़ा है। पर यह दृष्टिकोण व्यावहारिक के पैमाने पर आलोचित भी होता रहा है। लोगों का कहना है कि हर समाज में श्रेणीक्रम निर्धारित हो जाते हैं। निश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वर्तमान समाज में सम्पत्ति असमानता का प्रमुख कारण है पर यह मानना मुश्किल है कि निजी सम्पत्ति की अनुपस्थिति वाले समाज में पूर्ण समानता आ जाएगी। इजराइल के किबुत्ज पर अध्ययन करने वाले लोगों ने भी कहा है कि पूर्ण समानता यहाँ भी नहीं है।

यहाँ मार्क्स ने जिस साम्यवादी स्थिति की बात की है उसमें राज्य को कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य विषयक अपने दृष्टिकोण में मार्क्स ने कहा है कि आधुनिक राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मार्क्स का कहना है कि राज्य का कार्यकारिणी पूँजीपतियों की समिति मात्र है। मार्क्स के सहयोगी ऐज़ल्स ने अपनी पुस्तक 'Origin of Family, Private Property and State' में लिखा है कि राज्य समाज विकास में एक निश्चित अवस्था का उत्पाद है। यह अवस्था वस्तुतः आदिम साम्यवाद से दासमूलक समाज में संक्रमण की आवस्था है। इस संक्रमण काल में जब अधिशेष की उपस्थिति के कारण वर्ग विभाजन प्रकट हो गया तो सम्पत्तिवान वर्ग को अपने हितों को बनाए रखने की चिंता हुई इस चिंता ने वर्ग शोषण के एक उपकरण को जन्म दिया। राज्य यही वर्ग शोषण का उपकरण है। इसकी सहायता से अमीर वर्ग अपना हित साधता है दासमूलक समाज में इस राज्य ने दासों को नियन्त्रित रखने में दास मालिकों की मदद की। सामतवाद में इसी प्रकार इसने सामंतों का और पूँजीवाद में पूँजीपतियों का साथ दिया। इसने शोषण से लोगों का ध्यान हटाने के लिए सहमति का भ्रम पैदा किया। इसके लिए इसने राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीयता आदि विचारधाराओं का प्रयोग किया। मार्क्स का मानना है कि विचारधारा सत्य का अहसास नहीं होने देती, यह एक प्रकार की मिथ्या चेतना है। यहाँ विचारधारण एवं सहमति आदि बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि मार्क्स के अनुसार पूँजीपति वर्ग सहमति पैदा कर अपना हित साधता है। सहमति के आधार पर शोषण का दृष्टिकोण तो आगे चलकर ग्राम्शी ने दिया। मार्क्स तो बल प्रयोग पर ही अपनी आस्था रखता है। मार्क्स का मानना है कि राज्य अपनी शक्ति के द्वारा पूँजीपति वर्ग की मदद करता है। इसका कार्य उस शोषण परक अनुबन्ध को लागू करना है जो मजदूर को पूँजीपति का गुलाम बना देता है मार्क्स का मानना है कि जब क्रान्ति के पश्चात सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र स्थापित होता है तब भी राज्य की शोषण परक भूमिका बनी रहती है। अब वह मजदूरों के हित में पूँजीपतियों का शोषण करता है। इस चरण में उत्पादन के साधनों पर जिस

सामाजिक स्वामित्व की बात होती है वह व्यवहारिक रूप में राज्य के स्वामित्व में ही रहता है। इस वस्तुतः मार्क्सवादी अवधारणा में राज्य की भूमिका तब तक बनी रहती है जब तक वर्ग विभाजन बना रहता है। इस अवधारणा के अनुसार जब साम्यवादी चरण में जाकर वर्ग विभेद समाप्त हो जाएगा तभी राज्य लुप्त हो जाएगा।

25.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से साम्यवाद की स्थापना का प्राथमिक बिन्दु सर्वहारा क्रान्ति है। मार्क्स कहता है कि दुनिया के मजदूर एकजुट होकर पूँजीवाद का नाश करेंगे किन्तु मार्क्स इसे मजदूरों की इच्छा पर नहीं छोड़ता वह इसे पूँजीवाद के विकास का स्वभाविक परिणाम बताता है। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद अपने ही अन्तर्विरोधों के तले टूटकर बिखर जाएगा। मार्क्सवादी विचार में पूँजीवाद की समाप्ति को शोषण की अनिवार्यता दिखाने का सिद्धांत अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत है। अतिरिक्त मूल्य का मार्क्स का यह सिद्धान्त रिकार्डों द्वारा प्रतिपादित मूल्य के श्रम सिद्धान्त से प्रभावित है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में 4 घंटे लगे तो इसकी कीमत उस वस्तु से दोगुनी होगी जिसके उत्पादन में 2 घंटे लगते हैं। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद की प्रक्रिया में जो कुछ भी मूल्य उत्पादित होता है वह मजदूर के द्वारा होता है। किन्तु मजदूर जितना श्रम करता है उतना मूल्य नहीं प्राप्त करता। उसे जितने घंटे का वेतन मिलता है उसके अतिरिक्त भी कुछ कार्य करना पड़ता है। इसी अतिरिक्त समय में किए गये कार्य द्वारा उत्पादित मूल्य से पूँजीपति का लाभ निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि मजदूर 10 घंटे कार्य करे तो उसे 7 घंटे का ही वेतन मिलता है। इस अतिरिक्त 3 घंटे में उत्पादित मूल्य को पूँजीपति अपने पास रख लेते हैं और यही उसका लाभ है। पूँजीपति का पूरा ढांचा और पूँजीपति का सम्पूर्ण लाभ इसी अतिरिक्त मूल्य के शोषण पर टिका हुआ है। इसमें मजदूर शोषित होता है क्योंकि वही मूल्य का उत्पादन करता है और पूँजीपति ही शोषक है क्योंकि वह बिना किसी योगदान के लाभ प्राप्त करता है।

मार्क्स कहता है कि पूँजीपति में अन्तर्विरोध निहित होता है। पूँजीपति अधिक ये अधिक लाभ की आशा करता है। इसलिए वह जिस अतिरिक्त मूल्य का शोषण करता है उसका पुनः पूँजी के रूप में निवेश करता है। इसके द्वारा नये मजदूरों को काम पर लगाया जाता है जो और अधिक कार्य कर अधिक मूल्य एवं अन्ततः अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करते हैं। इस प्रक्रिया में उत्पादन में वृद्धि होती है। दूसरी ओर पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ पूँजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा भी बढ़ती जाती है। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप पूँजीपति का लाभ घटता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा का परिणाम कीमतों का कम होना है। लाभ के कम न होने देने के लिए मजदूरों का शोषण बढ़ा देते हैं। इससे मजदूरों की स्थिति खराब होती जाती है। समाज में वर्ग विभाजन भी स्पष्ट हो रहा होता है। अतः एक ऐसी स्थिति आती है जब अधिसंख्यक जनता मजदूर बन चुकी होती है। पूँजीपति अपना लाभ समाप्त नहीं कर सकता अतः स्वाभाविक रूप से मजदूर गरीब होते जाते हैं और मजदूरों की बढ़ती संख्या अन्ततः सम्पूर्ण समाज को गरीब बना देती है। मार्क्स इसे सर्वहाराकरण की प्रक्रिया कहता है। पूँजीवाद प्रगति करते हुए अतिउत्पादन की स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति से उद्योग धन्धे होने लगते हैं क्योंकि और उत्पादन की जरूरत ही नहीं रह जाती अब मजदूर बेकार होने लगते ऐसी स्थिति में मजदूरों के पास क्रान्ति में अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। इस प्रकार मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पूँजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। अतः मजदूर क्रान्ति को सफल ही होना है। पूँजीपति अपना लाभ नहीं छोड़ सकता क्योंकि उत्पादन के साधन को खड़ा करने में उसकी पूँजी लगती है वह शोषण भी नहीं छोड़ सकता क्योंकि यही शोषण उसके लाभ का आधार है। मार्क्स यह बताना चाहता है कि मजदूर क्रान्ति पूँजीवाद का ही परिणाम है न कि मजदूरों की इच्छा का पूँजीवाद के शोषण की इस अनिवार्यता का आधार उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व है। इसी

आधार पर मार्क्स यह कहता है कि साम्यवाद में शोषण को अनुपस्थिति होगी, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होगा।

मार्क्स पर फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव जैसा कि लेनिन ने कहा है मार्क्स के विचारों पर प्रारंभिक फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव भी देखा जा सकता है। फ्रांस में 1789 की क्रान्ति के बाद से ही समाजवादी विचारों की उत्पत्ति होने लगी थी। फ्रांसीसी क्रान्ति में स्वतन्त्रता समानता और बंधुत्व का नारा दिया गया था। पर जिस प्रकार यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति को लागू किया गया उसने इन मांगों को शब्द मात्र बनाकर छोड़ दिया। औद्योगिक क्रान्ति के साथ साथ वे सभी बुराइयाँ भी सामने आती गईं जिन्हें इसके साथ जोड़ा जाता है। औद्योगिकरण ने अमीरों तथा गरीबों के बीच की खाई को बढ़ाया। इसी के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवादी विचारों का जन्म हुआ। मार्क्स पेरिस में अपने प्रवास के दौरान इन विचारों के संपर्क में आया। सेंट साईमन, चार्ल्स फूरिए तथा एटियाने कैबेट जैसे प्रारंभिक समाजवादियों तथा प्रूदों जैसे सामाजिक अराजकतावादियों के प्रभाव के कारण मार्क्स ने यह मानना शुरू कर दिया कि सामाजिक समस्याओं की वजह पूँजीवाद स्वयं है। पूँजीवाद में शोषण अतंर्निहित है। यूरोप के इन समाजवादियों ने यह माना कि औद्योगिक समाज के आगमन से समाज में कई प्रकार की समस्याएँ सामने आईं। सामाजिक समस्याओं को इस नजर से देखने की प्रेरणा मार्क्स ने उन्हीं से पाई। हालाँकि मार्क्स ने उन लोगों की तरह यह नहीं माना कि पूँजीपतियों को प्रेरणा देकर पूँजीवाद की समस्या का समाधान हो सकता है। पर यह भी सच है कि उन्हीं की प्रेरणा से मार्क्स ने इन समस्याओं को पहचानना शुरू किया। यह अलग बात है कि मार्क्स ने समाधान अलग दिया। वर्ग की अवधारण भी मार्क्स ने इन्हीं फ्रांसीसी समाजवादियों से प्राप्त की तथा सामाजिक समानता का विचार भी मार्क्स ने उन्हीं से प्राप्त किया।

25.8 युवा मार्क्स

मार्क्स को विश्व ने 1848 में प्रकाशित कम्युनिष्ट मैनिफेस्टों से जाना। वर्गक संघर्ष तथा सर्वहारा क्रान्ति के विचार ही मार्क्स की पहचान का आधार बने। हालाँकि 1844 में ही मार्क्स ने एक पुस्तक के लेखन का प्रयास किया था पर यह पुस्तक छप नहीं पाई तथा 1920 के दशक तक विश्व को इस पुस्तक की जानकारी नहीं थी। यह मूलतः जर्मन भाषा में थी तथा 30 के दशक के प्रारंभ में इसे अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित किया गया तथा *Economic and Philosophical Manuscript of 1844* नाम दिया गया। इस पुस्तक में दिए गए विचार *Communist manifesto* एवं बाद की पुस्तकों में दिए गये विचारों से काफी भिन्न थे। इस दौर में मार्क्स कुछ हद तक आदर्शवादी था। युवावस्था के कारण उसमें व्यवहारिक अनुभव की कुछ कमी थी। वह दर्शन तथा हीगल के विचारों से प्रभावित था। इस दौर के मार्क्स के विचारों को देखकर उसे क्रान्तिकारी कहने की अपेक्षा मानवतावादी कहना अधिक उचित होगा। यह मार्क्स उस मार्क्स से काफी भिन्न था जिसे अब तक विश्व ने जाना था अतः इसे तरुण मार्क्स का नाम दिया गया। तरुण मार्क्स मानव स्वतन्त्रता की बात करता है। यह महसूस करता है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई किन्तु यह इसका कारण किसी वर्ग विभेद में नहीं ढूँढता। यह मानना है कि पूँजीवाद के कारण मनुष्य अलगाव की एक प्रक्रिया से गुजर रहा है तथा यह अलगाव ही मनुष्य की स्वतंत्रता का नाश करता है। अलगाव की यह प्रक्रिया चार स्तरों पर चलती है।

1. उत्पादन के स्तर पर
2. प्रकृति के स्तर पर

3. समाज के स्तर पर

4. स्वयं के स्तर पर

1. उत्पादन के स्तर पर मनुष्य का अलगाव उत्पादन प्रक्रिया से उसे अलग कर देता है। पूँजीवाद में उत्पादन केन्द्रीकृत होता है एवं श्रम का विभाजन कर दिया जाता है यहाँ उत्पादन कई लोगों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम होता है। जबकि पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की सहायता से करता था। तथा एक वस्तु का उत्पादन एक कामगार स्वयं एवं अपने परिवार के दूसरे सदस्यों की सहायता से करता था। उत्पादन की सम्पूर्णता से जुड़ा होने के कारण उसे रचनात्मक सन्तुष्टि मिलती थी किन्तु पूँजीवाद में श्रम विभाजन के कारण यह उत्पादित वस्तु का एक छोटा सा हिस्सा ही बना पाता है, अतः रचनात्मक सन्तुष्टि का अनुभव नहीं कर पाता। दूसरी ओर पूँजीवाद के पहले उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए होता था, अतः एक मजदूर उत्पादित वस्तु को अपने आस-पास ही पाता था लेकिन पूँजीवाद में उत्पादित वस्तु दूर दूर तक जाती है। इन सभी कारणों से मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया और अपने उत्पाद से अलग हो जाता है।

2. प्रकृति के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद में मनुष्य एक कृत्रिम वातावरण में कार्य करता है। चार दीवारों और एक छत के नीचे कैद इस व्यक्ति को यह पता नहीं होता कि बाहर क्या हो रहा है। पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के पहले की स्थितियों में मनुष्य प्रकृति गोद में कार्य करता था। वह खुली हवा में सांस ले सकता था, वृक्षों की छांव में आराम कर सकता था। लेकिन पूँजीवाद ने उसे प्रकृति से अलग कर दिया।

3. समाज के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद प्रतिस्पर्धा पर टिका है। यहाँ एक कामगार दूसरे कामगार से प्रतिस्पर्धा करता है। पहले इनके बीच सहयोग था। सभी अपने समुदाय से जुड़े थे। जब कोई एक व्यक्ति बीमार हो जाता था तो दूसरे उसकी मदद करते थे। पर पूँजीवाद में यदि एक मजदूर बीमार होता है तो दूसरा मजदूर उसकी मदद करने की जगह उसकी नौकरी छीनने में लग जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य का स्वार्थ उसे समाज से अलग कर देता है।

4. स्वयं से अलगाव - मार्क्स कहता है कि उत्पादन प्रक्रिया समाज प्रकृति आदि से अलगाव के कारण मनुष्य के भीतर एक पाप बोध घर करने लगता है यह पाप बोध उसे अलगाव के उच्चतम स्तर तक ले जाता है और वह स्वयं से अलग हो जाता है।

तरुण मार्क्स की मुख्य समस्या मनुष्य का यही परायापन अथवा अलगाव है। किन्तु इस मार्क्स के पास इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। वह कहता है कि प्रतिस्पर्धा को हटाकर सहयोग को अपनाया जाना चाहिए, कृत्रिमता को हटाकर प्राकृतिक वातावरण में लौटना चाहिए। किन्तु यह कैसे होगा यह स्पष्ट नहीं है। इन्हीं कारणों से तरुण मार्क्स आदर्शवादी प्रतीत होता है, किन्तु यह भी सच है कि बीसवीं सदी के मार्क्सवादियों को जिनमें नवमार्क्सवादियों का प्रमुख स्थान है, अगर मार्क्स की किसी एक पुस्तक ने सर्वाधिक प्रभावित किया तो वह यही पुस्तक है।

अभ्यास प्रश्न

1. फ्रांस में की क्रान्ति किस सन में हुई ?
2. दुनिया के मजदूर एकजुट होकर किसने नारा दिया है ?
3. अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है किसने कहा है ?
4. मार्क्स की मृत्यु कहाँ हुई थी ?

5. मार्क्स को प्रसिद्धि दिलाने में किस पुस्तक का योगदान प्रमुख है ?

25.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हम यह समझ सकते हैं कि मार्क्स ऐसे सिद्धान्तकार के रूप में जाना जाता है जिसने समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। इसके पहले सामाजिक व्याख्या के लिए धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि पद्धतियों का सहारा लिया जाता था। मार्क्स कहता है कि एक समाज वैसा ही होता है जैसी उसकी उत्पादन रीति होती है। यह जरूर कहा जाता है कि आर्थिक तत्वों पर हद से अधिक बल देकर मार्क्स का सिद्धान्त एक पक्षीय हो जाता है किन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए, कि विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में आर्थिक प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण स्थान है और इसे महत्वपूर्ण बनाकर मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या को समुन्नत ही बनाया है। दूसरी ओर मार्क्स पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का उसका सिद्धान्त नियतिवाद को बढ़ावा देता है एवं मानव चेतना तथा मानव इच्छा के महत्व को शून्य कर देता है। कुछ हद तक मार्क्स में नियतिवाद का आभाष मिलता है इसे माना जाना चाहिए, किन्तु दूसरी ओर समतामूलक समाज की स्थापना एवं शोषण रहित समाज का स्वप्न देकर मार्क्स ने मानवतावाद को बढ़ावा ही दिया विशेष रूप से युवा मार्क्स के विचारों में इस मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

मार्क्स ने आने वाले समाज के सन्दर्भ में जो अपेक्षाएं रखीं थी, उसे इतिहास ने गलत सिद्ध कर दिया। मार्क्स के अनुसार क्रान्ति ब्रिटेन में होनी थी किन्तु रूस में जाकर हुयी। चीन में तो क्रान्ति की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी, जबकि ऐसा हुआ। माओ ने एक कृषक समाज में क्रान्ति की संभावना को सच कर दिखाया। अतः भविष्य के सन्दर्भ में मार्क्स के अनुमान गलत ही सिद्ध हुए। मार्क्स ने यह भी कहा था कि लोकतान्त्रिक माध्यम से समाज में बदलाव नहीं लाए जा सकते किन्तु 20वीं सदी में लोकतन्त्र की सर्वस्वीकृति एवं कल्याणकारी राज्य के हमारे अनुभव ने इस बात को गलत ही सिद्ध किया। सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र के संदर्भ में मार्क्स का विचार भी पूरे विश्व में आलोचना का पात्र रहा है। टाटस्की ने यह कहा था कि सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र जो लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर आधारित है अन्ततः तानाशाही में ही बदल जाता है। रूस के अनुभव एवं स्टालिन की कार्य पद्धति इस बात को सही सिद्ध करती है। सामाजिक शक्ति के सन्दर्भ में भी मार्क्स का विचार आलोचना का पात्र बनता रहा है। मार्क्स ने यह कहा था कि किसी समाज में वही शक्तिशाली होता है जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है। किन्तु मैक्स वेबर ने अपने सिद्धान्तों में यह साबित किया कि आर्थिक शक्ति सामाजिक शक्ति का केवल एक भाग है। सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति भी एक व्यक्ति को शक्तिशाली बना सकते हैं। राज्य के वर्ग चरित्र के संदर्भ में मार्क्स का विचार भी विवादों में रहा है। लूई बोनापार्ट के शासन के विषय में मार्क्स ने स्वतः यह माना था कि यह शासन वर्ग निरपक्ष था। यदि राज्य वर्ग शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो ऐसा कैसे सम्भव था। भारतीय राज्य के सन्दर्भ में हमजा अलवी तथा अनुपम सेन का अध्ययन भी इसे वर्ग घोषित करता है। अगर मार्क्स के विचारों पर उठने वाले विवादों को देखा जाए तो हम पाते हैं कि मार्क्स के बाद आने वाले हंस सिद्धान्तकार ने मार्क्स की कुछ न कुछ बातों को नकारा तो साथ ही कुछ न कुछ नया जोड़ा भी। अतः मार्क्स की आलोचना के पर्याप्त बिन्दु मिल ही जाते हैं। पर मार्क्स का महत्व इस बात में है कि एक ऐसे समाज में जहाँ शोषण था, भेदभाव था, इसने लोगों को समता मूलक समाज का स्वप्न दिया तथा पीढ़ियों को सामाजिक बदलाव के लिए प्रेरित किया यह कमोबेश मार्क्स का ही दबाव था जिसके कारण उदारवाद को अपना रास्ता बदलना पड़ा तथा नकारात्मक से सकारात्मक स्वरूप में आना पड़ा। हाँलाकि कार्ल पॉवर ने मुक्त समाज के दुश्मनों में मार्क्स को भी

रखा पर मार्क्स का सिद्धान्त तो वास्तविक स्वतंत्रता की ही तलाश कर रहा था। औद्योगिक पूँजीवाद की सभ्यता से स्वतंत्रता की अनुपस्थिति को ही मार्क्स दूर करना चाहता था। वास्तविक स्वतंत्रता की इसी आशा ने पीढ़ियों को मार्क्सवादी चेतना में प्रशिक्षित किया।

25.10 शब्दावली

परायापन अथवा अलगाव- किसी व्यक्ति के द्वारा अपने समाज,समूह, कार्यस्थल, अपने श्रम के उत्पाद और अंततः स्वयं से सम्बन्ध का न होना |

सर्वहारा – उत्पादन के स्वामियों के अतिरिक्त अन्य सभी सामूहिक रूप से |

ऐतिहासिक भौतिकवाद - ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है

25.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1789
2. मार्क्स
3. मार्क्स
4. लंदन में
5. Communist Manifesto

25.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओपी० गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996
2. आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के० नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95
3. राजनीति कोश- डॉ० सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998
4. राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओपी० गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001
5. राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओपी० गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

25.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – पी.डी. शर्मा
2. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – जीवन मेहता

25.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के द्विधात्मक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिये |
2. मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की विवेचना कीजिये |
3. मार्क्स के वर्ग संघर्ष संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये |